

**TEXT FLY
WITHIN THE
BOOK ONLY**

**PAGES
PROBLEM WITH
IN THE BOOK
ONLY**

**TEXT PROBLEM
WITHIN THE
BOOK ONLY**

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182964

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—707—25-4-81—10,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. 481
D48S

Accession No. PG. 14524

Author शर्मा, टीकाशङ्क तथा शर्मा, सुशीला .

Title उर्वशी : संवेदना और शिल्प .

This book should be returned on or before the date last marked below

क्रम

- ६ : दिनकर : जीवन-वृत्त और व्यक्तित्व
३७ : उर्वशी का कथानक और उसकी ऐतिहासिकता
६६ : ~~उर्वशी~~ में प्रेम-दर्शन ✓
१०० : ~~उर्वशी~~ में नारी-भावना ✓
१२२ : ~~उर्वशी~~ में प्रकृति-चित्रण
१४४ : ~~उर्वशी~~ का काव्य-रस
१६३ : ~~उर्वशी~~ काव्य में चरित्र-चित्रण
१८६ : उर्वशी में भाषा-सौष्ठव एवं शिल्प
२१७ : परिशिष्ट

१

‘दिनकर’ : जीवन-वृत्त और व्यक्तित्व

“उर्वशी, अपने समय का सूर्य हूँ मैं !”

२४ अप्रैल, १९७४ को ‘दिनकर’ जी का मद्रास के एक अस्पताल में देहान्त हो गया। उस दिन अक्षय-तृतीया आरम्भ हो गई थी—‘यश अक्षय, शरीर क्षय’। उसी दिन परशुराम-जयन्ती थी। ‘परशुराम की प्रतीक्षा’ के लेखक की शायद भगवान् परशुराम कही प्रतीक्षा में थे। उनका देहावसान कोई साधारण घटना नहीं थी। लगभग अर्ध शताब्दी तक देश के हृदय की वाणी को गुंजाते रहने वाले कवि का देहान्त ऐतिहासिक घटना है। शेक्सपीयर-कृत ‘ऐण्टनी और क्लियोपेट्रा’ में ऐण्टनी की मृत्यु के समाचार को सुनकर उसका प्रतिद्वन्दी आक्टवियस सीजर कहता है—

The breaking of so great a thing should make a greater crack:
The round world should have Shook lions into civil street
and citizens to their dens. The death of Antony is not a single
doom; in the name lay a moiety of the world.

(Act v, Sc. I)

कुछ ऐसा ही ‘दिनकर’ जी की मृत्यु के सम्बन्ध में कहा जा सकता है।

‘दिनकर’ जी बिहार प्रदेश के सिमरिया नामक गाँव में ३० सितम्बर, १९०८ को जन्मे थे। इनके पिता श्री रविसिंह जी एक कुलीन कृषक परिवार के सदस्य थे। पिता के नाम के कारण ही उन्होंने अपना उपनाम ‘दिनकर’ रखा था। माता का नाम था श्रीमतिमनरूप देवी। ‘दिनकर’ जी के दो और भाई हैं—बड़े भाई बसन्त सिंह और छोटे भाई सत्यनारायण सिंह। उनका स्वयं का वास्तविक नाम रामधारी सिंह है। श्री ‘नवीन’ जी उन्हें सदैव ही प्रेम से ‘रामधारी’ कहकर पुकारते थे। ‘दिनकर’ उन अभागे बच्चों में थे जिनके सिर से पिता का साया बचपन में पदार्पण करने से पूर्व ही

उठ जाता है। दो वर्ष की आयु भी न थी जब 'दिनकर' जी के पिता अकाल-मृत्यु को प्राप्त हुए। इस प्रकार के दुर्भाग्य का एक लाभ भी होता है। बचपन से ही भावुकता अधिक आ जाती है और यह संवेदनशीलता ही कविता की आत्मा है। भारतीय माँ पर तो यह वज्राघात होता है और 'दिनकर' जी की विधवा माँ पर तीन पुत्रों के भरण-पोषण का भार आ पड़ा। उन्होंने अपनी समस्त पूँजी बेचकर पुत्रों की, विशेषकर 'दिनकर' की, शिक्षा पर लगा दी।

'दिनकर' ने अपनी शिक्षा का आरम्भ एक संस्कृतज्ञ पण्डित के चरणों में बैठकर किया। १९२० में प्राथमिक परीक्षा गाँव की पाठशाला से पास कर, आगे की पढ़ाई हेतु बागो ग्राम में एक राष्ट्रीय मिडिल स्कूल में प्रवेश लिया। यह स्कूल असहयोग-आन्दोलन के दिनों में प्रारम्भ हुआ था और इसका उद्देश्य छात्रों में राष्ट्रीय भावना की जागृति करना था। यहाँ के छात्र असहयोग-आन्दोलन के सम्बन्ध में कार्य करते थे। अतः प्रारम्भ से ही 'दिनकर' को साम्प्रदायिक एकता, राष्ट्रीयता, जातीय सद्भावना, उत्साह और कर्मठता का पाठ पढ़ने को मिला। यही उन्होंने उर्दू भाषा भी सीखी और आगे चलकर उर्दू-साहित्य से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया। इससे उनकी कविता में सौन्दर्य की वृद्धि हुई।

राष्ट्रीय मिडिल स्कूल में शिक्षा प्राप्त करने का 'दिनकर' को दण्ड भी भोगना पड़ा। सरकारी स्कूल से मिडिल पास न होने के कारण उन्हें सरकारी हाई स्कूल में प्रवेश न मिल सका। इस कारण एक वर्ष वे सरकारी मिडिल स्कूल में पढ़े और तत्पश्चात् आगे की पढ़ाई जारी रखने के लिए वे मुकामाघाट हाई स्कूल में प्रविष्ट हुए। १९२८ में मुकामाघाट से मैट्रिक की परीक्षा पास करने के बाद उन्होंने पटना-कालिज में चार साल तक शिक्षा प्राप्त की। यहाँ शिक्षा प्राप्त करते समय वे उच्च कोटि के साहित्यकारों—श्री रामवृक्ष बेनीपुरी, श्री गंगाशरण सिंह, श्री राहुल सांकृत्यायन तथा डा० काशीप्रसाद जायसवाल आदि—के सम्पर्क में आये, जिनका उनकी कविता तथा चिन्तन पर बहुत प्रभाव पड़ा। इन विद्वानों के जीवन और कृतियों के विषय में 'दिनकर' जी ने 'संस्मरण और श्रद्धांजलियाँ' नामक पुस्तक में विद्वत्तापूर्ण लेख लिखे हैं।

बी० ए० की परीक्षा ऑनर्स के साथ उत्तीर्ण करने के पश्चात् 'दिनकर' जी के समक्ष परिवार के भरण-पोषण की समस्या खड़ी हो गई। उनकी आयु जब १९-२० वर्ष के लगभग थी तब उनके ज्येष्ठ पुत्र श्री रामसेवक सिंह का जन्म हो चुका था। निर्धन कृषक-परिवार के होने के कारण अच्छी नौकरी मिलना कठिन कार्य था। बिहार उन दिनों जमींदारों के प्रभाव में था और ये जमींदार इतने उदार नहीं थे कि साधारण किसान के प्रतिभाशाली पुत्र को अच्छी नौकरी दिलाने की कोशिश करते। घर की सारी पूँजी उन की शिक्षा पर समाप्त हो चुकी थी और समस्त परिवार के समक्ष एक विराट् आर्थिक संकट था। 'दिनकर' जी को बेकारी के कई मास बिताने पड़े और इन दिनों परिवार की हालत बहुत खराब हो गई। कोई भी व्यक्ति आज उस आर्थिक विषमता की कल्पना नहीं कर सकता, जिसका शिकार प्रायः एक साधारण

ऋषक-परिवार इस शताब्दी के पूर्वार्द्ध में होता था। ‘दिनकर’ जी इन्हीं आर्थिक मज-बूरियों में पले, पड़े और बड़े हुए।

जब वह आर्थिक विषमता के जटिल दौर से गुजर रहे थे तब उनके जीवन का संघर्षपूर्ण समय प्रारम्भ हुआ। एक ओर परिवार की कठिनाइयों के कारण उनकी व्यावहारिक बुद्धि उन्हें व्यवस्थित जीवन व्यतीत करने के लिए प्रेरित करती थी तो दूसरी ओर, अंग्रेज शासकों की क्रूरता से समस्त देश घोर संकट में था जिसके कारण कभी-कभी वे अपनी वैयक्तिक अनुभूतियों को पीछे धकेल कर समष्टिगत कर्तव्य-भावना के वशीभूत होकर स्वतन्त्रता-संग्राम में कूद पड़ने को उद्यत होते थे। अन्ततो-गत्वा विवश होकर उन्हें एक हाईस्कूल में हैडमास्टर का पद स्वीकार करना पड़ा, जिसमें उन्हें ५५ रु० प्रतिमाह वेतन मिलता था। किन्तु इस पद पर वे अधिक दिन कार्य न कर सकें। स्कूल के प्रेजिडेंट और मन्त्री बड़े-बड़े जमीदार थे और वे ‘दिनकर’ के प्रतिभावान् व्यक्तित्व को दबाकर रखने में असमर्थ थे। ‘दिनकर’ जी इस प्रकार के परतन्त्र जीवन को और अधिक सहन करने को तैयार न थे। अतः इस नौकरी को छोड़कर उन्होंने एक सरकारी नौकरी स्वीकार कर ली। जब वह सरकारी नौकरी में जा रहे थे, उस समय श्री रामवृक्ष बेनीपुरी ने बहुत समझाया कि वह ऐसा न करें, किन्तु ‘दिनकर’ जी अपने निश्चय को न बदल सके। सुप्रसिद्ध किमान-नेता स्वामी सहजानन्द सरस्वती ने भी ‘दिनकर’ जी को सरकारी नौकरी में जाने से रोकने का प्रयास किया किन्तु ‘दिनकर’ जी ने स्वामी जी को उत्तर दिया, “प्राइवेट नौकरी में जितनी अधीनता है, उतनी सरकारी नौकरी में नहीं।” इस पर स्वामी जी ने कहा, “लगता है, तुम्हारी कविता वाली नब्ब बहुत तेज हो गई है, तो जाओ, जहाँ कम आधीनता मिले, वही रहो, लेकिन पछताओगे।” इन परिस्थितियों में ‘दिनकर’ जी ने ५० रु० माहवार पर राजकीय सेवा में सब-रजिस्ट्रार के रूप में प्रवेश किया। अक्टू-बर, १९३४ से सितम्बर, १९४३ तक वे सब-रजिस्ट्रार के पद पर कार्य करते रहे।

किन्तु एक कर्मठ और संघर्ष करके आगे बढ़ने वाले व्यक्ति का जीवन कभी सरल मार्ग से नहीं चलता है। कभी उसे यदि उच्च शिखरों पर, कण्टकाकीर्ण मार्ग से गुजर कर चढ़ने में सफलता मिलती है, तो कभी अनायाम ही परिस्थितियों की प्रतिकूलता के कारण वह नीचे गहरे गर्त में आ गिरता है। सफलता और असफलता, यश और अपयश की आँख-मिचौनी के बीच ही सच्चा मनुष्य निखरता है। ‘दिनकर’ जी द्वारा जीवन के सब-रजिस्ट्रार के रूप में बिताये हुए ९ वर्ष इसी प्रकार के उतार-चढ़ाव के वर्ष थे। ये वर्ष बहुत ही महत्वपूर्ण थे। ‘रेणुका’, ‘हुंकार’, ‘रसवन्ती’ तथा ‘द्वन्द्वगीत’ इसी समय की रचनाएँ हैं। ‘कुरुक्षेत्र’ का आरम्भ भी इसी समय हुआ।

इन नौ वर्षों में आरम्भ के चार-पाँच वर्ष भयानक संघर्ष के रहे। राष्ट्रीय और राजनैतिक कविताएँ लिखने के कारण अंग्रेज सरकार इन्हें विद्रोही समझती थी। परिणामस्वरूप १९३४ से १९३९ तक के मध्य उनका तबादला २२ बार किया गया। ‘दिनकर’ जी एक प्रकार से इन दिनों को अपना सबसे अच्छा समय मानते हैं। उनका

कथन है कि उनकी नियुक्ति अधिकतर गांवों में होती थी। ट्रांजिट छुट्टियाँ मिलती थी, काम भी कम करना पड़ता था, इस कारण इन दिनों उन्होंने खूब कविताएँ लिखी। सरकारी नौकरी में रहते हुए भी उन्होंने राष्ट्रीय जागरण और विद्रोह की कविताएँ लिखी। सासारिक बन्धनों के कारण वह नौकरी छोड़ नहीं पाये। वास्तव में अंग्रेज सरकार उन्हें नौकरी देकर पछता रही थी। वह उनको निकालना चाहती थी। किन्तु 'दिनकर' जी के मित्र विशेषतः श्री जयप्रकाश नारायण की सलाह थी कि वह स्वयं नौकरी न छोड़ें। यदि सरकार उन्हें हटा दे तो अच्छा होगा। किन्तु सरकार ने उन्हें हटाया नहीं और उन्होंने स्वयं नौकरी छोड़ी नहीं।

द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ होते ही सरकार ने उन्हें प्रचार-विभाग में भेज दिया। इन दिनों वे एक बार फिर मानसिक द्वन्द्व के शिकार हुए। उनके लिए यह कार्य कठिन था कि वे अंग्रेज सरकार की युद्ध-नीति का समर्थन करते। परन्तु रूस के युद्ध में कूद जाने के पश्चात् उन्हें युद्ध के समर्थन का बहाना मिल गया। इसी का सहारा लेकर वे युद्ध-गीत गाते रहे। इतने पर भी वह बातचीत में तो युद्ध का समर्थन करते थे, किन्तु कविताओं, सरकार के विरुद्ध लिखते थे। भाग्य से दोनों ही प्रकार से वह सफल रहे।

'दिनकर' जी के हृदय का यह द्वन्द्व 'सामधेनी' की एक कविता में अपने पूर्ण वेग के साथ प्रकट हो गया है। एक ओर जीवन का नग्न यथार्थ, दूसरी ओर अन्तः-करण की विद्रोह-वृत्ति, इन दो के बीच घटते हुए उनके हृदय का बड़ा सजीव वर्णन निम्न पक्तियों में मिलता है—

ओ अशेष ! निःशेष बीन का एक तार था मैं ही,
स्वर्भू की सम्मिलित गिरा का एक द्वार था मैं ही !

तब क्यों बांध रखा कारा में ?
कूद अभय उत्तुंग शृंग से
बहने दिया नहीं धारा में
लहरों की खा चोट गरजता,
कभी शिलाओं से टकरा कर
अहंकार प्राणों में बजता !

तब क्यों दह्यमान यह जीवन
चढ़ न सका मन्दिर में अब तक
बन सहस्र - वर्तिक नीराजन
देख रहा मैं वेदि तुम्हारी
कुछाँटिमटिम, कुछ-कुछ अधियारी

मुझमें जो भर रही, जगत में कहाँ भारती बंसी !
जो अवमानित शिखा, किसी की कहाँ आरती बंसी !

तब क्यों इस जम्बाल-जाल में
मुझे फँक मुस्काते हो तुम
मैं क्या हँसता नहीं देवता
पूजा का बन सुमन थाल में ?
कर में उज्ज्वल शंख, स्कन्ध पर
लिये तुम्हारी विजय-पताका,
अमृत-कलश-वाही धरणी का,
दूत तुम्हारी अमर विभा का !

चलता मैं फँकते मलीमस पापों पर चिनगारी,
सुन उद्बोधन-नाद नौद से जग उठते नर-नारी !
भूल गये देवता, उदय का महोच्चार था मैं ही,
स्वर्भू की सम्मिलित गिरा का एक द्वार था मैं ही !

(‘सामधेनी’, पृ० ७-८-९)

‘दिनकर’ जी का शरीर अंग्रेजों की नौकरी में था किन्तु मन देश-प्रेमियों के साथ । एक ही उदाहरण-उनके देश-प्रेम को स्पष्ट करने के लिए बहुत पर्याप्त है । सन् १९४२ के आन्दोलन में वह जिस क्षेत्र में नौकरी कर रहे थे, वहाँ के एस० डी० ओ० की हत्या कर दी गई । इससे चारों ओर पुलिस-आतक छा गया । सेना बुलाई गई और बुरी तरह लोगों को सताया जाने लगा । अनेक स्वतन्त्रता-सेनानी फरार होकर रात में ‘दिनकर’ जी के घर में आश्रय लेते थे । किन्तु भाग्य से फिर भी ‘दिनकर’ जी दमन-चक्र से बचे रहे । यही नहीं, नये एस० डी० ओ० ने सुरक्षा की दृष्टि से ‘दिनकर’ जी के घर में रहना ही उचित समझा । पुलिस-अधिकारी भी ‘दिनकर’ जी के प्रति सम्मान तथा भय की भावना रखते थे । इस प्रकार अनेक रूपों में वह सरकारी नौकरी में रहते हुए भी, देश-वासियों की सेवा कर रहे थे, किन्तु घरेलू परिस्थितियों के कारण वह सरकारी नौकरी छोड़ नहीं पा रहे थे ।

‘रेणुका’ और ‘हुंकार’ के प्रकाशन के पश्चात् तो अंग्रेज सरकार उन पर कड़ी निगाह रखने लगी । ऐसा होना स्वाभाविक ही था । क्या आज यह कल्पना से परे नहीं लगता कि सन् १९३३ में सरकारी नौकरी में लगे किसी भारतीय का इतना साहस हो सकता था कि वह निम्न पक्तियाँ लिखता—

तू वंभव-मद में इठलाती,
परकीया-सी संन चलाती;
री ब्रिटेन की दासी ! किसको
इन आँखों पर है ललचाती ?

हमने देखा यहीं पाण्डु-वीरों का कीर्ति-प्रसार,
वैभव का सुख-स्वप्न, कला का महा-स्वप्न-अभिसार।
यहीं कभी अपनी रानी थी, तू ऐसे मत भूल,
अकबर शाहजहाँ ने जिसका किया स्वयं शृंगार !

तू न ऐंठ मदमाती दिल्ली !
मत फिर यों इतराती दिल्ली।
अविदित नहीं, हमें तेरी—
कितनी कठोर है छाती दिल्ली।

(हुकार, पृ० ४६)

ये पक्तियाँ 'हुंकार' में छपी 'दिल्ली' नामक कविता से उद्धृत की गई हैं। अंग्रेज सरकार इनसे इतनी सशक्त थी कि बिहार के जिला-मजिस्ट्रेट श्री डब्ल्यू० जी० आर्चर की सस्तुति पर भी 'दिनकर' जी को पटना स्थानान्तरित नहीं किया था।

युद्ध के समाप्त हो जाने के पश्चात् 'दिनकर' जी लगभग डेढ़ साल अवकाश पर रहे। इसी समय उन्होंने 'उदयाचल' नामक प्रकाशन-संस्था की स्थापना की और 'कुरुक्षेत्र', 'सामधेनी', 'मिट्टी की ओर', 'धूप-छाँह' आदि ग्रन्थ प्रकाशित किये। प्रत्येक ग्रन्थ में देश-प्रेम परीक्ष अथवा अपरीक्ष रूप में प्रकट होता है। 'कुरुक्षेत्र' की निम्न पक्तियाँ देखिए—

और तब सम्मान से जाते गिने
नाम उनके, देश-मुख की लालिमा
है बची जिनके लुटे सिन्दूर से,
देश की इज्जत बचाने के लिए
या चढ़ा जिनने दिये निज लाल है !

('कुरुक्षेत्र', पृ० १)

काग्रम के प्रजासन सभालने पर बिहार-सरकार ने 'दिनकर' जी को प्रचार-विभाग का 'डिप्टी डायरेक्टर' नियुक्त किया गया। किन्तु वे इस पद पर अधिक दिन कार्य न कर सके। सन् १९४८ से ही वे नौकरी से विरक्त होने लगे थे। सन् १९५० में तो उन्होंने इस्तीफा ही दे दिया। इस समय बिहार-सरकार ने अपनी गुण-ग्राहकता का विशेष परिचय दिया और उसने उनको मुजफ्फरपुर के पोस्ट-ग्रेजुएट कालिज में विभागाध्यक्ष बना दिया। इस पद पर रहकर 'दिनकर' ने एक वर्ष तक घोर परिश्रम किया और परिणामस्वरूप वह अध्यापक के रूप में बहुत प्रसिद्ध हुए। सन् १९५२ में उन्होंने यह नौकरी भी छोड़ दी। उनके एक मित्र श्री कामेश्वर शर्मा इस विषय पर लिखते हैं—

,"दिनकर ने कालिज की नौकरी ससदीय मर्यादा के लोभ में नहीं छोड़ी, बल्कि

इसलिए छोड़ी कि सरकारी नौकरी से उनका मन अब ऊब गया था। पालियामेण्ट की मेम्बरी तो एक बहाना बन गई, नहीं तो नौकरी, शायद वे यों भी एक दिन छोड़ ही देते। मन से वे उस ऊँचाई पर पहुँच गये थे जहाँ पहुँच जाने पर नौकरी में निर्वाह करना कठिन हो जाता है। कालिज की नौकरी के बाद मैंने उनसे पूछा, कहो, अब तो जीवन और समाज से नाराज नहीं हो ? दिनकर बोले, “यार, कुछ कहते नहीं बनता। सब ठीक ही है। केवल दो बात है, जो मुझे अब भी नापसन्द है। पहली यह कि छात्र मुझ उस दृष्टि से नहीं देखते जैसे गुरु को उन्हें देखना चाहिए। मैं तो सिर झुका कर निकल जाता हूँ, लेकिन, मन समझता है कि सैकड़ों लड़कों की आँखें मेरी पीठ पर चुभ रही हैं। दूसरी बात यह है कि जब से पढ़ाने का धन्धा अपनाया है, विद्या मुझे अपनी गहराई में खींच रही है। मैं अनुभव करता हूँ कि मुझे अभी कितना अधिक और जानना है।”

(‘युग-चारण दिनकर’ : डॉ० सावित्री सिन्हा)

नौकरी छोड़ने से सम्बन्धित एक और बड़ी रोचक घटना का जिक्र श्री बनारसी-दास चतुर्वेदी ने ‘दिनकर’ जी की मृत्यु पर लिखे एक लेख में किया है। चतुर्वेदी जी बहुत दिनों से ‘दिनकर’ जी से नौकरी छोड़ने का आग्रह करते चले आ रहे थे। चतुर्वेदी जी का मत था—

“मैंने बन्धुवर ‘दिनकर’ जी को तभी लिखा था कि आप दोनों काम साथ-साथ नहीं कर सकते—सरकारी नौकरी तथा राष्ट्रीय कविताएँ।”

(रविवासरयी परिशिष्ट, ‘अमर उजाला’, जून २, १९७४)

‘दिनकर’ जी चतुर्वेदी जी का आशय अच्छी प्रकार से समझते थे। किंतु परिस्थिति-वश वह कोई ऐसा कदम उठाने में असमर्थ थे। अन्ततोगत्वा देश के स्वतन्त्र होने पर जब उन्होंने नौकरी छोड़ दी और चतुर्वेदी जी के साथ संसद्-सदस्य बने तो चतुर्वेदीजी ने लिखा—

“हम दोनों सन् १९५२ में साथ-साथ राज्य-सभा के सदस्य बने थे और तब ‘दिनकर’ जी अक्सर मुझसे मजाक में कहा करते थे—‘आपने सन् १९२५ से रट लगा रखी थी कि नौकरी छोड़ दो। सो नौकरी मैंने आपकी ही प्रेरणा से छोड़ी है और संसद् की सदस्यता से मेरी क्षतिपूर्ति नहीं हो सकती। आपने मुझे एक लाख रुपये के घाटे में डाला है। मैं जब भी चाहूँ, आप पर एक रुपये लाख का दावा कर सकता हूँ।’ ‘दिनकर’ सब हिसाब लगाकर मुझे एक लाख २० का घाटा बखूबी समझा देते थे, पर मैं ७५ हजार से अधिक के लिए राजी नहीं होता था। मेरा यह तर्क था कि नौकरी छोड़ने के बाद आपने जो साहित्य-सृष्टि की है उसके २५ हजार रुपये इस रकम में से काट दो। हम लोगों का यह मजाक बराबर कायम रहा।”

(रविवासरयी परिशिष्ट, ‘अमर उजाला’, २ जून, १९७४)

नौकरी करते समय उन्होंने केवल अंग्रेज सरकार का ही विरोध नहीं किया था,

अपितु कांग्रेसी सरकार के अधीन भी 'दिनकर' जी अपने स्वाधीन चिंतन को नहीं छोड़ सके। सन् १९४७ ई० में स्वतन्त्रता का स्वागत जिस जोश के साथ उन्होंने 'अहणोदय' नामक कविता में किया, वैसा उत्साह और दूसरा कवि उस समय नहीं दिखा सका। किंतु स्वराज्य प्राप्त करने के पश्चात् समाज की बिगड़ती दशा को देख कर 'दिनकर' जी के रोष और क्षोभ की भी सीमा नहीं रही। संसद्-सदस्य होने पर उन्होंने 'नेता' और 'भारत का यह रेशमी नगर' नामक कविताएँ लिखकर तत्कालीन कांग्रेस-सरकार पर बहुत ही तीखे व्यंग्य किये हैं। उदाहरण के लिए 'नेता' नामक एक कविता में वे लिखते हैं—

नेता ! नेता ! नेता !
 क्या चाहिए तुम्हें रे मूर्ख !
 सखा ? बन्धु ? सहचर ? अनुरागी ?
 या जो तुम्हको नचा-नचा मारे
 वह हृदय-विजेता ?
 नेता ! नेता ! नेता !

मरे हुओं की याद भले कर,
 किस्मत से फरियाद भले कर,
 मगर, राम या कृष्ण लौट कर
 फिर न तुम्हें मिलने वाले हैं
 टूट चुकी है कड़ी;
 एक तू ही उसको पहने बैठा है।

पूजा के ये फूल फेक दे,
 अब देवता नहीं होते हैं।
 बीत चुके हैं सतयुग-द्वापर,
 बीत चुका है नेता !
 नेता ! नेता ! नेता !

नेता का अब नाम नहीं ले
 अन्धपन से काम नहीं ले,
 हवा देश की बदल गई है;
 चाँद और सूरज, ये भी अब,
 छिपकर नोट जमा करते हैं।
 और जानता नहीं अभागे,

मन्दिर का देवता चोर-बाजारी में पकड़ा जाता है ?

फूल उसे पहनायेगा तू ?

अपना हाथ धिनायेगा तू ?

(‘चक्रवाल’, पृ० ३१३-१४)

अपने को व्यंग का लक्ष्य बनाकर समस्त नेताओं पर बड़ा तीखा व्यंग्य ‘भारत का यह रेशमी नगर’ नामक कविता में करते हैं—

हो गया एक नेता मैं भी ? तो बन्धु, सुनो,
मैं भारत के रेशमी नगर में रहता हूँ,
जनता तो चट्टानों का बोझ सहा करती,
मैं चाँदनियों का बोझ किसी विध सहता हूँ ।

(‘चक्रवाल’, पृ० ३१५)

इसी कविता में आगे भारत की दुर्दशा का वर्णन करते हुए वे दिल्ली में रहने वाले नेताओं की शान-शौकत की खिल्ली उड़ते हैं—

भारत धूलों से भरा, आँसुओं से गीला,
भारत अब भी व्याकुल विपत्ति के घेरे में ।
दिल्ली में तो है खूब ज्योति की चहल-पहल,
पर, भटक रहा है सारा देश अँधेरे में ।

(‘चक्रवाल’, पृ० ३१७)

इतनी स्पष्टवादिता और निरंकुशता उन आलोचकों का मुँह बन्द करने के लिए पर्याप्त है जो ‘दिनकर’ जी द्वारा सरकारी नौकरी करते रहने पर छीटाकशी करते हैं । इस सम्पूर्ण कविता में सरकार की आलोचना बड़ी तीक्ष्णता से की गई है और वह भी उस ‘दिनकर’ द्वारा जिसको इसी सरकार ने संसद-सदस्य नियुक्त किया है ।

संसद में पहुँचने के एक या दो वर्ष के अन्दर ही बड़ी तेजी से यह खबर फैलने लगी थी कि ‘दिनकर’ जी मन्त्री बनने वाले हैं । किंतु वे मंत्री नहीं हुए । उनके मित्र श्री कामेश्वर शर्मा ‘कमल’ का विचार है कि ‘दिनकर’ जी के मन में मंत्री-पद की चाह मौजूद थी । इस सम्बन्ध में श्री बनारसीदास चतुर्वेदी भी एक मजेदार घटना का वर्णन करते हैं—

“पर इससे भी गम्भीर अपराध मुझसे और भी बन पड़ा । मैं तो पार्लियामेंट में बहुत ही कम जाता था, पर जब भी जाता तो ‘दिनकर’ जी वहाँ दीख पड़ते । मैंने उनसे कहना शुरू किया—आप भी रेगिस्तान में खेती करते हैं । दोपहर को विश्राम क्यों नहीं करते ? यह बात मैंने इतनी बार दोहरायी कि ‘दिनकर’ जी ने लिपिबद्ध कर दिया—

कहाँ फँसे हम सब—
 बनारसीदास सदा कहते हैं !
 जगल छोड़ कभी योगी
 क्या शहरों में रहते हैं !
 मगर आन ही फँसे अगर,
 तो समय नहीं खोओ रे !
 जैसे मैं सोया रहता,
 तुम भी सुख से सोओ रे !

“यही नहीं, ‘दिनकर’ जी मेरा अनुकरण करने लगे और संसद् में बहुत कम आने लगे। कुछ महीनों बाद जब फिर मुलाकात हुई तो बोले—“आपने मेरी नौकरी तो छुड़वा ही दी, अब मन्त्रित्व तथा उपमन्त्रित्व भी मेरे हाथ से निकल गया। भला गैरहाजिर सदस्य को पद कैसे मिल सकता है ? मुझे तो आपकी तरह राज्यसभा-भवन में भी प्रवेश करने में डर लगने लगा है।”

(‘अमर उजाला’, रविवासरीय परिशिष्ट, २ जून, १९७४)

काफी दिनों राजनीति में रहने के बाद भी ‘दिनकर’ जी ‘डिप्लोमेसी’ से परिचय न पा सके। मूल प्रश्न है कि साहित्यकार को राजनीति में पड़ना चाहिए या नहीं ? अब तक के अनुभव के आधार पर यह कहा जा सकता है कि राजनीति साहित्यकार से चलती नहीं। बहुत प्रयास करने पर और काफी सचेत रहने पर भी साहित्यकार सत्य का दामन पूरी तरह नहीं छोड़ पाता है और समय-असमय सच्ची बात कह देता है। ‘दिनकर’ जी इसी प्रकार के राजनीतिक थे। एक बार सन् १९५७ के आम चुनावों के बाद बिहार में मुख्य-मंत्री पद के लिए डा० श्रीकृष्णसिंह के विरोध में डा० अनिरुद्ध नारायण सिंह प्रत्याशी थे। ‘दिनकर’ के दोनों से अच्छे सम्बन्ध थे। चुनाव के कारण ‘दिनकर’ जी दिल्ली से पटना आये। चुनाव में डा० श्रीकृष्णसिंह के विजयी होने पर ‘दिनकर’ जी ने डा० साहब से कहा कि अभी आप भारी सुयश में हैं। बुढ़ापे में आपके ही मित्र ने आपका विरोध किया, किंतु ईश्वर ने आपकी प्रतिष्ठा की रक्षा की। अब यही उचित होगा कि आप स्वयं अनुग्रहबाबू को बुलाकर मुख्य मन्त्री पद का भार उन्हें सौंप दें और आप अवकाश ग्रहण करके अन्य कामों में लग जायें। आपको अवकाश ग्रहण करने के लिए इससे अधिक सुन्दर अवसर फिर नहीं मिल सकता। किंतु ‘दिनकर’ जी की इस नेक सलाह का परिणाम अच्छा नहीं रहा। ‘दिनकर’ जी के प्रति डा० श्रीकृष्णसिंह की भावनाओं में अन्तर आ गया।

इसी प्रकार के कुछ और भी उदाहरण हैं जिनमें विदित होता है कि ‘दिनकर’ राजनीति में भी स्पष्टवादिता से काम लेते थे और जो उन्हें पसन्द या नापसन्द होता था, उसको खुलकर व्यक्त करते थे।

इस प्रकार राजनीति में १० वर्ष से अधिक रहने पर भी वह राजनीतिक नहीं बन सके और अपने साहित्यकार को सक्रिय और सजग रखा। आम तौर पर राजनीति साहित्यकार को निगल जाती है, परन्तु ‘दिनकर’ इसके अपवाद ही रहे। इसका कारण केवल यह है कि वह राजनीति में कभी आकण्ठ नहीं डूबे और न राजनीति के हथकण्डों को अपनाने की कोशिश की। उनके लिए राजनीतिज्ञ और साहित्यकार दोनों का अस्तित्व अलग-अलग है और उनकी दृष्टि इस सम्बन्ध में बिल्कुल स्पष्ट और निश्चिन्त है।

सन् १९५२ से १९६३ तक राज्यसभा के सदस्य रहने के पश्चात् वह भागलपुर-विश्वविद्यालय के उपकुलपति नियुक्त हुए। १९६५ में वह केन्द्रीय सरकार के हिन्दी सलाहकार बनकर फिर दिल्ली लौट आये। अंग्रेजी, संस्कृत, हिंदी और उर्दू के अच्छे ज्ञाता ‘दिनकर’ जी संसद् में तथा संसद् के बाहर दो-टूक खरी बात कहने के लिए प्रसिद्ध रहे। सरकार का शायद ही कोई ऐसा विभाग रहा हो जहाँ हिन्दी-लेखक सलाहकार के रूप में ‘दिनकर’ जी की बात गौर से न सुनी जाती हो। हिन्दी की हर योजना में किसी-न-किसी रूप में उनको सम्मिलित किया जाता था। किन्तु अक्सर ‘दिनकर’ जी सरकारी कार्य-प्रणाली से दुःखी रहते थे, क्योंकि सरकारी-तन्त्र में ऊपर से गरिमापूर्ण पर भीतर से अँगूठा लगाने वाली अपनी स्थिति पर वह प्रायः क्षुब्ध रहते थे। वह अक्सर कहा करते थे, “ये सब न कुछ करना चाहते हैं, न करने देते हैं।” किंतु फिर भी उनका विश्वास था कि वह “सरकारी तन्त्र के भीतर रहकर कुछ उन्नीस-बीस कर भी सकते हैं। बाहर से तो कोई आवाज भी वहाँ सुनाई न देगी।” साहित्य-अकादमी तथा शिक्षा-मंत्रालय से भी उनका काफी समय तक घनिष्ठ सम्बन्ध रहा और इनके तथा सरकारी भाषा-आयोग, भारतीय सांस्कृतिक सम्बन्ध परिषद्, केन्द्रीय फिल्म-सेंसर बोर्ड और आकाशवाणी की केन्द्रीय सलाहकार-समिति के सदस्य के रूप में भी उन्होंने पर्याप्त लोकप्रियता अर्जित की। १९६२ में भागलपुर-विश्वविद्यालय ने उन्हें ‘डी लिट०’ की मानद उपाधि से विभूषित किया। १९५६ में उन्हें ‘पद्मभूषण’ प्रदान किया गया। १९६० में ‘संस्कृति के चार अध्याय’ पर उन्हें ‘साहित्य-अकादमी पुरस्कार’ और १९७३ में उन्हें ‘उर्वशी’ पर ‘भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार’ प्राप्त हुआ।

इसके अतिरिक्त उन्हें अन्य पुरस्कार और पदक भी पर्याप्त संख्या में मिले हैं। काशी नागरी-प्रचारिणी सभा का ‘पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी पदक’ उन्हें दो बार प्राप्त हुआ—पहली बार ‘कुरुक्षेत्र’ के लिए और दूसरी बार ‘रश्मि-रथी’ के लिए। ‘कुरुक्षेत्र’ पर उन्हें उत्तरप्रदेश-सरकार से भी पुरस्कार प्राप्त हुआ और भारत-सरकार से भी। इस ग्रन्थ पर ‘साहित्यकार संसद्, प्रयाग’ द्वारा पुरस्कृत किये जाने के असवर पर सन् १९४६ में प्रयाग में गंगा की सैकत भूमि पर साहित्यिकों द्वारा सम्मान-समारोह का आयोजन किया गया था। इस अवसर पर सभापति के रूप में श्री मैथिलीशरण गुप्त उपस्थित थे। उनके अतिरिक्त हिन्दी के प्रतिष्ठित कवियों में प्रमुख थे सर्व श्री सुमित्रा-नन्दन पन्त, महादेवी वर्मा, डा० रामकुमार वर्मा, ‘हितैषी’, श्रीनारायण चतुर्वेदी, राय-

कृष्णदास आदि । इसी अवसर पर इलाहाबाद की प्रसिद्ध साहित्यिक संस्था 'परिमल' की ओर से भी इन्हे मान-पत्र भेंट किया गया ।

साहित्यकार से अधिक वह साहित्य-जगत् के नेता थे । पिछले बीसियों वर्षों से हिन्दी की कोई भी संस्था, कोई भी बड़ी सभा, कवि-सम्मेलन बिना 'दिनकर' जी के बरदहस्त या उनकी उपस्थिति के सफल नहीं माना जाता था । देश में ही नहीं, विदेशों में भी उनकी ख्याति फैली हुई थी । १९५५ में उन्होंने वारसा (पोलैंड) के अन्तर्राष्ट्रीय काव्य-समारोह में भारत का प्रतिनिधित्व किया । १९५७ के अक्टूबर मास में चीन के लेखक-संघ ने 'दिनकर' जी को अपने अतिथि के रूप में चीन बुलाया था । वे चीन में लगभग एक मास तक रहे और वहाँ के अनेक लेखकों के साथ उन्होंने विचारों का आदान-प्रदान किया । इन चीनी लेखकों से मिलकर तथा चीन में भिन्न-भिन्न स्थानों में भ्रमण करने के पश्चात् उन्होंने चीन के प्रति एक मूल धारणा बनायी कि चीन में धर्म की रेखा कभी नहीं रही होगी, वहाँ की दृष्टि अनाध्यात्मिक है । इसी क्रम में उन्होंने बर्मा और थाईलैण्ड के साहित्यकारों से भी भेंट की । चीन में जिन साहित्यकारों से वे मिले उनमें मुख्य थे—ली-ची, सिंग-ए नाटककार, चाँग-को-श्या, हो-चीन-फ़ान, ला-ओ-से, तैन-चिन, वा लिन । सन् १९६१ में भारत-सरकार ने इस देश के पाँच श्रेष्ठ साहित्यकारों का एक शिष्ट-मण्डल रूस भेजा । इस शिष्ट-मण्डल का नेतृत्व भी 'दिनकर' जी ने किया । 'दिनकर' जी के अतिरिक्त इसके अन्य सदस्य थे श्री उमाशंकर जोशी (गुजराती), श्रीजियालाल कौल (कश्मीरी), श्री वरदराजन (तमिल) तथा श्री सागर निजामी (उर्दू) । रूस में वे जहाँ-जहाँ भी गये, वहाँ रूसी साहित्यकारों ने उनका बहुत हार्दिक सत्कार किया । भारत-रूस मैत्री को दृढ़तर बनाने का श्रेय इस शिष्ट-मण्डल को भी है ।

'दिनकर' की कृतियों को विदेशी और अन्य भारतीय भाषाओं में जो सम्मान दिया जा रहा है, यहाँ पर उसका उल्लेख करना अनुचित न होगा । जापान से निकलने वाले अंग्रेजी पत्र 'ओरिएण्ट पेस्ट' में 'कॉलिंग-विजय' का अनुवाद प्रकाशित हुआ ।

'युनाइटेड एशिया' में उनकी आठ कविताओं का अनुवाद छपा । रूस की 'विदेशी साहित्य ग्रन्थमाला' के अन्तर्गत उनकी कविताओं के संकलन का रूसी अनुवाद १९६३ में प्रकाशित हुआ । 'संस्कृतिके चार अध्याय' के प्राचीन खण्ड का अनुवाद जापानी भाषा में हुआ है । इसके अलावा 'कुरुक्षेत्र' का अनुवाद भारत की कई भाषाओं, जैसे कन्नड़ और तेलुगू, में भी हो चुका है ।

इतना सम्मान, यश और सम्पदा पाने के पश्चात् भी 'दिनकर' जी का जीवन सुखी नहीं था । उनकी आत्मा में गहरे पँठे अवसाद को इससे समझा जा सकता है कि 'हुंकार' के कवि को जीवन के अवसान में 'हारे को हरिनाम' लिखना पड़ा । 'दिनकर' की मृत्यु के उपरांत प्रकाशित लेखों में अधिकतर लेखकों का यही मत रहा है कि 'दिनकर' भीतर से बहुत दुःखी थे । गोपालप्रसाद व्यास 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' में ।

लिखते है कि जब उन्होंने ‘दिनकर’ जी से उनके हाल पूछे तो ‘दिनकर’ जी ने उत्तर दिया—

“अब क्या हाल होगा ! न दिल्ली में रहने को जगह है, न फोन है, न गाड़ी है। दुनिया भाग रही है। मुझे भी तुमसे फोन करने के लिए किसी दूसरे के घर भागना पड़ता है। रहता कहीं हूँ, खाता कहीं हूँ। जिन्दगी का मजा नहीं रहा। लोग ढाँचे को देखते है...हालत को देखने-सुनने की किसे फुर्सत है ! ...”

“मैं अन्दर-ही-अन्दर घुट रहा हूँ। अब विस्फोट होने वाला है। ...”

“गोपाल, भारत में जन्म लेना, हिन्दी-कविता और साहित्यकार का कर्म करना कोई मजाक है। माँपो से खेलना है...तुमने क्या कम भोगा है

(साप्ताहिक हिन्दुस्तान १२ मई, १९७४)

‘हारे को हरिनाम’ कविता-संग्रह में ‘दिनकर’ जी स्वयं लिखते है—

“कुछ मित्र ‘हारे को हरिनाम’ के नाम से भी चौंके है। किंतु पराजित मनुष्य और किसका नाम ले ! जिन्हें मेरे पराजित-रूप से निराशा हुई है, उन मित्रों में मैं क्षमा माँगता हूँ—

मैंने अपने-आप को

क्षमा कर दिया है।

बन्धु, तुम भी मुझे क्षमा करो !

मुमकिन है वह ताजगी हो,

जिसे तुम थकान मानते हो।

ईश्वर की इच्छा को।

न मैं जानता हूँ,

न तुम जानते हो !

इसी वर्ष ‘रश्मि-लोक’ नामक अपने काव्य-संकलन की भूमिका में (जो ६ जनवरी, १९७४ को लिखी गई है और अपनी कविता के विषय में यह उनका अन्तिम कथ्य है) में वे लिखते है—

“जिन घटनाओं से कवि का जीवन-दर्शन बदलता है, जो दर्द आदमी की देखने की दिशा बदल देता है, उसे कविता बनाने के पूर्व कवि के रक्त में घुलने के लिए समय चाहिए। जब यह दर्द मेरे अणु-अणु में फैल गया तो मैं एक विचित्र प्रकार की कविताएँ लिखने लगा। ‘हारे को हरिनाम’ में इन्हीं कविताओं का संग्रह है। उन कविताओं से और विशेषतः इस नाम से मेरे अनेक मित्रों और प्रशंसकों को निराशा हुई है और मुझे उनकी निराशा पर आश्चर्य हुआ है; क्योंकि वे सभी मित्र जानते हैं मैं हारा हुआ आदमी हूँ, टूटा हुआ आदमी हूँ, वह आदमी हूँ किस्मत ने जिसके शिराजें बिखेर दिए हैं। ऐसे व्यक्ति के सामने इसे छोड़कर और कौन उपाय है कि वह ‘गरीब-नवाज श्री रामचन्द्र जी’ के चरणों पर गिर जाये और आर्त्त-स्वर में

पुकारे कि प्रभो ! मुझे क्षमा करो और जो भी मुसीबते मेरे ऊपर आनेवाली हैं वे आज ही एक साथ हमला बोल दें । 'हारे को हरिनाम' लिखकर मैंने आशा की थी कि मेरी विनय-पत्रिका पूरी हो गई । किंतु लगता है अभी मेरी रामायण ही अधूरी है और उसका उत्तरकाण्ड अब आरम्भ हुआ है । उत्तरकाण्ड यानी राम का राज्या-रोहण, उत्तरकाण्ड यानी सीता का पाताल-प्रवेश, उत्तरकाण्ड यानी राम का प्राण-विसर्जन ।" भूमिका के अन्त में लिखते हैं—

✓“कविता ने मुझे मित्र दिये, कीर्ति दी, सम्मान दिया, बड़े लोगों की संगति, जनता का आशीर्वाद और एक बड़ा पुरस्कार भी प्रदान किया । बदले में जीवन-भर मैंने भी उसे अपने जीवन का रक्त पिलाने में कोताही नहीं की । किंतु लगता है कि मैंने सरस्वती के लिए उतना त्याग नहीं किया जितना मुझे करना चाहिए था । यह बकाया सरस्वती मुझ से वसूल करने में अब तुली हुई है ।”✓

भूमिका के प्रत्येक शब्द से 'दिनकर' जी के हृदय में व्याप्त वेदना और व्यथा फूट-फूटकर निकल रही है । यह कहना तो मुश्किल है कि सरस्वती वह वसूल कर सकी या नहीं, जिसकी ओर 'दिनकर' जी इंगित करते हैं, पर उन्होंने अपने पाठको के लिए कुछ बकाया नहीं छोड़ा, सब चुकता कर दिया और उन सबको क्षमा कर गये जो पारिवारिक, साहित्यिक तथा जीवन के अन्य प्रसंगों में उनको दुःख देते रहे थे ।

'दिनकर' जी फरवरी, १९७४ में आगरा-विश्वविद्यालय के दीक्षान्त-समारोह में दीक्षा-अभिभाषण देने आगरा पधारे थे । उस अवसर पर स्व० पं० हरिशंकर शर्मा कविरत्न के पुत्र श्री विद्याशंकर शर्मा 'दिनकर' जी से मिले थे । पं० हरिशंकर जी और 'दिनकर' जी के बीच पुगने पारिवारिक सम्बन्ध थे । श्री विद्याशंकर शर्मा ने बातचीत के दौरान 'दिनकर' जी को काफी निराशावादी पाया । बार-बार 'दिनकर' जी अपने थके होने की चर्चा करते थे और युवको को हरि-भजन करने की सलाह देते थे । 'दिनकर' जी की इस मन स्थिति के विषय में श्री विद्याशंकर शर्मा लिखते हैं—

“‘दिनकर’ जी के आगरा-प्रवास के दौरान मैं बहुत थोड़ी देर ही उनके साथ रहा, लेकिन उनकी आंतरिक थकान और सासारिक जंजाल छोड़कर हरि-भजन करने की बात सुनकर मुझे कुछ अजीब-सा लगा । ‘दिनकर’ जी की इस मनःस्थिति की चर्चा मैंने बाद में कई व्यक्तियों से की थी और अब जब दो-सवा-दो माह बाद ही उनके स्वर्ग सिंघारने की बात के साथ उनकी आंतरिक थकान और ‘हरिभजन’ करने की मनःस्थिति को जोड़ता हूँ तो लगता है जैसे तेजस्वी साहित्य-साधक के ऊपर कराल काल की छाया दो-ढाई महीने पहले से ही भँडराने लगी थी और ‘हरिभजन’ ही उनका अन्तिम अभिप्रेय था । ‘दिनकर’ जी के चिन्तन और काव्य-विकास-क्रम पर दृष्टिपात किया जाये तो स्पष्ट है कि वे उत्तरोत्तर आध्यात्मिकता की ओर बढ़ते चले गये हैं । ‘रेणुका’ ‘हुंकार’ और ‘रसवन्ती’ के बाद ‘कुरुक्षेत्र’ और ‘रश्मिरथी’ तथा अन्य स्फुट रचनाओं में कथ्य जो भी रहा हो, कवि की अनुभूतियाँ उत्तरोत्तर अध्यात्मपरक होती चली गई हैं और उनका अन्तिम काव्य-संग्रह ‘हारे को हरिनाम’ तो निश्चय ही

थके-हारे कवि द्वारा आकुल-व्याकुल होकर हरि-शरण जाने की आध्यात्मिक उद्घोषणा करता हुआ प्रतीत होता है।

“सुना है पिछले कई वर्षों से ‘दिनकर’ जी आध्यात्मिक व्यक्तियों का सत्संग प्राप्त करने के लिए विशेष रूप से प्रयत्नशील रहे थे। योगिराज अरविन्द के वे भक्त थे और माता आनन्दमयी के सम्बन्ध में उन्होंने भक्ति-भावना के साथ एक बड़ा सुन्दर लेख लिखा था। ‘दिनकर’ जी जब पिछले दिनों आगरा पधारे तो सुविख्यात जैन मुनि कविरत्न अमरचन्द्र जी महाराज की सेवा में लगातार दो दिन वे उपस्थित हुए और उनके साथ धर्म, दर्शन और साहित्य पर कई-कई घण्टे वार्ता की।...

“...निधन से पूर्व दक्षिण भारत के विख्यात तीर्थ तिरुपति की यात्रा भी हरि-शरण में पहुँचने के चिर अभिलाषी कवि की अन्तिम यात्रा थी।”

(रविवासरीय परिशिष्ट, ‘अमर उजाला’, मई १२, १९७४)

‘बच्चन’ जी से वह अकमर कहा करते थे, “मन करता है, यह दुनिया छोड़-छोड़कर संन्यास ले लूँ।” और ‘बच्चन’ जी जवाब देते थे, “संन्यास लेने से कुछ होगा ? आश्रमों की हालत भी अब बहुत अच्छी नहीं है। जिन्दगी भर तुम शांति के लिए भीख ही माँगते रहोगे !”

(‘धर्मयुग’, १२ मई, १९७४)

ऐसे टूटे, दुःखी, थके-थकाये मन और शरीर को लिये ‘दिनकर’ जी कितने ही वर्षों से जी रहे थे। अन्त में २४ अप्रैल, १९७४ की भयावह रात आई और मद्रास के एक अस्पताल में उनकी आत्मा थके और जर्जर शरीर को छोड़कर सदैव के लिए चली गयी, उस स्थान पर जिसके विषय में शेक्सपियर लिखता है—

“The undiscovered country, from whose bourn no traveller returns—
(Hamlet, Act III, Sc. i)

मृत्यु से थोड़ी देर पहले समुद्र-तट पर मित्रों के समक्ष उन्होंने कविता-पाठ किया था। स्वस्थ और प्रसन्न थे। उसके भी पहले वेल्लूर जाने को मद्रास में ठहरे जयप्रकाश नारायण से वह मिले थे और उन्हें एक लम्बी कविता सुनाई थी, जो उन्हीं पर लिखी थी। एक दिन पूर्व तिरुपति-मन्दिर में देव-मूर्ति के सामने भी उन्होंने तीन बार कविता-पाठ किया था—तीनों बार नयी रचना करके दर्शन किया था।

समुद्र-तट से लौटकर आने पर सीने में दर्द उठा। घरेलू उपचार असफल होने पर मित्र रामनाथ गोयनका और गंगाशरणसिंह उन्हें तुरन्त अस्पताल ले गये। पर तब तक जीवन का केवल आधा घण्टा ही शेष रहा था। इस सब की सूचना श्री गोपालप्रसाद व्यास के मित्र श्रीनिवास शास्त्री ने व्यासजी को मद्रास से टेलीफोन से निम्न प्रकार से दी—

“‘दिनकर’ जी ने तेईस अप्रैल को तीन बार तिरुपति भगवान् के विशेष श्रृंगार-दर्शन किये। अनुमति प्राप्त करके उन्होंने तीनों बार देव-विग्रह को उनकी बन्दना-स्वरूप शायद आशु कविताएँ सुनायी। वह गद्गद एवं आत्म-विभोर थे। चौबीस अप्रैल को जब जयप्रकाश बाबू से मिले, तब वहाँ भी एक घण्टे से अधिक कविता

पाठ ही करते रहे। जयप्रकाश पर लिखी ताजा रचना भी इस अवसर पर उन्होंने जयप्रकाश जी को सुनाई। शाम को समुद्र-तट की सैर करने गये। वहाँ रेती में बैठ कर लगातार दो घण्टे तक कविता-पाठ करते रहे। घर लौटे तो सीने में कुछ दर्द महसूस हुआ। किसी अनाड़ी भक्त ने मालिश शुरू कर दी। दर्द बढ़ना ही था। गंगा बाबू और रामनाथ गोयनका दौड़े आये। गोयनका जी स्वयं कार चलाकर कवि को नर्सिंग होम ले गये। वहाँ आध घण्टे के भीतर ही सब-कुछ समाप्त हो गया।”

(साप्ताहिक हिंदुस्तान, १२ मई, १९७४)

२५ अप्रैल की सुबह सात बजे लोगों ने आकाशवाणी तथा अखबारों के माध्यम से ‘दिनकर’ जी की मृत्यु का समाचार पाया। मद्रास से उनका शव हवाई जहाज द्वारा दिल्ली लाया गया और वहाँ से हवाई जहाज द्वारा ही उसे पटना भेजा गया। दोपहर में एक बजे पटना हवाई अड्डे पर साहित्यकारों सहित अन्य नागरिकों के अतिरिक्त मुख्यमन्त्री श्री अब्दुलगफूर और विधान-सभा के अध्यक्ष श्रीहरिनाथ मिश्र उपस्थित थे। शव को राजेन्द्रनगर के मकान में लाया गया। दोनों भाई, पत्नी और सारा परिवार गाँव से आ गया था। ६५ वर्ष की माँ ने मुश्किल से पाल-पोसकर बड़े किये अपने ‘नूत’ (दिनकर) को देखा। उसके हृदय पर क्या बीती होगी, यह एक विधवा वृद्ध माँ ही जान सकती है। अन्तिम दर्शनार्थ लोग आने-जाने लगे। शाम पौने छ. बजे अर्धी उठी। आगे-आगे जन-सम्पर्क विभाग के वाहन से राम-धुन गायी जा रही थी। रास्ते में हिंदी साहित्य सम्मेलन-भवन में फूल चढ़ाये गये। बासघाट पर शव चिता पर रखा गया। बिहार सशस्त्र पुलिस के जवानों ने ‘लास्ट पोस्ट’—अन्तिम समय का बिगुल—बजाया। पुत्र केदारनाथसिंह ने अग्नि प्रज्वलित की ओर देखते-देखते ‘दिनकर’ जी का पार्थिव शरीर सदैव के लिए आँखों से ओझल हो गया और शेष रह गया उनका नाम और उनकी कृतियाँ।

जैमा ऊपर इंगित किया गया है, ‘दिनकर’ जी को अपनी मृत्यु का आभास काफी पहले से हो गया था। ‘हारे को हरिनाम’ में संकलित उनकी अन्तिम कविता की निम्न पंक्तियों से इस प्रकार के विचार की पुष्टि होती है—

सब शोकों का एक नाम है क्षमा,
हृदय, आकुल मत होना।
बहक उठे जो अंगारे बन गये,
कुसुम-कोमल सपने के।
अन्तर में जो गाँस मार कर गये,
अधिक सबसे अपने थे।
अब चल उसके द्वार, सहज जिसकी करुणा !

और कहाँ, किसका आँसू कब थमा ?

हृदय, आकुल मत होना ।

(‘हारे को हरिनाम’, पृ० १५६)

इन पंक्तियों में हृदय की व्यथा फूट पड़ी है। ‘बच्चन’ जी ने ‘दिनकर’ जी की मृत्यु पर सही लिखा था—

✓ “...‘दिनकर’ को मानसिक वेदना बहुत थी। अन्त तो सभी का आता है। देश की जैसी स्थिति है, उसमें ६५ वर्ष भी जी लेना आसान बात नहीं है। साहित्यिक क्षेत्र में एक व्यक्ति जो कामना कर सकता है, दिनकर को वह सब-कुछ मिल गया था—पद, यश, पैसा, प्रतिष्ठा। पर मेरे और शायद उनके अनेक मित्रों के मन को हमेशा यह कचोटता रहेगा कि इतना कुछ करने के बाद, इतनी उपलब्धि और सफलता के बीच कोई इतनी अशांति और दुःख-क्लेश को लेकर मरे।” ✓

(‘धर्मयुग’, १२ मई, १९७४)

‘दिनकर’ जी की मृत्यु एक बहुत बड़ा वज्र-पात था। हिन्दी साहित्य-क्षितिज से एक अत्यधिक जाज्वल्यमान नक्षत्र लुप्त हो गया था। राष्ट्र में खलबली मचना और हाहाकार होना स्वाभाविक था। हर साहित्यिक तथा राष्ट्र-प्रेमी के हृदय को आघात पहुँचा था। सभी ने इस आघात को भिन्न-भिन्न प्रकार से व्यक्त किया था। राष्ट्रपति श्री बी० वी० गिरि ने अपने विचार निम्न प्रकार व्यक्त किये—

“‘दिनकर’ की मृत्यु से साहित्य-जगत् की ऐसी क्षति हुई जो पूरी नहीं की जा सकती। उनके द्वारा हिन्दी-साहित्य और राष्ट्र को दी गई सेवाएँ कभी नहीं भुलाई जा सकती।”

राज्य-सभा के ‘दिनकर’ जी १२ वर्ष तक सदस्य रहे। राज्य-सभा के चेयरमैन श्री गोपालस्वरूप पाठक (उपराष्ट्रपति) ने अपनी श्रद्धाजलि निम्नलिखित प्रकार से अर्पित की—

“‘दिनकर’ एक महान् शिक्षा-शाम्नी थे और उनकी हिन्दी-साहित्य को बहुत बड़ी देन है।”

श्रीमती इन्दिरा गांधी—

“श्री रामधारीसिंह ‘दिनकर’ की मृत्यु से देश ने असाधारण रचनात्मक लेखक और कवि खो दिया। उनकी रचनाओं में जन-आकांक्षा व्यक्त हुई है। उन्होंने हमारी संस्कृति पर भी अपनी छाप छोड़ी है। अन्य महान् कवियों की भाँति वह भी अपनी रचनाओं के माध्यम से सदैव जीवित रहेंगे।”

आन्ध्र प्रदेश के राज्यपाल श्री खण्डूभाई देसाई—

“‘दिनकर’ की मृत्यु से देश का एक महान् कवि, उच्च कोटि का विद्वान्, साहित्यिक प्रतिभा और देश-भक्त लुप्त हो गया।”

अली सरदार जाफरी—

“इतना बड़ा शायर, जो हमारे बीच से उठ गया, वह ऐसी कमी पैदा कर गया है, जो कभी पूरी नहीं होगी। ‘दिनकर’ कहने के लिए हिन्दी के कवि थे, लेकिन हम उनको सारे देश का शायर मानते हैं और हम हमेशा उनकी शायरी से प्रोत्साहन लेते रहेंगे।”

गुलाबदास ब्रोक—

“‘दिनकर’ जी हिन्दी में लिखते थे, जिसके कारण सभी भारतीय उनकी रचनाओं को समझ लेते थे। इस समय याद आते हैं जवान ‘दिनकर’—उनकी आवाज, उनकी पढ़ने की शैली और भाषा पर उन का प्रभुत्व। इस समय आँखों के सामने तैर रही है ‘उर्वशी’।”

कृशनचन्दर—

“‘दिनकर’ जी की मृत्यु से न केवल हिन्दी-साहित्य, बल्कि समूचे भारतीय साहित्य को नुकसान पहुँचा है।”

मंगेश पाडगाँवकर—

“राष्ट्रीय भावना में ओत-प्रोत ‘दिनकर’ का जीवन था। उनकी रचनाएँ आधुनिक होते हुए भी सर्व-साधारण को प्रिय बन जाती थी। ‘दिनकर’ को सत्ता मिली नहीं थी, वे तो जन्म में ही राजा की सत्ता लेकर पैदा हुए थे। उनके-जैसे संसार में बिरले ही होते हैं जो राजा होते हुए भी प्रजा के ही हों।”

बसन्त बापट—

“‘दिनकर’ जी जैसे निर्भय और निष्ठावान् साहित्यिक हमें शायद ही दिखाई दें, सबसे बड़ा और सबसे छोटा व्यक्ति—सभी उन्हें चाहते थे। वे सही माने में राष्ट्र-कवि थे।

गोपालप्रसाद व्यास—

“...और पच्चीस अप्रैल को शिव-स्वरूप ‘दिनकर’ नहीं, शिव-स्वरूप उनका ताबूत हवाई जहाज से उतारा गया। जिन परिस्थितियों से मेरे इस योद्धा मित्र ने जीवन-भर संघर्ष किया था, वे आज भी ताबूत बनकर उसे जकड़े हुए थी। परिस्थितियों से जूझता हुआ बालक रामधारी, सिंह-जैसा पराक्रमी और दिनकर के समान प्रकाशवान् होकर भारतीय क्षितिज पर छा गया।”

बालस्वरूप ‘राही’—

“‘दिनकर’ जी के बारे में बात कहाँ से शुरू की जाय, यह सोच पाना बड़ा कठिन है। वह बहुत-कुछ थे—एक साथ कवि, विचारक और गद्यकार। साथ ही एक अत्यन्त प्रखर, आकर्षक और प्रभावकारी व्यक्तित्व। उनके कवि के बारे में सोचिये

तो अनेक पंक्तियाँ मन में उभरने लगती हैं। उनके विचारक पक्ष का ध्यान कीजिये तो उनकी विभिन्न विचारधाराओं का एक सिलसिला-सा दिमाग को उकसाने लगता है। उनकी गद्य-रचनाओं का जिक्र छेड़ें तो कितने ही निबन्ध सामने आ जाते हैं। उनके व्यक्तित्व की चर्चा चले तो संस्मरणों की आधी-सी आ जाती है। और मन जैसा इस समय है, साफ-साफ कुछ भी सोच पाना मुहाल है। यों कई दिन बीत चुके हैं उन्हें हम से विदा लिये, पर इस अहसाम से समझौता कर पाना आज भी असह्य लग रहा है कि अब उनकी गूँजती हुई गरजदार आवाज हम कभी नहीं सुन पायेंगे। उनका भव्य व्यक्तित्व चित्रों और फिल्मों की धरोहर होकर रह गया है। उनकी नई किताब अब कभी पढ़ने को नहीं मिल पाएगी।”

(‘साप्ताहिक हिन्दुस्तान’, १६ मई, १९७४)

श्री रामनिवास जाजू—

“राष्ट्र-कवि एक साहित्यिक नर थे और प्रस्थान करते समय एक विराट् साधक का रूप भर कर गए हैं। उनके बारे में अभी जो कुछ लिखा जा सकेगा, वह तो श्रद्धाञ्जलि का लोभ मात्र है। इन श्रद्धाञ्जलियों के बाद ही उनके व्यक्तित्व और कृतित्व की समीक्षा का युग आरम्भ होगा।”

(‘साप्ताहिक हिन्दुस्तान’, १६ मई, १९७४)

‘अज्ञेय’—

“‘दिनकर’ आज हमारे बीच नहीं है। ‘हुकार’ के साथ जिसने अपने उदय का उद्घोष किया था, ‘हारे को हरिनाम’ के साथ जो अस्ताचल की ढलान को रक्ताभ करता हुआ उतरा, एकाधिक प्रतिष्ठानों के विरुद्ध अपनी आवाज उठाता हुआ जो न जाने प्रतिष्ठान का प्रतिनिधि अधिक रहा या कि स्वयं एक प्रतिष्ठान रहा, वह प्रभा-पूज एकाएक लुप्त हो गया। यह दुर्घटना दक्षिण में परमतीर्थ तिरुपति की यात्रा के दौरान घटी, यह मानो उसकी असमयता को और आयाम दे देता है। दक्षिण तो सूर्य के चरम उत्कर्ष की और तेजोमयता की दिशा होती है—पर उसी के दिक्पाल तो यम भी है।”

(‘दिनमान’, ५ मई, १९७४)

भवानीप्रसाद मिश्र—

✓ “‘दिनकर’ एक जादू था, जो सिर चढ़कर बोलता था। ‘उर्वशी’ पढ़ते-पढ़ते जब मैंने यह पंक्ति पढ़ी कि “उर्वशी, अपने समय का सूर्य हूँ मैं।” तो एकदम लगा कि ‘दिनकर’ ने पुरुरवा के मुख से जो यह पंक्ति कहलायी है वह पुरुरवा पर चाहे लागू होती हो या न होती हो, ‘दिनकर’ पर लागू होती है और समय का अर्थ यहाँ अखिल समय मानना चाहिए। ‘दिनकर’ अपने देश के ही नहीं, अपने समय के सूर्य कवि थे।”

(‘दिनमान’, ५ मई, १९७४)

बिहार के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार और साहित्यकार श्री फणीश्वरनाथ 'रेणु' ने अपनी श्रद्धाजलि कविता के माध्यम से इस प्रकार अर्पित की—

“हमे क्षमा करना कविवर विराट् !

हम तुम्हारे आत्मा की शान्ति के बदले उसको अपनी काया के एकान्त और पवित्र कोने में

प्रतिष्ठित करने की कामना करते हैं। ताकि, जहाँ कहीं भी अनय हो उसे रोक सके,

जो करे पाप शशि-सूर्य भी, उन्हें रोक सकें।

हमारे भीतर जो एक नया अगार भर रहा है—

बस, वही एक आधार है हमारा।

कपट-शोकातुर मुखौटा लगा-रूआँसी आवाज में, गले को कँपा-कँपा

तुमको श्रद्धाजलि देने का नाटक हम नहीं करेंगे।

तुम तो जीवित हो, जीवित रहोगे हमारे बीच तेजो-दीप्त।

मरने को हमेशा दोपहरी के तिमिर तुम्हारे दुश्मन ही मरेंगे।

(‘दिनमान’, ५ मई, १९७४)

साहित्यिक पृष्ठभूमि और परोक्ष एवं अपरोक्ष प्रेरणाएँ—

‘दिनकर’जी विद्यार्थी-जीवन से ही कविता के प्रति अनुरक्त थे। ‘चक्रवाल’ की भूमिका से विदित होता है कि उनको कविता लिखने की प्रेरणा सर्वप्रथम नाटको एवं गमलीलाओ से मिली थी। ‘दिनकर’ जी लिखते हैं—

“जहाँ तक याद है, कविता लिखने की प्रेरणा मुझमें नाटक और रामलीला देखकर उत्पन्न हुई। जब भी मैं नाटक वालों के मुख से कोई गीत सुनता, दूसरे दिन उसी धुन में एक नया गीत बना लेता। यह भी प्रथम विश्व-युद्ध की समाप्ति के ही आमपास की बात है जब मैं आठ-दस साल का रहा होऊँगा। तब सन् १९२० ई० में कानपुर के ‘प्रताप’ में ‘एक भागतीय आत्मा’ की वह कविता छपी जिसे उन्होंने लोकमान्य तिलक की मृत्यु पर लिखा था। इस कविता का मुझ पर अत्यन्त प्रभाव पड़ा।”

(‘चक्रवाल’, पृ० २५)

किन्तु, सर्वप्रथम जिस ग्रन्थ में वह सराबोर हुए, वह था तुलसीकृत ‘रामचरित-मानस’। बचपन से ऐसा संयोग हुआ कि उन्हें ‘रामचरितमानस’ में अटूट श्रद्धा जाग्रत हो गई। ‘चक्रवाल’ की भूमिका में वह लिखते हैं—

“जहाँ तक कविता का सम्बन्ध है, मैंने प्रेम-पूर्वक पहले-पहल तुलसीकृत रामायण ही पढ़ी थी। मेरे बचपन में रामायण का हमारे गाँव में अच्छा प्रचार था। शाम होते ही मेरे दरवाजे पर श्रोता आ जुटते, मैं लालटेन और दिये के पास बैठकर रामायण का सस्वर पाठ करता और भाई साहब उसका अर्थ कहते जाते। यह सिलसिला

कई साल तक चला और इस कार्य को मैंने कभी भी बोझ नहीं समझा। रामायण का गान करने में मुझे स्वयम् आनन्द आता था और चूँकि मेरे गान को गाँव के लोग प्रसन्न होकर सुनते थे, इससे रामायण का पाठ मुझे और भी आनन्ददायी लगता था। किन्तु, रामायण पढ़ते समय कभी भी मुझे तुलसीदास बनने की इच्छा हुई हो, ऐसा याद नहीं आता है।” — (‘चक्रवाल’, पृ० २४-२५)

इसके अतिरिक्त विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से भी वह तत्कालीन कवियों की कविताओं से परिचित हुए। उनके बड़े भाई श्री वसन्तसिंह जबलपुर से प्रकाशित ‘छात्र-सहोदर’ नामक मासिक पत्रिका के ग्राहक थे। इस पत्रिका का सम्पादन कविवर ‘अंचल’ जी के पिता पं० मातादीन शुक्ल करते थे। यह पत्र नियमित रूप से ‘दिनकर’ जी को बालकपन में उपलब्ध हो जाता था। इस पत्र में प्रकाशित सारी ही कविताएँ राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत होती थी। इस सब का प्रभाव यह हुआ कि ‘दिनकर’ जी बहुत प्रारम्भ में कविता में गहरी रुचि लेने लगे। वह लिखते हैं—

“पत्र-पत्रिकाओं से रस पाकर जब मैं समकालीन काव्य-पुस्तकों की ओर बढ़ा तब मुझे ‘भारत-भारती’ मिली, ‘जयद्रथ-वध’ और ‘शकुन्तला’ तथा ‘किसान’ पढ़ने का अवसर मिला एवम् जब श्री रामनरेश त्रिपाठी का ‘पथिक’ निकला, मैं उस ग्रन्थ में आपाद-मस्तक डूब गया। ‘पथिक’ मुझे इतना पसन्द आया जितना और कोई ग्रन्थ नहीं रुचा था। उन्हीं दिनों मैंने ‘पथिक’ के अनुकरण पर ‘वीरबाला’ और ‘जयद्रथ-वध’ के अनुकरण पर ‘मेघनाद-वध’, ये दो खण्ड-काव्य लिखने आरम्भ किये, किन्तु दोनों के दोनों प्रयास तीन-चार सर्गों तक चल कर ही अवच्छेद हो गये। अलबत्ते, सर्गबद्ध खण्ड-काव्य के रूप में मेरी पुस्तक विक्रमी सम्वत् १९८६ में निकली, जिसका नाम ‘प्रण-भंग’ था और जिसका उल्लेख, कैसे तो, पण्डित रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास में हो गया है। (‘चक्रवाल’, पृ० २५-२६)

‘सरस्वती’, ‘सुधा’ और ‘माधुरी’ नामक पत्रिकाओं के माध्यम से ‘दिनकर’ जी का छायावादी कविता से परिचय भी बहुत ही छोटी आयु में हो गया था। छायावादी कविताओं को प्रारम्भ में ‘दिनकर’ जी समझने में स्वयम् को असमर्थ पाते थे। मुजफ्फरपुर में १९२८ में अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन हुआ। यहाँ पर हुई साहित्यिक चर्चा से ‘दिनकर’ जी बहुत लाभान्वित हुए। इससे उनके हृदय में उस समय के कवियों के प्रति रुचि जाग्रत हुई—

“अपनी तत्कालीन रुचि का स्मरण करने पर मुझे ऐसा याद आता है कि छायावादी युग में भी मेरे सबसे प्रिय कवि मैथिलीशरण, माखनलाल, सुभद्रा, कुमारी चौहान ‘नवीन’ और रामनरेश त्रिपाठी ही थे। कालेज में मुझमें शैली और वर्डस्वर्थ, दोनों के लिए उत्साह था और बंगला सीख कर तभी मैंने रवीन्द्र और नजरुल से भी परिचय बढ़ा लिया था। पीछे, जब मैं नौकरी करने लगा, तब मैंने उर्दू सीखी और इकबाल तथा जोश का मैं भक्त बन गया।” (‘चक्रवाल’, पृ० २६-२७)

इस कथन से स्पष्ट होता है कि अपने समसामयिक और परवर्ती कवियों में से 'दिनकर' जी उन्हीं को अधिक पसन्द करते थे जिनकी कविताओं में सहजता और सरलता अपेक्षाकृत अधिक है। 'दिनकर' जी ने यह स्वयं स्वीकार किया है कि वह सौन्दर्य से सुस्पष्टता के अधिक प्रेमी है। जब उन्होंने सुना कि कविता करने वालों के लिए पिगल का पढ़ना आवश्यक है, तो उन्होंने इधर भी कुछ प्रयास किया। किन्तु रस और अलंकार-सम्बन्धी ग्रन्थों के विषय में उनका ज्ञान शून्य था।

एक सच्चे कवि के व्यक्तित्व में युग-का संघर्ष स्वतः प्रतिबिम्बित हो जाता है। 'दिनकर' जी जैसे युगचेता कवि का व्यक्तित्व अपनी समसामयिक हलचलों से विच्छिन्न नहीं हो सकता। 'दिनकर' जी के समय की परिस्थितियों के अध्ययन करने से पूर्व उनसे पहले युग पर दृष्टिपात करना यहाँ उपयोगी होगा।

सन् १८५७ के असफल स्वतन्त्रता-संग्राम के पश्चात् शनैः-शनैः देश की शक्ति क्षीण होने लगी थी, अंग्रेजों की शोषण शक्ति बढ़ गई थी, और देश में निर्धनता काल-समान मनुष्यों को ग्रसित कर रही थी। समाज को विभाजित रखने के उद्देश्य से अंग्रेज अनेकों कृत्रिम भित्तियाँ खड़ी कर रहे थे। इन्हीं सबके विरोध में पहले स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अकेले आवाज उठाई और बाद में १८८५ ई० में अखिल भारतीय कांग्रेस की स्थापना हुई। ऐसे समय में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने आह्वान किया, "अरे वीर, इक बेर उठहु सब फिर कित सोए!" यह उद्बोधन वास्तव में देश की निर्धनता, कुरीति तथा विषमता-रूप व्याधियों को दूर करने के ही निमित्त था। पं० प्रतापनारायण मिश्र एवं पं० बालकृष्ण भट्ट आदि तात्कालिक कवियों ने भी दवे स्वर से जागरण किया। बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने अधिक स्पष्टता और दृढ़ता से अपनी भावनाओं को व्यक्त किया।

सन् १९०५ ई० में काशी में कांग्रेस ने अपना लक्ष्य भारत की पूर्ण स्वतन्त्रता बनाया, किन्तु सन् १९२० तक इस दिशा में कोई विशेष प्रगति नहीं हुई। इसी समय रूस में सफल क्रान्ति हुई जिसका आधार था, समाजगत अत्यधिक विषमता। इस ओर भारतीय युवक भी आकृष्ट हुए और परिणामस्वरूप कांग्रेस में भी दो दल हो गये, एक दल गांधीजी के नेतृत्व में अहिंसा और सत्याग्रह द्वारा स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पक्ष में था किन्तु दूसरा दल हिंसा एवं क्रान्ति से भी भारत का उद्धार करना चाहता था। इस संघर्ष में जैसे-जैसे तीव्रता आती गई, वैसे-वैसे जनता का उत्साह बढ़ता गया और कवियों में भी राष्ट्रीय भावना उद्बुद्ध होती गई और उन्होंने भी तदनुकूल स्वर-में-स्वर मिलाकर समाज को प्रेरणा दी।

कवियों में इस प्रकार के जागरण का उदाहरण हमें श्री मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत-भारती' में मिलता है। उसकी रचना से प्रेरित होकर अनेक कवियों ने इस मार्ग का अनुसरण किया। इसी प्रकार के देश-भक्त कवि थे—वियोगी हरि। उन्होंने 'असहयोग-वीणा' तथा 'चरखे की गूँज' आदि अनेक मुक्तक कविताएँ लिखी तथा

अन्त में ‘वीर-सतसई’ नामक अमर ग्रन्थ की रचना की। यह ग्रन्थ युवको को विलास-प्रियता छोड़ कर देश के लिए बलिदान होने का सन्देश देता है। पं० रामनरेश त्रिपाठी तथा पं० माखनलाल चतुर्वेदी (‘एक भारतीय आत्मा’) भी इस युग के प्रसिद्ध राष्ट्रीय कवि थे। त्रिपाठीजी द्वारा रचित ग्रन्थ ‘मिलन’, ‘पथिक’ एवं ‘स्वप्न’,-तीनों ही प्रबन्ध-काव्य देश-भक्ति की भावनाओं से ओत-प्रोत है। इनकी राष्ट्रीयता को दिग्दर्शित कराने के लिए निम्न दो पंक्तियाँ काफी है—

यदि देश-धर्म के विरुद्ध भगवान भी आयें, तो है धर्म तनसे भी युद्ध करना।

(‘प्रातःकालिक सन्देश’ कविता से)

श्री माखनलाल चतुर्वेदी की निम्न पंक्तियाँ उनकी ओजस्वी राष्ट्रीयता को दिग्दर्शित करती है—

नाश से सागर-तरंगें चीर कर,
गगन से भी कठिन स्वर गम्भीर कर।
सन्धि का सन्देश भेजा है यहाँ,
पूछ कर किसके कलेजा है यहाँ?

... ..

राज - पथ की गालियाँ हमने सहीं,
प्रार्थनाएँ पुस्तके रचकर कहीं।
श्रेष्ठ है, वह विपिन है, अपना अहा !
वह गजेन्द्रों का नहीं होता जहाँ।
है रिपोटों में कलेजा छप रहा,
... ..

रात में सहसा सफेदी बह उठी,
मोम की दीपे सुलगती कह उठीं—
नाश जी, नक्षत्र यदि लाचार हैं,
श्री सुधाकर भी उतरते द्वार हैं,
तो जलेगी तेल कर निज कामना,
आइए, मिट हम करेगी सामना !

इनके अतिरिक्त श्री सत्यनारायण ‘कविरत्न’ आदि कई कवियों की रचनाओं भी जन-जागरण का कार्य प्रचुर मात्रा में हुआ है। उधर उपन्यासों और कहानियों में प्रेमचन्द जी अंग्रेजी दासता का नग्न चित्र प्रस्तुत कर रहे थे। इससे स्पष्ट होता है कि उस समय, जब ‘दिनकर’ जी साहित्य में आये, हिन्दी-जगत् में एक शुद्ध राष्ट्रीय वातावरण बन रहा था।

किन्तु इस जन-जागरण के कार्य के साथ-ही-साथ दूसरी ओर कुछ कवि

व्यक्तिगत त्रुटियों, कुण्ठाओं एवं असफलताओं को छायावाद के आवरण से व्यक्त कर रहे थे। इस प्रकार के कवियों में से जयशंकर 'प्रसाद', सुमित्रानन्दन पन्त, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' और महादेवी वर्मा थे।

ये कवि प्रारम्भ में केवल कल्पना-लोक में विचरण करते थे, जहाँ ये जन-समाज से उदासीन व्यक्तिगत सुख की लालसा में स्वप्न-निमग्न रहते थे। यह सर्व-विदित है कि छायावाद का जन्म महावीरप्रसाद द्विवेदी के समय की इतिवृत्तात्मक शैली की प्रतिक्रिया-स्वरूप हुआ था, जिसमें प्राचीन परम्पराओं तथा रूढ़ियों का अन्धानुकरण होता था। कुछ सीमा तक अंग्रेजी रोमाण्टिक कवियों के प्रभाव ने भी छायावादी कविता के रूप-निर्धारण में सहायता पहुँचाई। किन्तु कुछ आलोचकों के विचार में छायावाद नयी दिशा लेकर भी केवल भाषा-भाव के चमत्कार में उलझ कर ही रह गया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं—

“छायावाद नाम चल पड़ने का परिणाम यह हुआ कि वह उससे कभी रहस्या-त्मकता, अभिव्यजना के लाक्षणिक वैचित्र्य, वस्तु-विन्यास की विशृंखलता, चित्रमयी भाषा और मधुमयी कल्पना को ही साध्य मानकर चले, शैली की इन विशेषताओं की दूरारूढ साधना में ही लीन हो जाने के कारण अर्थ-भूमि के विस्तार की ओर उनकी दृष्टि न रही। विभाव पक्ष या तो शून्य अथवा अर्निर्दिष्ट रह गया। इस प्रकार प्रसरणोन्मुख काव्य-क्षेत्र बहुत कुछ सकुचित हो गया। असीम और अज्ञात प्रियतम के प्रति अत्यन्त चित्रमयी भाषा में अनेक प्रकार प्रेमोद्गारों तक ही काव्य की गति-विधि प्रायः बंध गई। हृत्तन्त्री की झुंकार, नीरव सदेश, अभिसार, अनन्त-प्रतीक्षा, प्रिय-तम का दवे-पांव आना, आँख-मिचौली, मद में भूमना विभोर होना, इत्यादि के साथ-साथ शराब, प्याला, साक्री आदि सूफी कवियों के पुराने सामान भी इकट्ठे किए गए।”

(‘हिन्दी-साहित्य का इतिहास’, पृ० ६५१)

छायावादी मनोरंजक कविता ने एक जादू-सा किया और जो भी इसके सम्पर्क में आया, वह अभिभूत हुए बिना न रहा। परन्तु प्रारम्भ से ही राष्ट्र-प्रेम में पगे ‘दिनकर’ को यह ज्योत्स्ना आकर्षित न कर सकी। वह छायावादी परम्परा से हट कर रचनाएँ करते रहे। किन्तु इसका अर्थ यह न था कि वह द्विवेदी-युगीन शैली को अपना रहे थे। अपनी स्थिति को स्पष्ट करते हुए ‘दिनकर’ जी लिखते हैं—

“मेरी वेदना अभिव्यक्ति की वेदना थी और मेरे सम्मुख जो चुनाव था वह क्लासिक और रोमाण्टिक अथवा द्विवेदी-युग और छायावादी काल या मैथिलीशरण और सुमित्रानन्दन पन्त के बीच था। अनुभूतियाँ और भाव तो मुझे छायावादियों के ही अच्छे लगते लगते थे, किन्तु, अभिव्यक्ति की सफाई मैं वह चाहता था जो मैथिलीशरण गुप्त और रामनरेश त्रिपाठी में निखरी थी। दूसरे शब्दों में, द्विवेदी-युग की कल्पना मुझे भी स्थूल और किञ्चित् भौडी लगती थी, किन्तु पन्तजी की अभिव्यक्ति के भी चारों ओर मुझे कुहासा दिखाई देता था। मैं दोनों से हटकर अपने

लिए कोई ऐसी राह निकालना चाहता था जो दोनों के समीप और दोनों से कुछ दूर हो ।”

×

×

×

“अतएव मैंने अपने लिए जो राह निकाली, उसकी प्रेरणा केवल छायावादी धूमिलता से बचने के प्रयास में थी । यह और बात है कि वह द्विवेदी-युग और छायावादी काल के बीचो-बीच पड़ गई ।” (‘चक्रवाल’, पृ० ३५)

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि ‘दिनकर’ जी को छायावादी अभिव्यंजनात्मक शैली तो प्रिय थी तथा नवीन छन्द-पद्धति भी स्वीकार थी, किन्तु शायद समाज से उदासीन होकर तथा राष्ट्र की उपेक्षा करके केवल व्यक्तिगत चित्रण पसन्द नहीं था, वे साहित्य को समाज का दर्पण समझते थे, अतः समष्टिगत जीवन की उपेक्षा करके केवल कल्पना-लोक के सुख-स्वप्नों में लीन होना हेय समझते थे ।

आगे चलकर छायावाद के प्रतिपादको, जैसे ‘प्रसाद’, पन्त, ‘निराला’, महादेवी वर्मा आदि ने भी इस तथ्य को समझा । परिणामस्वरूप ‘प्रसाद’ जी ने अपने नाटको के पात्रों के माध्यम से देश-प्रेम को प्रदर्शित किया तथा ‘भारतवर्ष’ आदि मुक्तक कविताओं के द्वारा देश का गौरव-गान किया—

जियें तो सदा इसी के लिए, यही अभिमान रहे, यह हर्ष !

निछावर कर दे हम सर्वस्व, हमारा प्यारा भारतवर्ष !!

(‘स्कन्दगुप्त’ नाटक से)

पन्त जी तो कुछ काल तक समय के साथ इतने बह गये कि ऐसा विदित होने लगा मानो उन्होंने नवीन मार्ग ग्रहण कर लिया हो । उन्होंने ‘प्रकाश’, ‘नवसंस्कृति’ तथा ‘१५ अगस्त सन् १९४७’ आदि अनेक कविताओं की रचना की जिनसे उनकी प्रगतिवादिता परिलक्षित होती है । वे देश में एक नवीन संस्कृति की स्थापना की बात करने लगे, जिसमें साम्य की प्रधानता हो । एक स्थान पर वह लिखते हैं—

भाव-कर्म में जहाँ साम्य हो संतत,

जगजीवन में हों विचार जन के रत । (‘नव-संस्कृति’)

इसके अतिरिक्त ‘गुंजन’, ‘युगान्त’, ‘युगवाणी’ आदि में ऐसी कई कविताएँ हैं जिनमें उनकी समष्टि के प्रति जागरूकता दृष्टिगोचर होती है ।

महादेवी वर्मा पद्य में तो देश-प्रेम की ओर नहीं झुक सकी, परन्तु अपनी गद्य-रचनाओं में अवश्य लेख-चित्रो एवं अतीत के चलचित्रों के माध्यम से देश की कुरीतियों का चित्रण किया है । इसके अतिरिक्त उन्होंने समाज के पद-दलित, व्रस्त एवं निम्न-वर्ग के व्यक्तियों के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित की है ।

‘निराला’ ही छायावादी कवियों में ऐसे थे जिन्होंने अपनी सहज ओजस्वी भाषा में देश की दुर्दशा के ऐसे मार्मिक चित्र खींचे हैं जो देश के प्रति मनुष्य के हृदय में कोमल भाव जाग्रत करते हैं ।

वे भारत में नूतनता लाने के पक्षपाती थे। उनकी 'भारत बन्दना' अपने किस्म की अनूठी रचना है—

वर दे, वीणा-वादिनि ! वर दे !

प्रिय स्वतन्त्र रव, अमृत-मन्त्र नव

भारत में भर दे !

इससे स्पष्ट होता है कि छायावादियों ने, जो प्रारम्भ में अपने व्यक्तिगत जीवन में ही सिमटकर कविता करते थे, अन्ततोगत्वा समय की पुकार सुनी और अपने-अपने ढंग से देश-प्रेम को जाग्रत करने में सहयोग दिया। इसी युग में बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' और सुभद्राकुमारी चौहान आदि ने भी राष्ट्र के प्रति जनता को सजग करने में बड़ा प्रोत्साहन दिया।

'दिनकर' जी, जैसा कि ऊपर दिखाया जा चुका है, छायावादी शैली से अलग रहना चाहते थे। वे इस प्रवृत्ति को पलायनवाद की सजा देते थे। 'रसवन्ती' की भूमिका में बड़ी दृढ़ता के साथ वह लिखते हैं—

"साहित्य की जो कृतियाँ वर्तमान जीवन के दाह और दुखों से उदासीन हैं, जूझते हुए सूरमाओं की पद-गज लेने में शर्माती हैं और मिट्टी की गन्ध से निर्लिप्त रहने पर दंभ रचती हैं, वे मृत हैं, वे कृन्तन हैं, और मैं सार को उनसे प्रतिशोध लेने का पूरा अधिकार हूँ।"

('रसवन्ती', भूमिका, पृ० ५)

जिस प्रकार 'दिनकर' जी छायावादी कविता के विरोधी थे, प्रगतिवादियों के न थे। प्रगतिवाद के प्रति अपना रोप प्रकट करते हुए 'दिनकर' जी लिखते हैं—

"जैसे छायावाद ने कविता की शैली और भावों में महा क्रान्ति की अथवा जैसे आज प्रयोगवाद कविता की तकनीक के सम्बन्ध में हमारी धारणाएँ बदलने के प्रयास में हैं, प्रगतिवाद ने कभी कोई ऐसा काम न किया। न तो उसने शैली में कोई परिवर्तन करवाया, न भावों की दिशा में ही नये क्षितिज का संकेत दिया।"

"प्रगतिवाद ने साहित्य पर ऐसा कोई प्रभाव नहीं डाला जिसे हम किसी भी दृष्टि से साहित्यिक प्रभाव कह सकें। यह मुख्यतः साहित्येतर आन्दोलन था जो साहित्य के भीतर केवल राजनैतिक उपयोग के लिए, साहित्यिकों का शोषण करने को आया था।"

('चक्रवाल', पृ० ४१)

'दिनकर' जी की उक्तियों से स्पष्ट होता है कि वह बिना किसी वाद में फँसे वैयक्तिक एपणा को त्यागकर कवि में समष्टि की हितकामना, नूतनता, गतिमत्ता तथा राष्ट्र के प्रति जागरूकता चाहते हैं। वह प्लेटो की भाँति साहित्य को केवल मनोरंजन का ही साधन नहीं मानते और न उसमें छाया ही देखना चाहते हैं। उनका उद्देश्य है साहित्य में प्रगतिशील आदर्श तथा प्रकाश की प्रखर किरणों को देखना। वे वर्तमान को पूर्णरूपेण भुलाकर केवल अतीत ही में रहना नहीं चाहते, जैसा अंग्रेज कवि कीट्स ने किया है। वे उसी को सफल कवि मानते हैं जो प्राणवती तथा अन्तस्

को ज्योतिष करने वाली कविताओं की रचना करता हो। वह सदैव साहित्य में धर्म और मोक्ष की अपेक्षा अर्थ और काम के संयत और उज्ज्वल स्वरूप को अधिक महत्त्व देते रहे। कवि से वे क्या अपेक्षा करते थे, यह उन्हीं के शब्दों में—

दो आदेश, फूँक दूँ शृंगी, उठे प्रभाती राग महान;
तीनों काल ध्वनित हों, स्वर में जागे सुप्त भुवन के प्राण।
गत विभूति भावी की आशा ले युग-धर्म पुकार उठे;
सिंहों की घन अन्ध गुहा में जागृति की हुंकार उठे !

×

×

×

प्रिय दर्शन-इतिहास कण्ठ में आज ध्वनित हो काव्य बने;
वर्तमान की चित्रपट्टी पर भूत काल सम्भाव्य बने।
जहाँ-जहाँ घन तिमिर हृदय में भर दो वहाँ विभा प्यारी;
दुबल प्राणों की नस-नस में देव ! फूँद दो चिनगारी।

(‘रेणुका’, ‘मगल-आह्वान’)

उपर्युक्त पवित्रियों से स्पष्ट होता है कि ‘दिनकर’ जी बीते वैभव से प्रेरणा लेकर वर्तमान को सुखद बनाना चाहते हैं, जिससे भविष्य का मार्ग भी प्रशस्त हो जाए। वे सोते हुआ को जगाना चाहते हैं, तथा अन्धकार प्रकाश की विभा विभासित करना चाहते हैं। उनका ध्येय अपने युग की पुकार को सुनकर उसे व्यक्त करना, उपनिवेशवाद के पक्षपातियों की रक्त-शोषण प्रवृत्ति को चुनौती देना तथा इस पृथ्वी को स्वर्ग-सदृश बनाना था। ‘हुंकार’ में सगृहीत ‘कविता का हठ’ नामक रचना की निम्न व्यक्तित्व को दिग्दर्शित करती है—

तेरे कण्ठ बीच कवि ! मैं बनकर युग-धर्म पुकार चुकी;
प्रकृति-पक्ष ले रक्त-शोषणी संस्कृति को ललकार चुकी।
वार चुकी युग पर तन-मन-धन, अपना लक्ष्य विचार चुकी;
कवे ! तुम्हारे महायज्ञ का साकल कर तैयार चुकी।
उठा अमर तूलिका, स्वर्ग का भू पर चित्र बनाऊँगी,
अमापूर्ण जग के आँगन में आज चन्द्रिका लाऊँगी।
रुला-रुला आँसू से धो जगती का मैल बहाऊँगी;
अपनी दिव्य शक्ति का परिचय भूतल को बतलाऊँगी।
तू सन्देश वहन कर मेरा महा गान मैं गाऊँगी;
एक विश्व के लिए लाख स्वर्गों को मैं ललचाऊँगी।
होऊँगी मैं सुयश तुम्हारा बन नवीन युग की वाणी।

ग्लानि न कर सहचरी तुम्हारी हूँ मैं भावों की रानी। (‘हुंकार’)

अपने इस पावन कार्य के लिए उन्हें हिंसा का सहारा लेना बुरा नहीं लगा।

अपनी प्रसिद्ध रचना 'कुरुक्षेत्र' में महाभारत के सर्वोत्तम पात्र भीष्म के मुँह से युधिष्ठिर को निम्न शिक्षा इसी उद्देश्य से दिलाई गई है—

किसने कहा, पाप है समुचित,
स्वत्व-प्राप्ति-हित लड़ना ?

उठा न्याय का खड्ग समर में,
अभय मारना मरना ।

(‘कुरुक्षेत्र’, सर्ग ३, पृ० २६)

इस प्रकार के भाव 'कुरुक्षेत्र' में अनेक स्थलों पर भी व्यक्त किए गए हैं। यह नहीं कि 'कुरुक्षेत्र' तक आते-आते वह इस प्रकार की विद्रोही भावनाओं से भर गए थे, अपितु प्रारम्भ से ही उनकी कविताओं का प्रतिपाद्य अन्याय का विरोध करना रहा है।

भारतीय जन-मानस पर धीरे-धीरे गान्धीजी का प्रभाव बढ़ रहा था। 'दिनकर' जी जैसे संवेदनशील पुरुष इससे बिना प्रभावित हुए नहीं रह सकते थे। वे गान्धीजी की मृत्युनिष्ठा, सदाचारिता, सहिष्णुता, कार्यक्षमता, उदारता एवं महत्ता से बहुत प्रभावित हुए और उनके निष्ठावान् भक्त बन गए। इस आकर्षण का परिणाम उनका 'बापू' नामक छोटा-सा काव्य है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् कल के त्यागी कुर्सी की छीना-झपटी में लग गए और दूसरी ओर साम्प्रदायिकता का भीषण हृदय-द्रावक नग्न नृत्य होने लगा। ऐसे समय सब स्वार्थ, एवं मोह त्यागकर जीवन की परवाह न कर गान्धीजी सब घावों को भरते डोल रहे थे। इस दृश्य से 'दिनकर' जी की विचार-धारा में एक नवीन परिवर्तन आया, जिससे उनकी हुकार धीमी पड़ी और वह शुद्ध मानवता के पुजारी बन गए। प्रतिशोध के स्थान पर अन्यायी के प्रति दया और प्रेम जगा और वह कह उठे—

जय हो, खोलो द्वार, अमृत दो हे जग के पहले दानी !

यह कोलाहल शमित करेंगे किसी बुद्ध की ही बानी !

इस प्रकार 'उर्वशी' तक आते-आते 'दिनकर' जी ने एक लम्बी यात्रा तय की और यह श्रेष्ठ काव्य अब तक सँजोयी हुई समस्त भावनाओं का प्रतिफलन है। हाँ, एक बार वह हुकार फिर उठी जबकि भारत पर चीनियों ने अप्रत्याशित आक्रमण किया और उनके 'परशुराम की प्रतीक्षा' करनी पड़ी। देश-भक्ति की भावनाओं से ओत-प्रोत उनका संग्रह 'परशुराम की प्रतीक्षा' सन् १९६२ में प्रकाशित हुआ। किन्तु इसके बाद 'दिनकर' जी का पौरुष जैसे सो गया हो। उनकी वाणी में शिथिलता आई, शायद शारीरिक शिथिलता भी इसका कारण रहा हो। और 'हुंकार', 'कुरुक्षेत्र', 'परशुराम की प्रतीक्षा' के कवि ने साहित्यिक यात्रा की इतिश्री 'हारे को हरिनाम' से की।

‘उर्वशी’ का कथानक और उसकी ऐतिहासिकता

‘उर्वशी’ निस्सन्देह ‘दिनकर’ जी की सर्वोत्तम कृति है, यद्यपि ‘जानपीठ-पुर-स्कार’ इस पुस्तक पर देर से मिला। सन् १९६१ में प्रकाशित यह ग्रन्थ कवि की काव्य विकास-क्रम से उद्भूत किसी एक प्रवृत्ति की देन नहीं है अपितु समष्टि रूप में उनकी सम्पूर्ण काव्य-प्रवृत्तियों का श्रेष्ठ समन्वय है। इसका कथा-विधान अकों पर आधारित है। सम्पूर्ण कथानक पाँच अकों में विभाजित है। पहले अक में पूर्व-पीठिका, दूसरे में विकास, तीसरे में चरम सीमा, चौथे में अवसान और पाँचवें अक में समापन है। अंको के अनुसार इस काव्य की कथा निम्न प्रकार है—

कथा का प्रारम्भ सूत्रधार और नटी के परस्पर संवाद से होता है। राजा पुरुषवा की राजधानी प्रतिष्ठानपुर के समीप एक एकान्त पुष्प-कानन है। सूत्रधार और नटी इस कानन में चाँदनी रात का रमण कर रहे हैं। यही से कथा की पूर्व-पीठिका प्रारम्भ होती है और पाठको को प्रकृति के महत्त्व और कथा-गत स्थान का संकेत प्राप्त हो जाता है।

चाहें ओर चाँदनी छिटक रही है और ऐसा प्रतीत होता है मानो आकाश चन्द्रमा के किरण-रूपी करो से सम्पूर्ण धरा को अपने आलिंगन-पाश में बाँध लेना चाहता है। सम्पूर्ण वातावरण मादक है और प्रेम का प्रसारण कर रहा है। इस निस्तब्धता में पृथ्वी-आकाश का मिलन प्रकृति-पुरुष का मिलन है और इस प्रकार प्रकृति के उद्दीप्त आलम्बन का आधार लेकर कवि ने आगामी पुरुषवा-उर्वशी की प्रेम-कथा का संकेत दे दिया है।

मादकता के इन शान्त क्षणों में ऊपर आकाश में रशनाओं एवम् नूपुरों की ध्वनि सुनायी देती है और अनेक अप्सराएँ झुलोक से नीचे उतरती दिखायी देती हैं। नटी का विचार है कि ये अप्सराएँ ‘फूलों की सखियाँ’ तथा ‘विधु की प्रेयसियाँ’ हैं। किन्तु सूत्रधार की दृष्टि में वे अभूक्त प्रेम की मनोहारिणी प्रतिमाएँ हैं, कामानुरूप

स्वर्ग-प्रतिमाएँ हैं तथा इनको पृथ्वी का आकर्षण ही अम्बर की ऊँचाइयों से खींच लाया है। इसी समय तीन अप्सराएँ—सहजन्या, रम्भा और मेनका—पृथ्वी पर उतर आती हैं। सूत्रधार और नटी नाटकान्त तक के लिए वृक्ष की छाया में अदृश्य होकर रगमंच से हट जाते हैं। तीनों अप्सराएँ समवेत गान के पश्चात् परिचर्चाओं में लीन हो जाती हैं। तीनों ही इस जगती के सौन्दर्य पर मुग्ध हैं और उस स्पृहली रात की स्वच्छ चाँदनी में फूलों में बस जाना चाहती हैं; विस्तृत हिम-कण-राशि में स्नान करना चाहती हैं—तथा वेचैन है मंदिर स्वर में गाने को। ✓

गान के साथ ही सकाएँ उठती हैं जिनके समाधान के लिए कवि विभिन्न पात्रों का प्रयोग करता है। गीत की समाप्ति पर मेनका जब रम्भा से प्रश्न करती है कि धरती और आकाश में क्या अन्तर है तो रम्भा स्वर्ग में अमरता और मर्त्यलोक में नश्वरता का भेद बतलाती है। इस पर मेनका कहती है—

पर तुम भूल रही हो रम्भे ! नश्वरता के वर को;
भू को जो आनन्द सुलभ है, नहीं प्राप्त अम्बर को।
क्या है यह अमरत्व ? समीरों-सा सौरभ पीना है,
मन में धूम समेट शान्ति से युग-युग तक जीना है।
पर, सोचो तो, मर्त्य मनुज कितना मधुर-रस पीता है !
दो दिन ही हो, पर, कैसे वह धधक-धधक जीता है !
इन ज्वलन्त वेगों के आगे मलिन शान्ति सारी है।
क्षण भर की उन्माद तरंग पर चिरता बलिहारी है।

(‘उर्वशी’, पृ० १०-११)

इसी स्थल पर कवि ने बड़े नाटकीय ढंग में उर्वशी-पुरूरवा प्रेम की ओर संकेत किया है। सहजन्या परिहासात्मक व्यंग्य करती है कि क्या तुम्हारी दशा भी उर्वशी के समान ‘प्रेम-निमग्ना-सी’ हो गयी है ? यहाँ एक-एक मन्त्रियों को ध्यान आता है कि उर्वशी उनके मध्य उपस्थित नहीं है। सहजन्या दैत्य-ग्रस्ता उर्वशी की राजा पुरूरवा द्वारा मोक्ष-कथा को सुनाती है। मुक्ति के पश्चात् उर्वशी पुरूरवा में प्रेम करने लगती है। उधर पुरूरवा भी उसके प्रेम में मग्न है। यह सुनकर रम्भा आश्चर्य प्रकट करती हुई कहती है कि उर्वशी को यह क्या हो गया है। हम तो परिणाय हैं, प्रेम-व्यापार तो परियों की केवल क्रीड़ा-मात्र है—

✓ प्रेम मानवी की निधि है, अपनी तो वह क्रीड़ा है;
✓ प्रेम हमारा स्वाद, मानवी की आकुल पीड़ा है।

(‘उर्वशी’, पृ० १५)

वह कहती है कि सम्भवतः उर्वशी को पृथ्वी की कथाओं का पता नहीं है। यह जगती बड़ी कुत्सित है, क्योंकि यहाँ प्रेम का परिणाम मानृतत्व में निहित है और मानृतत्व के पश्चात् स्त्री समस्त सुखों से वंचित हो जाती है—

रोग, शोक, सन्ताप, जरा-सब आते ही रहते हैं,
पृथ्वी के प्राणी विषाद नित पाते ही रहते हैं ।
अच्छी है यह भूमि जहाँ बूढ़ी होती है नारी,
कण-भर मधु का लोभ और इतनी विपत्तियाँ सारी,

(‘उर्वशी’ पृ० १६-१७)

सहजन्मा इस अवस्था में परिचित नहीं है, अतः वह अपनी मन्त्री उर्वशी के दुर्भाग्य पर दुखी होती है । किन्तु मेनका इन दोनों में प्रौढ़ है । वह सोचती है कि मानृत्व का मुख अलग मुख होता है । वह कहती है—

पर, रम्भे ! क्या कभी बात यह भी मन में आती है,
माँ बनते ही त्रिया कहां से कहां पहुँच जाती है ?
गलती है हिमशिला, सत्य है, गठन देह की खोकर,
पर, हो जाती वह असीम कितनी पयस्विनी होकर ?

(‘उर्वशी’, पृ० १६)

इसी समय आकाश-चारिणी चित्रलेखा वहाँ आ जाती है और समस्त सखियों को राजा के वियोग में उर्वशी की व्याकुलता का वर्णन सुनाती है । वह बताती है कि उर्वशी ने आज स्पष्ट कह दिया —

यदि आज कांत का अंक नहीं पाऊँगी,
तो शरीर को छोड़ पवन में निश्चय मिल जाऊँगी ।

(‘उर्वशी’, पृ० २०)

मेनका को एक भय है—राजा उर्वशी के प्रति इतना आतुर है या नहीं । किन्तु उसका यह भय निराधार है क्योंकि राजा की व्याकुलता किसी रूप में कम नहीं है । उर्वशी की अनुपस्थिति में उसकी मन स्थिति राजा ही के शब्दों में इस प्रकार है—

जाने कब कल्पना रूप धारण कर अक भरेगी ?
कल्पलता, जाने, आलिंगन से कब तपन हरेगी ?
आह ! कौन मन पर मढ़ सोने के तार रही है ?
मेरे चारों ओर कौन चाँदनी पुकार रही है ?

(‘उर्वशी’, पृ० ४२)

इस प्रकार राजा को आतुर देख चित्रलेखा उर्वशी को राजोपवन में छोड़ आती है ताकि दोनों प्रेमी-प्रेमिका आपस में मिल सकें । इसके पश्चात् समस्त अप्सराएँ सन्तोष का अनुभव करती हुई, समवेत गान करती हुई, स्वर्ग-लोक को उड़ जाती हैं ।

(२) द्वितीय अंक की कथा दो तथ्यों पर आधारित है— (१) पतिव्रता स्त्री की गति (२) पुरुष का स्वभाव । प्रतिष्ठानपुर के राजमहल में महाराज पुरुरवा की

महारानी औशीनरी अपनी दो सखियों, निपुणिका और मदनिका, के साथ महाराज और उर्वशी के परस्पर प्रेम के सम्बन्ध में बातें कर रही है। निपुणिका महारानी को बताती है कि महाराज से मिलने के लिए उर्वशी नामक अप्सरा स्वर्ग से आयी थी और उसके साथ महाराज कहीं चले गये हैं। उर्वशी के अप्रतिम सौन्दर्य का वर्णन करते हुये वह कहती है—

प्रकटी जब उर्वशी चाँदनी में द्रुम की छाया से,
लगा, सूर्य के मुख से जैसे मणि बाहर निकली हो,
याकि स्वयम् चाँदनी स्वर्ण-प्रतिमा में आन डली हो;
उतरी हो धर देह स्वप्न की विभा प्रमद-उपवन की,

(‘उर्वशी’, पृ० ३०)

उस चन्द्रमुखी को देखकर महाराज पुरुषा के हृदय में समुद्र के समान ज्वार-भाटा-सा आ गया। उन्होंने दौड़कर उसे बाँहों में भर लिया और अपनी विरह-वेदना सुनाने लगे। उर्वशी ‘पर्वत के पक्षों में सिमटी गिरिमल्लिका लता-भी’ महाराज के हृदय में समा गयी। इसके पश्चात् महाराज ने उर्वशी से प्रार्थना की कि वह उसके मधुमत्त यौवन के सामने बिक चुके हैं अतः—

प्राणेश्वरी ! मिलन-सुख को, नित होकर संग वरे हम,
मधुमय हरियाले निकुञ्ज में आजीवन विचरे हम !

(‘उर्वशी’, पृ० ३२)

औशीनरी इन बातों को सुनकर अत्यधिक दुःख में डूब गयी। वह उर्वशी को कोमती है कि उसने इस गणिका का क्या अनिष्ट किया था जो उसके पति को उससे छीनकर लिये जा रही है। निपुणिका और मदनिका औशीनरी को धीरज बँधानी हुई कहती है कि पुरुषों का स्वभाव बड़ा विचित्र होता है, उनके हृदय में जब नारी के प्रेम की प्रथम रश्मि आलोकित होती है तब—

दुर्लभ स्वप्न-समान रम्य नारी नर को लगती है। किन्तु पुरुष की प्रकृति बड़ी अजीब होती है। वह मधुपर्शील होता है और उसको नित्य-नया भोग्य पदार्थ चाहिए। ग्रीवा में झूलती हुई पुष्प-मालिका उसको पसन्द नहीं, पैरों में बिखरी चाँदनी उसे नहीं भाती; उसको तो नित्य नया पुष्प चाहिए—

क्षण-क्षण प्रकटे, दुरे, छिपे फिर-फिर जो चुम्बन लेकर,
ले समेट जो निज को प्रिय के क्षुधित अंक में देकर,
जो सपने के सवश बाहु में उड़ी-उड़ी आती हो,
और लहर-सी लौट तिमिर में डूब-डूब जाती हो,

प्रियतम को रख सके निमज्जित जो अतृप्ति के रस में,
पुरुष बड़े सुख से रहता है उस प्रमदा के बस में ।

(उर्वशी, पृ० ३५-३३)

(इन शब्दों को सुनकर औशीनरी कहती है कि वह रानी होकर भी अप्सरा से हार गई । मदनिका का विचार है कि ‘जब तक रस-दृष्टि है, तब तक जीवन मे रसोद्वेग है ।’ पुरुष प्रकृति से ही चंचल है, इसलिए वह एक ही नारी के साथ बंध नहीं पाता । उसको संसार मे नारी-शक्ति ही पराजित कर पाती है ।

इसी समय कचुकी का प्रवेश होता है । वह सूचना देता है कि जो सैनिक महाराज को गन्धमादन पर्वत तक छोड़ने गये थे वे सक्षेम राजा को छोड़कर वापिस आ गये है तथा वे महाराज का निम्न संदेश महारानी के लिये लाये है—

“यहाँ का जलवायु बहुत सुखद है । यहाँ की स्वास्थ्यदायी पवन, शीतल जल वाली भीलें, लम्बे-लम्बे चीड़ के वृक्ष और पहाड़ों पर हिमराशि मुझे काफी रुचती है लेकिन एक वशधर के बिना सब-कुछ सूना लगता है । हे प्रियतमे ! क्या कभी अपने घर मे प्रेम का दीपक नहीं जलेगा ? क्या यह दिव्य एलवश आगे नहीं चल सकेगा ! अतः तुम ईश्वर से पुत्रेच्छा की प्रार्थना करती रहो । देखना, तुम्हारी धर्म-साधना में कहीं किसी प्रकार की त्रुटि नहीं होनी चाहिए । मैं भी, यहाँ ईश्वर के आराधन में रत रहकर कुल-दीपक की पेषणा करता रहूँगा ।”

इस पर रानी व्यंग्य करती हुई कहती है कि—

हाँ, अनोखी साधना है,
अप्सरा के संग रमना ईश की आराधना है !
पुत्र पाने के लिये विहरा करें वे कुंज-वन में,
और मैं आराधना करती रहूँ सूने भवन में । (उर्वशी, पृ० ४०)

वह इसको अन्याय कहती है, किन्तु यह भी स्वीकार करती है कि यह अन्याय सहना ही पड़ेगा, क्योंकि नारी तो सहर्ष व्यथा-भार उठाने के लिये ही उत्पन्न हुई है । अतः एक पतिव्रता की भाँति वह पति की मंगल-कामना करती है—

तब भी मस्त अनुकूल हों,
मुझको मिलें जो शूल हों,
प्रियतम जहाँ भी हों, बिछे सर्वत्र पथ में फूल हों ।

(उर्वशी, पृ० ४०)

तृतीय अंक इस काव्य की आत्मा है । इस अंक में एक ओर जहाँ काव्यत्व की निर्मल लहरियाँ हैं वहाँ दूसरी ओर दर्शन की गहन गम्भीरता भी है ।

अंक का समारम्भ गन्धमादन पर्वत पर बैठे हुए पुरुरवा और उर्वशी के प्रेम-प्रसंग से होता है । पुरुरवा अनुभव करता है कि जब से उसका और उर्वशी का मिलन

हुआ है, तब से न जाने कितनी निशाएँ व्यतीत हो गई हैं। वह उर्वशी के सौन्दर्य में खो गया है कि उसके हृदय में कोई अन्य विचार अब आता ही नहीं है। उर्वशी भी अपनी विकलता के उद्गार प्रकट करती है।

राजा उर्वशी के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करता है। वह कहता है कि जब वह उर्वशी को राक्षस के हाथों से बचाकर उसकी सखियों के पास छोड़ आया था तो केवल शरीर ही साथ आया था, मन नहीं। मन तो उर्वशी के समीप ही रह गया था। राजा कहता है कि उसने यह विचार किया कि वह इन्द्र से उर्वशी को माँग ले, किन्तु वह कुछ कारणों से ऐसा न कर सका। इस पर उर्वशी ने कहा कि यदि याचना बुरी लगती थी तो उसका अपहरण क्यों नहीं किया। राजा उत्तर देता है कि उसकी दृष्टि में हरण और भिक्षाटन दोनों ही अपयशमूलक हैं। उसके अनुसार अनासक्ति इच्छाओं तक ही सीमित नहीं है अपितु वह प्रणय को भी पवित्र करती है, और यही उसके जीवन का अपर-लक्ष्य है। उर्वशी यह सुनकर स्तब्ध हो जाती है क्योंकि देवों की जिस शीतलता को छोड़कर वह उस धरा पर आई थी वहाँ पुरुरवा के चित्त में भी उमी का अंश दृष्टिगोचर होने लगा। भयाक्रान्त होकर उर्वशी कहती है—

‘तन से मुझको कसे हुए अपने दृढ़ आलिगन में,
मन से, किन्तु, विषण्ण दूर तुम कहाँ चले जाते हो ?

(उर्वशी, पृ० ४७)

राजा कहता है कि सौन्दर्य का निमग्न एक आग-सी लगा देता है और जब वह उसका पान करना चाहता है तो हृदय से एक आवाज उठती है—

किन्तु, रस के पात्र पर ज्यों ही लगाता हूँ अधर को,
घूँट या दो घूँट पीते ही,
न जाने, किस अतल से नाव यह आता,
‘अभी तक भी न समझा ?

दृष्टि का जो पेय है, वह रक्त का भोजन नहीं है।
रूप की आराधना का मार्ग आलिगन नहीं है।’

(उर्वशी, पृ० ४९)

अतः शारीरिक सौन्दर्य से अलग हटकर जब वह उर्वशी को एकान्त मन से देखता है तो उसके भाव व्यष्टि से समिष्ट की ओर चल पड़ते हैं और समस्त लोकों में उसे केवल उर्वशी के सौन्दर्य के ही दर्शन होते हैं।

पुरुरवा की ऐसी मनःस्थिति देखकर उर्वशी व्याकुल तो होती है किन्तु वह पुरुरवा के चित्त में इस धारणा का उपस्थापन कराना चाहती है कि उसमें मनुजत्व और देवत्व दोनों ही निवास करते हैं। पुरुरवा ‘बुद्धिवादी’ बनकर उर्वशी के इस कथन पर विचार करता है, तो उर्वशी रक्त की अपेक्षा बुद्धि की हेयता सिद्ध करती है। वह

पुरूरवा से अनुरोध करती है कि वैराग्यवादी भावना को छोड़कर ‘रक्त की भाषा’ को पढ़े और उसके अनुकूल कार्य करे।

राजा उर्वशी का समर्थन करते हुए कहता है कि वह ठीक कहती है, क्योंकि प्रेम दाह-मात्र ही नहीं है, यह तो अमृत-शिखा भी है। वह स्वीकार करता है कि नर-नारी का सम्मिलन ही अन्तरात्मा को ऊर्ध्वगामी बनाता है। परिणामस्वरूप, पयःश्वेता रजनी में प्रेमी प्रगाढ़ आलिंगन में बद्ध प्रशान्त धारा में प्रवाहित होते हैं। उर्वशी चाहती है कि काल, निमिष, पल, दिवस, मास, वर्ष में विभक्त न होकर अबाध अखण्ड बहता रहे। उधर पुरूरवा की इच्छा है कि उषा का आगमन न हो। महाकाल ही वर्तमान और भविष्यत् को अपने में समाहित किये उस विराट् चेतना में मिल गया है, जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की सूत्रधार एवं संचालिका है।

इसके पश्चात् वे दोनों शरीरातिशायी रस में मग्न होकर एक अनिवर्चनीय अगोचर सुख का अनुभव करने लगे। उसी समय उर्वशी प्रश्न करती है कि क्या ईश्वर और प्रकृति दो हैं ? क्या ईश्वर प्रकृति का प्रतिबल है, उसका प्रतियोगी है ? क्या दोनों एक साथ नहीं चल सकते ? क्या प्रकृति ईश्वर का शत्रु बनकर उत्पन्न हुई है ? अथवा, क्या ईश्वर ही प्रकृति से रुष्ट है ? फिर स्वयं ही विस्तार से वह इन प्रश्नों का समाधान करती है तथा पुरूरवा के चित्त में प्रकृति और संन्यास में अभेद स्थापित करने का प्रयत्न करती है। वह स्पष्ट करती है कि प्रकृति और परमेश्वर में कोई भेद नहीं है। उसका विचार है कि जिसका अन्तर प्रकृति के रस में मिला है वही परमेश्वर को प्राप्त कर सकता है। द्वैत तो मानव-मन का भ्रम है, क्योंकि जब तक श्वेत-श्याम खण्डों में प्रकृति विभक्त है तभी तक माया का मिथ्या प्रवाह दृष्टिगोचर होता है। केवल मूढ़ ईश्वर की प्राप्ति के लिए प्रकृति से दूर भागते हैं, किन्तु ऐसा करते समय ये लोग यह नहीं जानते कि वे स्वयं प्रकृति के अभिन्न अंग हैं। उर्वशी के अनुसार शूल-फूल, जल-कमल और कर्दम में कोई विभिन्नता नहीं है। प्रकृति तो जीवन की सहज रीति है अतः पुरुष और प्रकृति में कोई भेद नहीं रह जाता; और अंग्रेज लेखक डी० एच० लारेंस की भाषा में वह कहती है कि नर-नारी का पारस्परिक ज्ञान ईश्वरीय ही है। इसीलिए वह पुरूरवा को प्रेरित करती हुई स्पष्ट करती है कि काम को मुक्ति की दिशा दिखाने वाला समझकर हमको इसके माध्यम से उस ईश्वर की सहज, शान्त और आनन्दमयी धारा में बहते रहना चाहिए।

राजा पुरूरवा उर्वशी के असीम सौन्दर्य तथा इस मादक कथन में इतना सारा बोर हो जाता है कि वह अपने-आपको भूलकर उसके अप्रतिम रूप में पूर्णरूपेण खे जाता है। उसको वह सौन्दर्य साधारण जननी का दिया नहीं लगता, अतः वह उर्वशी से पूछता है कि आकाश से ? महा सिन्धु से ? अथवा नारायण महर्षि की उद्भा तपस्या के परिणामस्वरूप माता बिना मात्र ऋषि की कामेच्छा से तपःपुत्र नर व समस्त संचित तप की आभा-सी प्रकट हुई होगी ? परन्तु उर्वशी पुनः स्पष्ट करती :

कि वह एक नारी है, जिसका इतिहास प्रकृति की प्रणय-कथा मात्र है। राजा कहता है कि उर्वशी के 'देव प्रसूता' नारी होने के कारण उसके मुख को निर्निमेष देखते हुए वह प्रलय के वज्राघातो को भी सहने के लिए उद्यत है।

उर्वशी कहती है कि उसके जीवन का साफल्य इसी में है कि वह एक नारी है। वह अपने को अवचेतन प्राण की प्रभा बताती है तथा घोषित करती है कि वह रूप-रंग गंधपूर्ण साकार कमल है, सौन्दर्य-चेतना की तरंग है, मन की अग्नि है और इसी कारण समस्त ससार की विजेता है। गजराज, केसरी, शरभ और शार्ङ्ग सभी उसके ममक्ष नतमस्तक हैं। वह देश-काल की सीमाओं से परे है—

मैं देश-काल से परे चिरन्तन नारी हूँ।

मैं आत्मतन्त्र यौवन की नित्य नवीन प्रभा,

रूपसी अमर मैं चिर-युवती सुकुमारी हूँ।

तुम त्रिभुवन में अथवा त्रिकाल में जहाँ कहीं भी हो,

अन्तर में धँस धरो सरिता, समुद्र, गिरि, वन मेरे व्यवधान नहीं।

मैं भूत भविष्यत्, दत्तमान की कृत्रिम बाधा से विमुक्त;

मैं विश्वप्रिया।

(उर्वशी, पृ० ६६-१००)

इसको सुनकर राजा ने कृतज्ञ भाव से कहा कि वह केवल एक नारी ही नहीं है, अपितु संहित नारी है और वह स्वयम् एक नर है। वह उसकी चिरन्तन प्रिया है, अतः अतीत में वे दोनों प्रेमी-प्रेमिका थे और भविष्य में भी रहेंगे।

प्रेमालाप के इन मधुरिम क्षणों में, एक वर्ष यों ही बीत गया। निशा का अवसान हुआ और मरीचिमाली ने अपनी अरुणिमा से उस स्थल को रूपहला कर दिया। उर्वशी ने कहा कि गन्धमादन पर अभिसार करते हमें एक वर्ष हो गया, अतः अब हमें वियुक्त होना ही पड़ेगा। पुरुरवा यज्ञ-हेतु राजभवन जाने के लिए तत्पर है, अतः अनिश्चित काल के लिए युगल प्रेमी एक-दूसरे से अलग हो जाते हैं।

चतुर्थ अंक में च्यवन-सुकन्या के आश्रम में पुरुरवा-उर्वशी के पुत्र आयु का पालन-पोषण होता हुआ दिखाया गया है। आश्रम में महर्षि च्यवन की पत्नी सुकन्या नवजात-शिशु को गोद में लिए खड़ी है। उसी समय चित्रलेखा प्रवेश करती है। उसके पदचाप से आयु की निद्रा भग्न हो जाती है। सुकन्या नभ और पृथ्वी के उस शिशु-मेल पर आश्चर्य करती है। इसके विपरीत चित्रलेखा पृथ्वी और नभ में कोई अन्तर नहीं मानती। वह कहती है कि कभी-कभी शून्य नभ में भी रंगीन इन्द्रधनुषी कांति उग आती है। इस पर सुकन्या पूछती है—तब विरक्त अम्बर की क्या दशा होती है ?

इसी स्थल पर सुकन्या और च्यवन की अवान्तर कथा का नियोजन किया है। सुकन्या ने समाधिस्थ महर्षि च्यवन की आँखों की पलकें खींचकर उसकी तपस्या भग कर दी थी, किन्तु मुनि ने इसे छापने तप का सुफल जानकर उसे वरण करने के

लिए यौवन ग्रहण किया। सुकन्या को अपने महर्षि-पति पर निस्सीम गर्व है, क्योंकि उनके प्रेम में तन तथा मन दोनों निःसंज्ञ हो जाते हैं। उसका मत है कि मनुष्य सच्चा प्रेम इसलिए प्राप्त कर पाता है कि वह कालजयी नहीं है। चित्रलेखा सुकन्या के मत का समर्थन करती है और कहती है कि वह भी प्रेम की वेदी पर तप के बलिदान को श्रेष्ठ समझती है और केवल मानसी प्रेम की अपेक्षा उस प्रेम को उत्तम समझती है जिसमें तन और मन एक-दूसरे में पूर्ण रूपेण खो जाते हैं। इस प्रकार के प्रेम का आनन्द भी वही ले पाता है जो योगी रहा है। सुकन्या कहती है कि स्वयम् एक-चारिणी होने के नाते वह विविध स्वादों को नहीं जानती परन्तु इतना अवश्य समझती है कि अस्थिर रसास्वाद अन्त में दुःखदायी होता है, क्योंकि जब तक यौवन रहता है तभी तक मधुप रस लेते हैं, अतः जीवन में सौंदर्य रहते किसी एक का जीवन-साथी बन जाना ही उपयुक्त है। चित्रलेखा सुकन्या के इस कथन से सहमत नहीं होती है। इस पर सुकन्या ने उत्तर दिया कि अप्सरा होने के कारण उसका यौवन समाप्त नहीं होगा किन्तु वह स्वयम् इस पृथ्वी की वासिनी है अतः वह जराक्रान्त होकर नष्ट हो जायेगी। इसी समय चित्रलेखा पूछती है कि क्या वह महर्षि की समाधि को भंग करने पर भयाकुल हुई थी? उसके इस प्रश्न का उत्तर सुकन्या ने इस प्रकार दिया—“च्यवन ऋषि बहुत बड़े तपस्वी थे। एक बार वे नर्मदा के तट पर घोर तप करते हुए बहुत दिनों तक समाधिस्थ रहे। परिणामस्वरूप, उनका शरीर दीमकों से ढक गया और केवल आँखें चमकती रही। भाग्यवश वह उनके आश्रम में पहुँची और उनकी आँखों को जुगनू समझकर कोतूहल से पलकें खींच ली। ऋषि समाधि भंग होने पर क्रुद्ध हुए, किन्तु वह प्रायश्चित्त से आँखें भुकाये खड़ी रही। यह दृश्य देखकर ऋषि का क्रोध दूर हो गया और समस्त क्रोधाग्नि शीतल प्रेम में परिवर्तित हो गई। ऋषि ने समझा कि सुकन्या को परब्रह्म ने प्रसन्न होकर सिद्धि के रूप में उनके पास भेजा है। अतः ऋषि ने उससे जीवन-संगिनी बनने की याचना की। परिणामस्वरूप दोनों ने एक-दूसरे का वरण कर लिया।”

इस प्रसंग से सुकन्या के मुख से तथाकथित प्रेम-संन्यास का समन्वय दिखाया गया है। संन्यासी होते हुए भी जब च्यवन ऋषि सुकन्या को अपने बाहुपाश में बाँधने के लिए उत्सुक हो उठते हैं, तब पाठकों को प्रकृति और संन्यास का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध दृष्टिगत होता है। यहाँ हमें ऋषि का नारी-विषयक दृष्टिकोण भी स्पष्ट हो जाता है। वह स्त्री को महासेतु कहते हैं—

नारी ही वह महासेतु जिस पर अदृश्य से चलकर
नये मनुज, नव प्राणभृद्दृश्य जग में आते रहते हैं।
नारी ही वह कोष्ठ, देव, दानव, मनुष्य से छिपकर
ब्रह्मशून्य, चुपचाप, जहाँ आकार ग्रहण करता है।

इसी समय उर्वशी का प्रवेश होता है। वह आते ही अपने पुत्र आयु को गोद में लेकर हृदय से लगा लेती है और उसके सम्बन्ध में देखे गये स्वप्नों की चर्चा करती है। वह सोचती है कि आयु अपने पिता के सदृश प्रबल और पराक्रमी बनेगा और भू-मण्डल के सन्तापों को दूर करेगा। जब वह राजा बनेगा तो समस्त पृथ्वी धन-धान्यवती हो जायेगी, संसार के समस्त रोग-शोक तथा पाप-परिताप नष्ट हो जायेंगे तथा सभी मनुष्य चिरायु होंगे। इसीलिए इसका नाम आयु है। परन्तु उसे दुःख है कि वह पुत्र की चर्चा पुरुरवा से नहीं कर सकती, क्योंकि भरत-शाप के कारण ऐसा करने पर उसे वियुक्त होना पड़ेगा—

और विषयता यह तो देखो, मैं अभागिन नारी
दिखा नहीं सकती, सुत का मुख अपने ही स्वामी को,
न तो पुत्र के लिए स्नेह स्वामी का तज सकती हूँ।

(उर्वशी, पृ० १२१)

सुकन्या कहती है क्रूरकर्मा भरत बड़े ही कठोर है जो उन्होंने ऐसा शाप दिया कि पति-पुत्र में से केवल एक ही उसे प्राप्त हो सकता है। इससे तो यह अच्छा होता कि वह उर्वशी को ही समाप्त कर देते। इस प्रकार चित्रलेखा-सुकन्या, सुकन्या-उर्वशी एवं उर्वशी-चित्रलेखा के बीच भरत के शाप, मातृत्व तथा शाप की कठोरता के विषय में काफी सम्वाद होता है। उर्वशी यह स्पष्ट करती है कि माता वह नहीं जो पुत्र को केवल जन्म देती है, अपितु वास्तविक माँ वह है जो सीने से लगाकर बच्चे का लालन-पालन करती है। अतः आयु की माँ उर्वशी नहीं, सुकन्या है, क्योंकि जन्म देने वाले से पालने वाला बड़ा है।

उर्वशी को शीघ्र ही प्रस्थान करना है इसलिए आयु आश्रम में ही पालित होता है। उर्वशी अपने स्वार्थ को पीछे हटा कर सुकन्या को यह पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान करती है कि जब वह उचित समझे, आयु को उसके पिता के पास भेज सकती है। वह यह अच्छी प्रकार से जानती है कि उसके ऊपर तो दुःख का पहाड़ एक न एक दिन टूटना ही है, अतः पुत्र के स्वर्णिम भविष्य को अपने सुख के लिए क्यों व्यर्थ में नष्ट करे।

सुकन्या इसका समर्थन करती है और आश्वासन देती है कि वह आयु को पूर्ण मनोयोग से पालेगी। वह उसको समझाती है कि राजभवन में आयु को भेजना निरापद नहीं है, क्योंकि रानी कितनी ही उदार और दयालु हो, परन्तु विमाता विमाता ही होती है। वह पुनः आयु को उर्वशी की गोद से ले लेती है और उर्वशी को आशा दिलाती है, कि आश्रम में आयु को किसी प्रकार का भी अभाव नहीं होने दिया जायेगा। शैशवावस्था में वह पशु-पक्षियों के साथ आनन्दपूर्वक क्रीडा करेगा, बड़ा होकर गाय चराया करेगा तथा यज्ञ-वेदी पर बैठकर मंत्रादि का उच्चारण कर विद्वान् बनेगा। इसके पश्चात् वह उसे राजमहल में पहुँचा आयेगी।

शस्त्र-शास्त्र-निष्णात, अंग से बली, विभासित मन से,
जब अपना यह आयु पूर्ण कैंशोर प्राप्त कर लेगा
पहुँचा दूँगी स्वयं इसे लेजाकर राज-भवन में ?
तब तक जा, पीयूष पान कर तू मृण्मयी मही का,
चिन्ता-रहित, अशंक, आयु को कोई त्रास नहीं है ।

(उर्वशी, पृ० १३०)

आयु की ओर से पूर्ण-निश्चिन्त होकर उर्वशी और चित्रलेखा अन्य मनस्क भाव से च्यवनाश्रम से प्रस्थान करती है ।

॥ पाचवें अंक में प्रतिष्ठानपुर के राजमहल का दृश्य दिखाया गया है । उर्वशी राजा पुरुरवा के पास चली आती है । यहाँ आये हुए उसे सोलह वर्ष हो गये हैं । एक रात राजा एक विचित्र स्वप्न देखते हैं । राजा की राजसभा में राजा स्वयम्, उर्वशी, महामात्य, राज-ज्योतिषी, राज-पंडित तथा अन्य सभासद बैठे हैं । परिचारक व परिचारिकाएँ यथास्थान बैठे या खड़े हैं । राजा अत्यन्त चिन्ताग्रस्त मुद्रा में है । कुछ समय तक सभी मौन रहते हैं । इसके बाद महामात्य मौन-भंग कर महाराज की चिन्ता का कारण पूछते हैं । राजा अपनी व्यग्रता का कारण बताते हुए कहते हैं कि उन्होंने रात्रि में एक विलक्षण स्वप्न देखा है । स्वप्न इस प्रकार है—

“प्रतिष्ठानपुर में काफी शोर-गुल है । नगर-निवासी कहीं से बट-वृक्ष का पौधा लाये हैं और उसे कच्चे दूध से पूजते हैं । राजा भी दुग्ध-कलश लेकर उसकी अर्चना-हेतु जाते हैं, किन्तु कोई भी पुरवासी उनकी ओर नहीं देखता है । निराश होकर वह हाथी पर चढ़कर नगर से बाहर जंगल में चले जाते हैं । जंगल में हाथी से उतर कर वह जब इधर-उधर देखते हैं तो यकायक हाथी कहीं खो जाता है । निर्जन वन में भटकते हुए राजा महर्षि च्यवन के आश्रम में पहुँच जाता है । वहाँ उसे एक ऋषि कुमार दिखाई देता है । इस ऋषि-कुमार का व्यक्तित्व अत्यन्त आकर्षक था । उसे गोद में लेने को राजा व्यग्र हो उठा, किन्तु जैसे ही उसे पकड़ने के लिये वह आगे बढ़ा, वह कुमार कहीं अन्धकार में अगोचर हो गया ।

इसके पश्चात् राजा को प्रत्येक लता-कुञ्ज में अपनी प्रियतमा उर्वशी का मुँह दिखाई देने लगा । किन्तु जिधर भी वह स्पर्श करने को बढ़ता उसी ओर वह कुमुद-आनन पुष्प-पत्तों की हरियाली में छिप जाता था । इस प्रकार चकित, विस्मित और भयभीत होकर वह अवनीतल को छोड़कर ऊर्ध्वगगन पर पहुँच जाता है और प्रातः आँख खुलने तक जलद-खण्ड-सा तैरता रहता है ।”

राजा का स्वप्न सुन कर सभासदों को बड़ा आश्चर्य हुआ । उन्होंने राज-ज्योतिषी विश्वमना से इसका फल पूछा । विश्वमना ने गणना कर बताया कि प्राण-दशा में शनि ने प्रवेश किया है और सूक्ष्म में मंगल पड़े हुए हैं अतः आज ही सन्ध्या तक आपको पुत्र की प्राप्ति होगी—

अन्य योग जो हैं, उनके अनुसार, आज सन्ध्या तक
आप प्रव्रजित हो जायेंगे अपने वीर तनय को
राज-पाट, धन धाम सौंप, अपना किरोट पहनाकर ।

(उर्वशी, पृ० १३६)

यह सब सुनकर पास बैठी उर्वशी असंज होजाती है, क्योंकि उसके समक्ष सम्पूर्ण पुरावृत्त चित्रपट के समान आँखों के समक्ष घूमने लगता है । वह यकायक कह उठती है—

आह ! क्रूर अभिशाप ! तुम्हारी ज्वाला बड़ी प्रबल है ।

अरी, जली, मैं जली, अपाले ! और तनिक पानी दे ।

महाराज ! मुझ हतभागी का कोई दोष नहीं है ।

(उर्वशी, पृ० १३६)

राजा उर्वशी के इन शब्दों को सुनकर स्तब्ध रह जाते हैं और पूछते हैं, 'कौन-सा अभिशाप ? कहाँ की ज्वाला ? तुम्हारी यह कैसी विकलता है ? तुम किस चिन्ता से ग्रसित हो ? तुम्हारे बिना तो मैं भी नहीं रह सकता ।'

फलादेश देने पर विश्वमना स्वयम् चकित है कि जब राजा के कोई पुत्र ही नहीं तो सन्ध्या तक कौन राजा बनेगा और राजा पुरुरवा कैसे प्रव्रजित हो जायेंगे ?

इसी समय प्रतिहारी ने प्रदेश कर एक ब्रह्मचारी के साथ सुकन्या के आने का सन्देश दिया और सूचित किया कि वह स्वामिनी उर्वशी से मिलना चाहती है । सुकन्या आयु के साथ दरबार में उपस्थित हो जाती है । पुरुरवा तापसी को नमस्कार करते हैं और आश्रम की कुशलक्षेम पूछते हैं । सुकन्या उन्हें आशीर्वाद देती हैं और उर्वशी से कहती हैं कि महर्षि की आज्ञा से वह उस धरोहर को लौटाने आई हैं जो तोलह वर्ष पूर्व उसे सौंपी गई थी । इसके पश्चात् वह आयु से माता-पिता को प्रणाम करने को कहती हैं । आयु पहले माता को पुनः पिता को प्रणाम करता है । पुरुरवा पुत्रवान होने का अभिज्ञान प्राप्त कर हर्षोन्माद से भर जाते हैं और हर्षातिरेक में कोषभवन का द्वार खोलने का आदेश देते हैं । पुनः राज्याभिषेक की तैयारी की आज्ञा देते हुए उर्वशी से पूछते हैं—“देवी ! ऐलवश का यह दीप कब प्रदीप्त हुआ था ?” उर्वशी उन्हें उसके जन्म का वृत्तान्त बतलाती हैं कि सोलह वर्ष पूर्व जब राजा पुत्रोष्टि यज्ञ में संलग्न थे तब इसका जन्म च्यवनाश्रम में हुआ था । पुरुरवा आयु को गले लगाते हैं ।

तदनन्तर राजा उर्वशी की ओर मुड़कर देखते हैं, किन्तु तब तक उर्वशी अन्तधान हो चुकी है । महामात्य राजा का ध्यान उर्वशी की अनुपस्थिति की ओर आकृष्ट करते हैं । सुकन्या उन्हें भरतशाप की बात समझाती हैं और सूचित करती हैं कि उर्वशी अब देवलोक पहुँच चुकी हैं । भरतशाप के बारे में विस्तार में राजा को इस प्रकार बताती हैं—‘एक बार राजा पुरुरवा के दर्शन से उन्मत्त उर्वशी से नृत्य में कुछ

त्रुटि हो गई थी, जिसके फलस्वरूप भरत ने शाप दिया था कि पति और पुत्र में से वह एक को ही प्राप्त कर सकेगी तथा पिता-पुत्र के पारस्परिक मिलन पर मर्त्यलोक में न रह सकेगी ।”

सुकन्या राजा को बताती है कि उसको शाप का यह रहस्य ज्ञात था, किन्तु आयु को उसके अधिकार से अधिक वंचित नहीं रखा जा सकता था। अतः वह राजा को समझाती है कि वह शोक-सन्ताप को त्याग दें और पुत्र को उसका अधिकार दे दें।

राजा सुकन्या से भरत-शाप की बात सुनकर अत्यन्त क्रोधित होते है और इन्द्र पर आक्रमण कर नभ को विजित करने का प्रस्ताव करते है—

लाओ मेरा धनुष, सजाओ गगन-जयी स्यन्दन को,
सखा नहीं बन शत्रु स्वर्ग-पुर मुझे आज जाना है ।
और दिखाना है, दाहकता किसकी अधिक प्रबल है,
भरत-शाप की या पुरूरवा के प्रचण्ड बाणों की।

(उर्वशी, पृ० १४५)

क्योंकि वह देवताओं को यह बता देना चाहते है कि—

“उर्वशी कहीं जनमी हो,

देवों की अप्सरा नहीं, बह मेरी प्राण प्रिया है। (उर्वशी, पृ० १४६)

राजा की उत्तेजना देख महामात्य उन्हें समझाते है कि देवों से युद्ध उचित नहीं है, क्योंकि इससे असुर अनुचित लाभ उठाने का प्रयास करेंगे। वह इस तथ्य को स्वीकार करते है कि इस युद्ध में देवताओं की पराजय होगी, किन्तु असुरों की संगति से सब भ्रष्ट हो जायेंगे।

पुरूरवा इसे कायरता मानता है और कहता है कि महामात्य देवों की माया और इन्द्र के कठोर वज्र से डरते है। इसी समय नेपथ्य से चन्द्रकुल का ‘प्रारब्ध’ बोलता है कि कर्मानुसार मनुष्य फल भोगता ही है। प्रारब्ध घटित अवश्य होता है। मनुष्य को अपने अन्तर को देखना चाहिए। संयोग का अन्तिम परिणाम वियोग ही है तथा सुख-दुःख का जोड़ा है। इस अवस्था में तो कामिनी नहीं, ईश्वराधना ही कल्याण कर सकती है।

धीरे-धीरे राजा का चित्त प्रतिक्रिया की भावना से मुक्त होकर शांत हो जाता है, वह अन्तर्द्वन्द्व से निकल आता है। उसे आत्मिक ज्ञान होता है कि देवता मनुष्य का श्रेष्ठ रूप है अतः दुष्ट प्रवृत्ति के द्वारा अपनी ही श्रेष्ठ प्रवृत्ति का हनन नहीं करना चाहिए। इसलिए वह आयु का अभिषेक कर अभिनिष्क्रमण कर जाते हैं। इसी स्थल पर औशीनरी प्रवेश करती है। सम्पूर्ण वृत्तान्त सुनकर वह स्तम्भित हो जाती है। पति का बिना किसी पूर्व-सूचना के सदा के लिए चला जाना उसे असीम वेदना पहुँचाता है। वह आयु को अपने अंक में भर लेती है। कारण; उसके मातृत्व के अमृत का सरोवर सदा से भरा रहा है। वह विषण्ण मन से कहती है कि महाराज तो बहुत अधिक उदार और भावप्रवण थे। वह न जाने कैसे इस तथ्य को बिस्मरण कर

गये कि इस दानवाकृति जैसे इस बड़े निलय में कोई अखण्ड व्रतमयी उन्हीं के समाराधन में लीन है। मैथिलीशरण गुप्त की यशोधरा की वाणी में वह कहती है—“महाराज ने अन्तिम बार पद-धूलि भी नहीं लेने दी यह वेदना उसको सदा सताती रहेगी।” सुकन्या उसे सान्त्वना देती है और कहती है कि गृहस्थ के मोह में पड़कर मनुष्य त्याग नहीं कर पाता। वह कहती है कि नारी तो प्रेरणा, प्रीति और करुणा का रूप है। वह तो नर के लिए सर्वस्व का त्याग करने में ही अपने को भाग्यशाली समझती है।

रानी औशीनरी सुकन्या के इन शब्दों को सुनकर गदगद हो जाती है। वह अपने भाग्य से समझौता कर लेती है और भावी नारियों के लिए सुखमय जीवन की कामना करती है। आयु भी उसे धैर्य बँधाता है, क्योंकि, घटनीय तो घट चुका—

माँ ! हताश मत हो, भविष्य वह चाहे कहीं छिपा हो,
मैं आया हूँ अग्रदूत बन उसी स्वर्ग-जीवन का।

...

...

...

अब मैं होकर युवा खोजते हुए यहाँ आया हूँ
राज-मुकुट को नहीं, तीसरी माँ के ही चरणों को
माँ में पीछे नृप किशोर, पहले तेरा बेटा हूँ।

(उर्वशी, पृ० १६५)

रानी आयु को वक्ष से लगा लेती है और अपने आँसू पौछ लेती है। सुकन्या भी यह सोचकर कि ऐलवंश का प्रवाह अब सानन्द चलेगा, तपोवन को लौट जाती है। उसका सन्देश है कि त्यागी सांसारिक प्रपञ्चों में अधिक नहीं रुकते—

त्यागमयी हम कभी नहीं रुकती हैं अधिक समय तक
इतिहासों की आग बुझा कर भी उसके पृष्ठों में।

(उर्वशी, पृ० १६६)

यहाँ कथा समाप्त हो जाती है।

कथानक की ऐतिहासिकता

[अन्य रचनाओं की भाँति ‘दिनकर’ जी की इस सर्वश्रेष्ठ रचना की आधार-भूमि ओजस्विता, सरलता, सरसता, समरसता तथा कर्तव्यनिष्ठा, आदि गुण है। ‘दिनकर’ जी प्रमुखतः दाह के कवि है तथा वह इसी पृथ्वी को स्वर्ग में परिवर्तित करने की कल्पना करते हैं। उर्वशी में उनकी यही प्रेरणा कार्य करती है। समस्त काव्य में, जैसा ‘दिनकर’ जी के जीवन में था, माधुर्य के साथ पावक का समुचित समन्वय किया गया है। समस्त काव्य का प्रेरणा-स्रोत उनका हृदय है। ‘उर्वशी’ की भूमिका में वह स्वीकार करते हैं कि इस काव्य के निर्माण में कोई गुह्य प्रेरणा रही है। वह लिखते हैं—

“युक्ति तो यही कहती है कि नकाब पहन कर असली चेहरे को छिपा लेने से पुण्य नहीं बढ़ता होगा। फिर भी हर आदमी नकाब लगाता है, क्योंकि नकाब पहने बिना घर से निकलने की, समाज की ओर से, मनाही है।”

किन्तु, उस प्रेरणा पर तो मैंने कुछ कहा ही नहीं जिसने आठ वर्ष तक ग्रसित रखकर यह काव्य मुझसे लिखवा लिया ।

अकथनीय विषय !

शायद अपने से अलग करके मैं उसे देख नहीं सकता, शायद, वह अलिखित रह गयी, शायद वह इस पुस्तक में व्याप्त है ।” (भूमिका, पृ० ‘ज’)

यह प्रेरणा सम्पूर्ण कृति में व्याप्त हो गई है, और इसका संकेत स्थान-स्थान पर पात्र आकर दे जाते हैं—

तो अपने ही श्रेष्ठ रूप से मानव युद्ध करेगा

या उससे जो रूप अभी दानवी, दुष्ट, अमलिन है ? (पृ० १४८)

इस भाँति यह स्पष्ट होता है कि ‘दिनकर’ जी ने आन्तरिक भावों की अभिव्यक्ति के लिए ही इस काव्य की सर्जना की है । इसका प्रेरणा-स्रोत रचना-प्रक्रिया में, सर्जक में ही निहित है ।”]

‘उर्वशी’ की कथावस्तु के स्रोत

काव्य-सृष्टि के लिए कथानक के दो प्रमुख स्रोत होते हैं । प्रथम कल्पना और द्वितीय इतिहास । जो काव्य पूर्णरूपेण कल्पना पर आधारित होता है उसमें कवि अपनी ही कल्पना से कथावस्तु और उसके पात्रों का निर्माण करता है । इस प्रकार के काव्य में कथानक और पात्र काल्पनिक होने पर भी जिस निष्कर्ष का प्रतिपादन किया जाता है वह मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सत्य होता है । काव्य का यह सत्य शाश्वत और सरस होता है । इसके विपरीत पूर्णतः ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित रचना नीरस और अमनोवैज्ञानिक हो जाती है । इतिहासकार कवि की भाँति घटनाओं की तह में घुसकर उनका विश्लेषण नहीं करता, वह तो केवल घटनाचक्र का ब्यौरेवार वर्णन कर देता है । उसमें मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की कमी रहती है ।

वह काव्य जो ऐतिहासिक घटनाओं पर आधारित है उसमें इतिहास और कल्पना का समन्वय दृष्टिगोचर होता है । इस प्रकार के काव्य का रचयिता अपने कथानक और पात्रों को तो इतिहास से लेता है किन्तु वह अपनी कल्पना का पुट देकर नीरस ऐतिहासिक घटनाओं को सरस और मनोवैज्ञानिक बनाता है तथा एक शाश्वत सत्य को प्रतिपादित करने में सफल होता है । ऐतिहासिक कथानकों पर आधारित काव्य का रचयिता अपनी कल्पना का प्रयोग या तो सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक घटनाओं की कडी जोड़ने के लिये करता है, या छोटी-मोटी ऐतिहासिक घटनाओं को अभीप्सित रूप देने के लिए तथा प्रतिपाद्य की प्रभविष्णुता बढ़ाने के लिए करता है ।

अतः निष्कर्ष निकलता है कि ऐतिहासिक काव्य में दो तत्व आवश्यक रूप से विद्यमान होते हैं—ऐतिहासिक तत्व तथा कल्पना-तत्व । ‘उर्वशी’ प्रागैतिहासिक घट-

नाओं पर आधारित काव्य-रचना है, अतः इसकी ऐतिहासिकता का विवेचन करते समय उपयुक्त तथ्यों को ध्यान में रखा जायेगा ।

उर्वशी तथा पुरुरवा की कथा भारतीय साहित्य की बहुत प्राचीन धरोहर है । भारतीय वाङ्मय का एक बहुत बड़ा भाग इस कथा से जुड़ा हुआ है । इस कथा के प्रमुख चार स्रोत हैं, और ऐसा अनुभव होता है कि 'दिनकर' जी ने थोड़ा-थोड़ा सभी स्रोतों से लिया है और शेष को कल्पना से जोड़ दिया है । ये स्रोत हैं—

१. वैदिक साहित्य
२. आर्ष ग्रन्थ
३. पौराणिक कथाएँ
४. संस्कृत साहित्य

इन चारों स्रोतों में 'दिनकर' जी की 'उर्वशी' की ऐतिहासिकता मिलती है

इस कथा का सबसे प्राचीन उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है—

किमेता वाचा कृणवा तवाहं प्राक्रमिषमुषसामग्निदेव ।

पुरुरवः पुनरस्तं परेहि दुरापना वात इवाहमस्मि ॥

(ऋग्वेद, मं० १०, सूक्त ६५, मं० २)

ऋग्वेद के मण्डल १०, सूक्त ६५ के अठारह मन्त्रों में उर्वशी तथा पुरुरवा की कथा चित्रित की गई है । उनका मिलन, वियोग, पुत्रोत्पत्ति, आदि सवादात्मक शैली में वर्णन किये गए हैं । ऋग्वेद के अनुसार पुरुरवा ऐलवश के थे । वे देवता और उर्वशी ऋषिका दिखाई गई हैं । यही से सकेत पाकर 'दिनकर' जी उन्हें पुरुष और प्रकृति के रूप में दिखाते हैं । एन० एम० पेंजर अपनी पुस्तक 'द ओशन ऑफ स्टोरी' (The Ocean of Story) के पृष्ठ २४५ पर इस कथा को संसार की सबसे पुरानी प्रेम-कथा बताते हैं । विलियम विल्सन भी स्पष्ट करते हैं कि इतनी प्राचीन होने पर भी यह प्रेम-कथा अन्योक्तिपरक है । 'दिनकर' जी इसकी प्राचीनता की ओर सकेत करते हुए 'उर्वशी' की भूमिका में लिखते हैं— 'सृष्टि विकास की जिस प्रक्रिया के कर्तव्य-पक्ष का प्रतीक मनु और इडा का आख्यान है, उसी प्रक्रिया का भावना-पक्ष पुरुरवा और उर्वशी की कथा में कहा गया है ।' (उर्वशी 'भूमिका', पृ० 'ख').

'दिनकर' जी कृत 'उर्वशी' काव्य की ऐतिहासिकता का अध्ययन करते समय ऋग्वेद में आई इस कथा को विस्तार से जान लेना अति आवश्यक है । संहिता पाठ के अनुसार इस कथा की निम्न कड़ियाँ पाठकों के समक्ष प्रकट होती हैं—

पुरुरवा एक महान् व्यक्ति थे । वे राजा थे, जैसा तीसरे मन्त्र से विदित होता है । वह देवासुर संग्राम में राक्षसों के विरुद्ध लड़े थे । राजा ऐल वंशीय थे, जैसा कि उर्वशी निम्न मन्त्र में स्पष्ट करती है—

इति ला देवाः इम आहुरेल यथेमेतद्भवसि मृत्युबन्धुः ।

प्रजा ते देवान्हविषा यजाति स्वर्गं इत्वमपि मादयीस ॥

(ऋग्वेद, म० १०, सूक्त ६५, मन्त्र १८)

उर्वशी स्वयम् एक अप्सरा है। यह तथ्य नवें मन्त्र में पुरुरवा के कथन से स्पष्ट होता है। वह परम सुन्दरी थी जैसा मन्त्र १० से प्रकट होता है—

विद्युन्न या पतन्ती दविद्योद्भरन्ती मे अय्या काम्यानि ।

जनिष्टो अपो नर्मः सुजातः प्रोर्वशी तिरत दीर्घमायुः ॥

(वही, मन्त्र १०)

दोनों प्रेम-सम्बन्ध में बँध गये थे और चार वर्ष तक साथ-साथ रहे थे। राजा अत्यधिक विलास में डूबे रहने के कारण निस्तेज हो गये थे। प्रेम-सम्बन्धों के परिणाम-स्वरूप दोनों के एक पुत्र उत्पन्न हुआ था। इस पुत्र की प्राप्ति कही एकान्त में हुई थी। ऐसा मन्त्र सात से विदित होता है। इस मन्त्र में उर्वशी कहती है—

त्रिः स्म माह्नः शनथयो वंतसेनोत स्म मेऽव्यत्यं पृणासि ।

पुरुरवोऽनु ते केतमाय राजा मे वीर तन्व १ स्तदासीः ॥

(वही, मन्त्र ७)

वह पिता से जन्म के बाद काफी दिनों तक अलग रहा था। ऐसा मन्त्र १२ से विदित होता है जिसमें पुरुरवा कहते हैं कि वह समय कब आयेगा जबकि उनका पुत्र उनसे पिता कहेगा और पहचान कर आँसू बहायेगा—

कदा सूनुः पितरं जातः इच्छाचक्रन्नाश्रु वर्तय द्विजानम् ।

को दम्पति समनसा वियूयोदध यदाग्निः श्वशुरेषु दीदयत् ॥

(वही, मन्त्र १२)

पुत्र के राजा के समीप आ जाने पर उर्वशी वहाँ से चली गई, जैसा ऊपर के मन्त्र से ज्ञात होता है जिसमें पुरुरवा कहते हैं कि वह पुत्र कौन होगा जो हम पति-पत्नी को पृथक् करेगा। तेरहवें मन्त्र में उर्वशी भी इसी प्रकार के आशय को प्रकट करती हुई कहती है कि जब वह पुत्र को राजा के पास भेजेगी तो स्वयं राजा के घर से चली जायेगी और वह उसे रोक न सकेगा—

प्रति वावाणि वर्तयते अश्रु चक्रं न क्रन्ददाध्ये शिवायै ।

प्रतप्ते हिनावा यत्ते अस्मे परेह्यस्तं नहि मूर माप ॥

(वही, मन्त्र १३)

मन्त्र १७ से विदित होता है कि पुरुरवा और उर्वशी का अन्त में वियोग होता है। इस मन्त्र में राजा व्याकुल होकर उर्वशी से वापस आने का आग्रह करते हैं। किन्तु उर्वशी राजा से कहती है कि वह सन्तान को आहृतियों द्वारा देवों को सन्तुष्ट

करने दें, क्योंकि उनकी (राजा की) मृत्यु निकट है। तदनन्तर वह कहती है कि वे दोनों स्वर्ग में सुख भोगेंगे। इस कथा से स्पष्ट होता है कि पुरुरवा और उर्वशी के वियोग में कोई गृह्य रहस्य था, जिसका ज्ञान राजा को नहीं था। उर्वशी इसको जानती थी। पुत्र प्राप्त होने पर उर्वशी राजा के पास से चली जायेगी, इससे स्पष्ट संकेत मिलता है कि इसके पीछे कोई विवशता थी।

इन विवरणों के सदर्थ में 'दिनकर' जी की 'उर्वशी' का अध्ययन निस्सन्देह रूप से यह स्पष्ट करता है कि अपने काव्य-मृजन में कवि ने मुख्य-मुख्य ऐतिहासिक तथ्य ऋग्वेद में प्राप्त वर्णनों पर आधारित किये हैं। पुरुरवा का राजा होना, उर्वशी का अप्सरा होना, दोनों का प्रेम, पुत्र-प्राप्ति, पुत्र का पिता से बहुत समय तक अलग रहना और पिता तथा पुत्र के मिलते ही उर्वशी का अन्तर्धान हो जाना ऋग्वेद में प्राप्त ऐतिहासिक तथ्य है जिनको उर्वशीकार ने यथारूप में ले लिया है।

ऋग्वेद की यह कथा 'शतपथ ब्राह्मण' में और भी अधिक विस्तार और मोहक रूप में कही गई है। इस ग्रन्थ में उसकी मोहकता में प्रभावित होकर कुछ विद्वान् इसे ब्राह्मण-ग्रन्थों की मरुभूमि शाद्वल की संज्ञा देते हैं। इस ग्रन्थ की कथा का सार इस प्रकार है—

पुरुरवा एक राजा थे और उर्वशी अप्सरा थी। इन दोनों में प्रेम हो जाने पर उर्वशी ने राजा के साथ रहने के लिए तीन शर्तें रखी—(१) प्रतिदिन केवल तीन बार ही आलिंगन किया जायेगा, (२) बिना उर्वशी की इच्छा के राजा उसके पास नहीं सो सकेगा, (३) राजा उर्वशी के समक्ष नग्न अवस्था में नहीं आयेगा—

“उर्वशी हाप्सरा । पुरुरवसमैऽञ्चकमे तं ह विन्दमानोवाच त्रिः स्म माह्लो व्वत्सेन दण्डेन हतादकामा स्म मा निषद्यासै मो स्म त्वा नग्नं दर्शमेष वैन स्त्री-णामुपचारऽइति ।”

(शतपथ ब्राह्मण, काण्ड ११, अ० ५, ब्राह्मण १, मन्त्र १)

इन शर्तों को निबाहते हुए दोनों बहुत समय तक साथ-साथ रहे। गन्धर्व उर्वशी का वियोग और अधिक न सह सके। एक रात उन्होंने उर्वशी के मेष-शिशुओं को चुरा लिया। यह देखकर उर्वशी सहायता के लिए चिल्लाई। राजा, जो उस समय नगनावस्था में थे, इस पुकार को सुनकर तुरन्त दौड़े। गन्धर्वों ने अवसर देखकर प्रकाश कर दिया जिसमें राजा को नग्न देखकर उर्वशी प्रतिज्ञानुसार लुप्त हो गई।

पुरुरवा उसके लुप्त हो जाने से अत्यन्त दुःखी हुए और उसकी खोज में निकल पड़े। घूमते-घूमते वह कुरुक्षेत्र पहुँचे। वहाँ एक अन्यतः प्लक्ष नामक सरसी में कुछ अप्सराओं को हँसों के रूप में तैरते देखा—

सऽआध्या जल्पन्कुरुक्षेत्र समया चचारान्यतः प्लक्षेति विसवती तस्यै हाध्यन्तेन व्वावाज तद्धताऽअप्सरसऽआतपो भूत्वा परिपुलुविरे । (वही)

उनमें से एक हंस के रूप में स्वयम् उर्वशी है। वह राजा को पहचान लेती है और उसके समक्ष प्रकट होती है। उर्वशी के जाने के समय राजा बहुत दुखी होते हैं। उर्वशी द्रवित होकर कहती है कि जब राजा एक वर्ष बाद पुनः यहाँ आयेगा तो वह उसके साथ एक रात बितायेगी। और उसी समय उनके पुत्र का भी जन्म होगा। राजा ने ऐसा ही किया और वे दोनों एक वर्ष बाद एक स्वर्ण-भवन में मिले। राजा ने उर्वशी से इच्छा प्रकट की कि यह कितना अच्छा हो कि सदैव साथ-साथ रहें। गन्धर्वों से वर प्राप्त कर राजा गन्धर्व-लोक में पहुँच कर स्वर्ग-सुख भोगने के लिए सदैव के लिए उर्वशी से जा मिले।

ऐसा अनुभव होता है कि ‘दिनकर’ जी ने ‘शतपथ ब्राह्मण’ से कुछ नहीं लिया। उनके काव्य में न तो तीन शतों का जिक्र आता है और न गन्धर्वों आदि के लोक की कोई बात कही गई है।

आर्ष ग्रन्थों में ‘वाल्मीकि रामायण’ और ‘महाभारत’ को परिगणित किया जा सकता है। इन दोनों महाकाव्यों में भी पुरूरवा और उर्वशी का आंशिक वर्णन मिलता है। रामायण के उत्तरकाण्ड में ८७ से ९० सर्गों में पुरूरवा की जन्म-कथा का वर्णन है। यह कथा अश्वमेध यज्ञ के महत्व को दिखाने के लिए राम ने लक्ष्मण और भरत से कही है। कथा इस प्रकार है—

“पूर्वकाल में कर्दम प्रजापति का एक धार्मिक पुत्र था, जिसका नाम इल था। वह एक बार शिकार खेलने के लिए एक सुन्दर वन में गया। वहाँ उसने हजारों हिरनो को मारा परन्तु उससे सतृप्ति न हुई, अतः तदन्तर वह उस प्रदेश में गया जहाँ महासेन उत्पन्न हुआ था। वहाँ शंकर जी उमा के साथ स्त्री-रूप धारण करके रमण कर रहे थे। वहाँ का यह नियम था कि जो भी उस प्रदेश में पहुँच जाता था, वह स्त्री हो जाता था। परिणामस्वरूप इल भी स्त्री-रूप में परिणत हो गया। यह देखकर उसे अपार दुःख हुआ और वह भगवान् की शरण में पहुँचा। भगवती ने प्रसन्न हो उसे वरदान दिया कि वह एक मास पुरुष रहे और एक मास स्त्री। साथ ही यह भी कहा कि जब वह पुरुष हो जायेगा तब उसे नारीत्व का ज्ञान नहीं रहेगा और जब स्त्री होगा तब पुरुषत्व का ज्ञान नहीं रहेगा। स्त्री-अवस्था में इल का नाम इला हुआ। सोमपुत्र बुध उस पर मोहित हो गए और उनके संयोग से पुरूरवा का जन्म हुआ। इला से उत्पन्न होने के कारण उनका नाम ऐल भी है।”

बारहवें मास में अश्वमेध यज्ञ कर शिव को प्रसन्न कर इल ने पुनः पुरुषत्व ग्रहण किया और बाह्लीक त्याग मध्यदेश में प्रतिष्ठानपुर की स्थापना की। इसी स्थान के राजा पुरूरवा हुए।

इस प्रकार रामायण में केवल राजा पुरूरवा के जन्म की कथा ही कही गई है। ऐसा लगता है कि ‘दिनकर’ जी ने यही वंश-परम्परा अपने काव्य में ग्रहण की है, यद्यपि इसको इतने विस्तार से नहीं दिखाया गया है।

इसी प्रकार 'महाभारत' में भी कोई विशेष वर्णन इस प्रेमी युग्म के विषय में नहीं मिलता है। यत्र-तत्र पुरुरवा और उर्वशी के सम्बन्ध में उल्लेख प्राप्त होते हैं। उदाहरणार्थ, आदि पर्व में राजा जनमेजय के राज्याभिषेक के सन्दर्भ में पुरुरवा के विषय में केवल इतना संकेत मिलता है कि जिस प्रकार पुरा उर्वशी के साथ राजा पुरुरवा ने मनोहारी प्राकृतिक स्थानों में विहार किया था, उसी भाँति जनमेजय ने भी विवाहोपरान्त वधू वयुष्टमा के साथ विहार किया था।

इसी पर्व में आगे चल कर मनु के पुत्रों में इला का भी नाम आता है। इसी इला से पुरुरवा का जन्म बताया गया है—

पुरुरवास्ततो विद्वानिलायां समपद्यत

(महाभारत, आदिपर्व, अ० ७५, श्लोक १८)

यह इला पुरुरवा की माता भी थी और पिता भी—

सा वै तस्याभवन्माता पिता चैवेति नः श्रुतम् ।

(वही, श्लोक १९)

राजा पुरुरवा ने तेरह समुद्रों के विभिन्न द्वीपों पर शासन किया किन्तु उसकी कुछ त्रुटियों के कारण ब्राह्मण उससे रुष्ट हो गये। उसने ब्राह्मणों के धन-रत्नादि भी छीन लिए। महर्षि सनत्कुमार ने उसे ब्रह्मलोक से आकर समझाया परन्तु उसके ऊपर कोई प्रभाव नहीं हुआ। परिणामस्वरूप महर्षियों ने उसे शाप दिया, जिससे वह विनाश को प्राप्त हुआ। इसके पश्चात् वह गन्धर्वलोक से उर्वशी को लाया, जिससे उसको छः पुत्र प्राप्त हुए—आयु, धीमान्, अमावसु, दृढायु, वनायु और शतायु।

एक उल्लेख राजा पुरुरवा की बुद्धिमत्ता से सम्बन्धित सभापर्व के निम्न श्लोक में मिलता है—

पुरुरवसमेलं त्वं बुद्धया जयसि पाण्डव ।

(सभापर्व, अ० ७८, श्लोक १७)

इसी भाँति उनकी धर्म-भीरुता के विषय में वनपर्व में नारद जी युधिष्ठिर से कहते हैं—

यथा ययातिधर्मात्मा यथा राजा पुरुरवाः ।

तथा त्वं राजशार्दूल स्वेन धर्मेण शोभसे ॥

(वनपर्व, अ० ८५, श्लोक १२५)

शान्तिपर्व में एक सवाद ऐल पुरुरवा और वायु (मातरिश्वा) के मध्य तथा पुनः कश्यप से आता है। इसमें राजधर्म का निरूपण है और इससे स्पष्ट होता है कि राजा पुरुरवा अत्यन्त राजनीतिज्ञ थे। इसी प्रकार अनुशासन पर्व में पुरुरवा को महान् गोदानी कह कर पुकारा गया है। इसी पर्व में आगे चलकर मनु की वंशावली में इला

का उपनाम सुद्युम्न भी लिखा है। पुरुरवा का जन्म बुध से हुआ बताया गया है और उसके पुत्र का नाम आयु दिया है—

मनोश्च वंशज इला सुद्युम्नश्च भविष्यति ।

बुधात्पुरुरवाश्चापि तस्मादायुर्भविष्यति ॥

(अनुशामन पर्व, अ० १४७, श्लोक २६)

पुरुरवा की भाँति उर्वशी का भी स्वतन्त्र उल्लेख कई स्थलों पर उपलब्ध होता है। वन पर्व में इन्द्रपुरी की कई प्रमुख अगसराओं के नामों का उल्लेख है, उनमें एक नाम उर्वशी का भी है। शकुन्तला राजा दुष्यन्त को अपनी माँ का परिचय देती हुई छ. अप्सराओं को श्रेष्ठ बतलाती है जिनमें एक उर्वशी है—

उर्वशी पूर्वचित्तिश्च सहजन्या च मेनका ।

विश्वासी च घृताक्षी च षडेकऽऽप्सरसां वराः ॥

(आदिपर्व, अ० ७४, श्लोक ६८)

इसी प्रकार अनुशासन पर्व में यह वर्णन आता है कि कैलाश पर धनद या वैश्रवण निवास करते हैं, उन्हीं की सभा में अन्य अगसराओं के साथ उर्वशी भी नृत्य करती है।

अब तक के उद्धृत प्रसंगों में उर्वशी का केवल नाम ही उल्लिखित है। किन्तु ‘महाभारत’ के वन पर्व में उसके सौन्दर्य और सज्जा का वर्णन बहुत ही मनोरम शब्दों में दिया गया है। जब अपने अतुल्य सौन्दर्य से वह अर्जुन को लुभाने जाती है तो महाभारतकार लिखते हैं—

मृदुकुञ्चितदीर्घेण कुमुदोत्कार धारिणा ।

केशहस्तेन ललना जगामथ विराजती ॥

भ्रूसेपालापमाधुर्यैः कान्त्या सौम्यतयापि च ।

शशिनं वक्त्रचन्द्रेण साऽऽह्वयन्तीव गच्छति ॥

दिव्यागंगागौ सुमुखौ दिव्यचन्दन रूपितौ ।

गच्छन्त्या हाररुचिरौ स्तनौ तस्या ववत्गतुः ॥

स्तनोद्वहन संक्षोभान्मम्यमाना पदे पदे ।

त्रिवलीदाम चित्रेण मध्येनातीवशोभिता ॥

अधो भूधर विस्तीर्ण नितम्बोन्नतपीवरम् ।

मन्मथायतनं शुभ्रं रसनादामभूषितम् ॥

ऋषीणामपि दिव्यानां मनोव्याघातकारणम् ।

सूक्ष्मवस्त्रधरं रेजे जघनं निरवद्यवत् ॥

गूढगुल्फधरौ पादौ ताम्रायतनं लागुली ।

कूर्मं पृष्ठोन्नतौ चापि शोभते किङ्कणीकिणौ ॥

सीधुपानेन चाल्पेन तुष्ट्याथ मदनेन च ।
 विलासनैश्च विविधैः प्रेक्षणीयतराभवत् ॥
 सिद्धचारण गन्धर्वैः सा प्रयाता विलासिनी ।
 बह्वाश्चर्येऽपि लै स्वर्गे दर्शनीयतमाकृतिः ॥
 सुसूक्ष्मेणोत्तरीयेण मेघवर्णेन राजता ।
 तनुरभ्रावृता द्योग्नि चन्द्रलेखेव गच्छति ॥

(वनपर्व, अ० ४६, श्लोक ६१५)

(“उसके कोमल, घुँघराले और लम्बे केशों का समूह वेणी के रूप में आवद्ध था । उनमें कुमुद पुष्पों के गुच्छे लगे हुए थे । इस प्रकार सुशोभित वह ललना अर्जुन के गृह की ओर बढ़ी जा रही थी । भौहों की भंगिमा, वार्त्तालाप की मधुरिमा, उज्ज्वल कान्ति और सौम्य भाव से सम्पन्न अपने मनोहर मुख चन्द्र द्वारा वह चन्द्रमा को चुनौती-सी देती हुई इन्द्र भवन के पथ पर चल रही थी । चलते समय सुन्दर हारों से विभूषित उर्वशी के उठे हुए स्तन जोर-जोर से हिल रहे थे । उन पर दिव्य अंग-राग लगाये गये थे । उनके अग्रभाग अत्यन्त मनोहर थे । वे दिव्यचन्दन से

क्षुब्ध कर देने वाला था । उसके दोनों चरणों के गुल्फ (टखने) माँस से छिपे हुए थे । उसके विस्तृत तलवे और अँगुलियाँ लाल रंग की थी । वे दोनों पैर कछुए की पीठ के समान ऊँचे होने के साथ ही घुँघरुओं के चिह्न से सुशोभित थे । वह अल्प सुरापान से, सन्तोष से, काम से, और नाना प्रकार की विलासिताओं से युक्त होने के कारण अत्यन्त दर्शनीय हो रही थी । जाती हुई उस विलासिनी अप्सरा की आकृति अनेक आश्चर्यों से भरे हुए स्वर्गलोक में भी सिद्ध, चारण और गन्धर्वों के लिए देखने के ही योग्य हो रही थी । अत्यन्त महीन मेघ के समान श्याम रंग की सुन्दर ओढ़नी ओढ़े तन्वङ्गी उर्वशी आकाश में बादलों से ढकी हुई चन्द्रलेखा-सी चली जा रही थी ।”)

‘महाभारत’ से उद्धृत उपरोक्त उल्लेखों से किसी भी प्रकार का आख्यान तो नहीं बनता परन्तु राजा पुरुरवा और उर्वशी के विषय में निम्न तथ्य स्पष्ट होते हैं—

पुरुरवा डल के पुत्र तथा बुध के पौत्र थे और वे एक प्रतापी राजा थे । उन्होंने काफी बड़े प्रदेश पर राज्य किया, किन्तु कठोर शासन के कारण ब्राह्मणों को रुष्ट कर

लिया। वे ब्राह्मणों से करादि के रूप में धन-धान्य प्राप्त करते थे, अतः ह्रास को प्राप्त हुए। ये पुरुरवा गन्धर्व लोक से अप्सरा उर्वशी को लाये थे और उसके साथ उन्होंने अनेक रमणीक स्थानों पर विहार किया। उर्वशी से इन्हे छः पुत्र प्राप्त हुए, जिनमें आयु सबसे बड़ा था। राजा पुरुरवा बड़े बुद्धिमान, दानी और राजनीतिज्ञ थे। इनकी प्रेमिका उर्वशी इन्द्रपुरी की अप्सराओं में प्रमुख थी। वह अनुपम सौन्दर्य-शालिनी थी।

‘दिनकर’ जी ने ‘महाभारत’ में बहुत कम लिया है। पुरुरवा का ब्राह्मणों के प्रति रोष और इसके परिणामस्वरूप उसका ह्रास को प्राप्त होना आदि वर्णन ‘दिनकर’ जी ने बिल्कुल भी नहीं दिये हैं। हाँ, उर्वशी के सौन्दर्य को शायद उन्होंने ‘महाभारत’ के विवरणों से पढ़कर ही चित्रित किया है। ‘दिनकर’ जी ने पुरुरवा और उर्वशी के एक पुत्र ही दिखाया है।

पुरुरवा-उर्वशी-कथा अन्यान्य पुराणों, ईषत्, भागवत्, विष्णु, वायु, मत्स्य आदि में भी वर्णित है। ‘श्रीमद्भागवत्’ में पुरुरवा की उत्पत्ति से सम्बन्धित निम्न कथा, मिलती है—

‘श्रद्धा वैवस्वत मनु की पत्नी थी। उनके कोई सन्तान नहीं थी। इसलिए वशिष्ठ ने सन्तान-प्राप्ति-हेतु उनसे मित्रावरुण यज्ञ कराया। श्रद्धा ने होता से प्रार्थना की कि उसे एक पुत्र की प्राप्ति हो। अध्वर्यु की आज्ञा से होता ने श्रद्धा की प्रार्थना को ध्यान में रखकर आहुति दी, परन्तु आहुति विपरीत कर्म से पुत्र के स्थान पर इला नामक पुत्री पैदा हुई। इससे मनु को अप्रसन्नता हुई। वशिष्ठ जी ने उसे सान्त्वना दी कि तप-प्रताप से वे उसे पुत्र बना देंगे। और तदन्तर तप-प्रभाव से इला सुद्युम्न नामक पुत्र हो गई।

एक दिन सुद्युम्न सैन्धव अश्व पर चढ़कर अनेक अनुचरों के साथ उत्तर दिशा में गया और परिभ्रमण करता हुआ मेरु पर्वत की उपत्यका में चला गया। वहाँ भगवान् शंकर और पार्वती ठहरे हुए थे और यहाँ यह शाप था कि जो भी पुरुष वहाँ पहुँचेगा वह स्त्री हो जायेगा। परिणामस्वरूप सुद्युम्न अपने समस्त साथियों सहित स्त्री हो गया। एक दिन चन्द्रमा के पुत्र बुध ने उन्हें देख लिया और उसे सहचरी के रूप में ग्रहण कर लिया। इसी इला से पुरुरवा का जन्म हुआ।

उर्वशी के विषय में यह उल्लेख है कि वह अतीव सुन्दरी थी और अन्य अप्सराओं की भाँति समुद्र-मथन से प्रसूत हुई थी। उर्वशी इतनी सुन्दर थी कि एक बार मित्रावरुण ने उसे समीप से देख लिया तो उनका वीर्य स्खलित हो गया। उसको उन्होंने एक घट में संग्रहित कर दिया। उमी से अगस्त्य और वशिष्ठ मुनियों का जन्म हुआ—

अगस्त्यश्च वशिष्ठश्च मित्रावरुणयोर्ऋषी ।

रेतः सिषिचतुः कुम्भे उर्वश्याः सन्निधौ द्रुतम् ॥

(श्रीमद्भागवत, स्कन्ध ६, अ० १८, श्लोक ५)

‘श्रीमद्भागवत’ के स्कन्ध ६ अध्याय १४ में पुरूरवा और उर्वशी के सम्बन्ध में लगभग कुछ वैसी ही कथा मिलती है जैसी कि ‘शतपथ ब्राह्मण’ में दी गई है और जिसका वर्णन हम इससे पूर्व कर चुके हैं। इस पुराण में यह भी लिखा है कि उर्वशी के वियोग में पुरूरवा को वैराग्य हो गया था—

ऐलः सम्राडियाँ गाथामगायत बृहच्छवाः ।

उर्वशी-विरहान् मुह्यन् निर्विण्णः शोकसंयमे ॥

(स्कन्ध ११, अ० २६, श्लोक ४)

‘श्रीमद्भागवत’ की यह कथा अधिकांश रूपसे ‘ऋग्वेद’ और ‘शतपथ ब्राह्मण’ के आख्यान पर आधारित है। इसी प्रकार की कथा अन्य पुराणों में भी थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ मिलती है।

‘ब्रह्मपुराण’ में यह आख्यान पूर्ण रूप से एक स्थान पर नहीं मिलता है। अलग-अलग स्थलों से कड़ियों को जोड़कर कथा इस प्रकार बनाई जा सकती है।

बुध का तेजस्वी पुत्र पुरूरवा था। वह परम विद्वान्, तेजस्वी, दानशील, याज्ञिक, अग्निहोत्री, ब्रह्मवादी, शत्रुञ्जय, सत्यवादी, संवृतमैथुन, अप्रतिम, यशस्वी, शान्त और धर्मज्ञ था। उर्वशी ने अपना समस्त अभिमान त्याग कर उसका वरण किया था—

बुधस्य मुनिश्रेष्ठो विद्वान् पुत्रः पुरूरवाः ।

तेजस्वी, दानशीलश्च यज्वा विपुलदक्षिणः ॥

ब्रह्मवादी पराक्रान्तः शत्रुभिर्युधि दुर्दमः ।

आहर्त्ता चाग्निहोत्रस्य यज्ञानाञ्च महीपतिः ॥

सत्यवादी पुण्यमतिः सम्यक् संवृतमैथुनः ।

अतीव त्रिषु लोकेषु यशसा प्रतिभः सदा ॥

त ब्रह्मवादिनं शान्तं धर्मज्ञं सत्यवादिनम् ।

उर्वशी वरयामास हित्वा मानं यशस्विनी ॥

(श्रीमद्भागवत, अ० १०, श्लोक १-४)

राजा ने अनेक वर्षों तक उर्वशी के साथ भिन्न-भिन्न रमणीक प्राकृतिक स्थानों पर रमण किया। उसको उर्वशी से छः पुत्र प्राप्त हुए जिनके नाम थे—आयु, अमावसु, विश्वायु, श्रुतायु, दृढायु और वनायु।

यह कथा लगभग अन्य कथाओं की भाँति ही है। विशेष अन्तर केवल पुरूरवा और उर्वशी के पुत्रों के नामों में है। किन्तु यहाँ भी आयु सबसे बड़े पुत्र के रूप में

उपलब्ध है। इस पुराण में अन्य पूर्व ग्रन्थों के विपरीत पुरूरवा के नाम का कारण भी मिलता है—

जातमात्रः सुतो रावमकरोत्स पृथुस्वरम् ।

तेन सर्वेऽप्यवोचन्वं संगता ऋषयः सुराः ॥

यस्मात्पुरू रवोऽस्येति तस्मादेषः पुरूरवाः ।

स्यादित्येवं नाम चक्रुः सर्वे सन्तुष्टमानसाः ॥

(ब्रह्मपुराण, अ० १०१, श्लोक १ से ६)

(“उत्पन्न होते ही इसने पृथुस्वर से राव किया था अतः ऋषि और देवताओं ने प्रसन्न होकर इसका नाम पुरूरवा रख दिया।”)

इसके बाद ‘विष्णु पुराण’ में राजा पुरूरवा की उत्पत्ति की कथा बहुत कुछ भागवत के समान है। उनके पिता का बुध का कथानक भी ‘ब्रह्मपुराण’ से मिलता-जुलता है। कसा इस प्रकार है—

“राजा पुरूरवा को मित्रावरुण के शाप के कारण मर्त्यलोक में आई उर्वशी ने देख लिया। राजा को इस पुराण में अत्यधिक दानशील, अति-यज्वा, अति-तेजस्वी, सत्यवादी, अत्यन्त सुन्दर और मनस्वी दिखाया गया है। राजा को देखने के उपरान्त उर्वशी स्वर्ग के सभी सुखों को छोड़कर उनके पास आ गई। वह अत्यन्त सुन्दरी थी तथा विलास-हासादि गुणों से समन्वित थी। उर्वशी के आने से पूर्व राजा पुरूरवा प्रतिष्ठानपुर में राज्य करते थे। उर्वशी से रतिदान माँगने पर उसने राजा के समक्ष तीन प्रतिज्ञाएँ रखी। पहली प्रतिज्ञाएँ ‘श्रीमद्भागवत’ के ही समान है। तीसरी भिन्न थी जो इस प्रकार थी कि उसका आहार केवल घृत ही होगा। यह प्रतिज्ञा कुछ ‘ऋग्वेद’ से मिलती-जुलती प्रतीत होती है। कुल कथा शतपथ एवं भागवत के समान है। गन्धर्व-लोक की प्राप्ति शतपथ के सदृश्य है। भागवत के अनुसार कुरुक्षेत्र के कमल सरोवर में पुरूरवा ने उर्वशी को पाँच अप्सराओं के साथ देखा था किन्तु इस पुराण में चार अप्सराओं का वर्णन है। इस पुराण में भी छः पुत्रों का वर्णन है—आयु, अमावसु, विश्वावसु, श्रुतायु, शतायु और अयुतायु।”

इन नामों में कुछ भिन्नता है किन्तु आयु यहाँ भी सबसे बड़ा है।

‘वायुपुराण’ में पुरूरवा के विषय में निम्न श्लोक मिलता है—

तस्य पुत्रो महातेजा बभूवैलः पुरूरवाः ।

उर्वश्यां जनिरे तस्या पुत्राः षट् सुमहौजसः ॥

(‘वायुपुराण’ (उत्तरार्ध), अ० २७, श्लोक ४५)

(उसका (बुध) महातेजस्वी ऐल पुरूरवा हुआ। उससे उर्वशी के परम प्रतापी छः पुत्र उत्पन्न हुए।)

‘मत्स्य पुराण’ में भी पुरूरवा की उत्पत्ति बुध से बताई गई है, यद्यपि वर्णनों में कुछ विभिन्नता है। इसमें कथा निम्न प्रकार से है—

“पुत्रे णि यज्ञ करने से वैवस्वत मनु के दस पुत्र उत्पन्न हुए, जिनमें सर्वप्रथम ‘इल’ हुआ। इल के बड़े होने पर मनु उसे अभिषिक्त कर वन को चले गये। इसके पश्चात् इल दिग्विजय के लिए प्रस्थान करता है और भ्रमण करता हुआ शम्भु के शखण नामक महान् वन में पहुँचता है। वहाँ यह नियम था कि दशयोजन की परिधि तक जो भी मनुष्य आ जायेगा वह नर से नारी हो जायेगा। परिणामस्वरूप वह इल से ‘इला’ हो गया। वहाँ एक दिन उसकी भेंट सोमपुत्र बुध से हो गई। उन दोनों से पुरुरवा का जन्म हुआ। आगे चलकर इक्ष्वाकु के यज्ञ से प्रसन्न होकर शंकर-पार्वती ने इला को फिर से पुरुष बना दिया और वह सुद्युम्न नाम से प्रसिद्ध हुआ। सुद्युम्न के तीन पुत्र हुए परन्तु उनमें से किसी को राज्य न देकर वह पुरुरवा को ही अभिषिक्त कर हलावृत्त में चला गया।”

‘मत्स्य पुराण’ के २३ एवम् २४ वें अध्याय में पुरुरवा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक कथा आई है। इस कथा में एक उल्लेखनीय वर्णन यह है कि राजा पुरुरवा के दरबार में, उसके चरित्र की परीक्षा के लिए, धर्म, अर्थ और काम आये। राजा ने विधिवत् उनकी पूजा की किन्तु धर्म के प्रति अधिक समादर देने के कारण अर्थ और काम ने उन्हें शाप दे दिया। अर्थ ने कहा कि राजा लोभवश विनाश को प्राप्त होगा तथा काम ने कहा कि वह उर्वशी के वियोग में उन्मादी होकर गन्धमादन पर्वत पर घूमेगा। किन्तु धर्म ने प्रसन्न होकर वरदान दिया कि वह चिरायु होकर धर्माचरण करेगा। पुराण के इसी अध्याय में यह उल्लेख आता है कि एक बार दानवेन्द्र केशी चित्रलेखा और उर्वशी का अपहरण कर आकाश-मार्ग से जाने लगा तो राजा पुरुरवा ने उनकी आवाज सुनकर राक्षस का पीछा किया और शीघ्र ही उससे उनको छुड़ा लिया। इन्द्र इस घटना से बहुत प्रसन्न हुए और राजा के सम्मान में एक उत्सव किया, जिसमें लक्ष्मी-स्वयंवर नामक भरत-रचित नाटक अभिनीत हुआ। इस नाटक में मुख्य पात्र थे—मेनका, उर्वशी और रम्भा। दुर्भाग्य से लक्ष्मी का अभिनय करती हुई उर्वशी राजा को देखकर कामपीडित हो गई, जिससे भरत द्वारा बताये गये अभिनय को भूल गई। इससे भरत अत्यधिक क्रुद्ध हुए और उन्होंने शाप दिया कि उर्वशी लता हो जायेगी और पुरुरवा पिशाच होगा।

शाप से मुक्त होने पर इनके आठ पुत्र हुए—आयु, दृढायु, अश्वायु, धनायु, धृतिमान, वसु, शुचिर्विता और शतायु।

‘मत्स्य पुराण’ में दी हुई उर्वशी-पुरुरवा की कथा की अपनी कुछ विशेषताएँ हैं—प्रथम, काम के शाप-वश पुरुरवा गन्धमादन पर उर्वशी के वियोग में परिभ्रमण करेगा। द्वितीय, राजा पुरुरवा ने दानवेन्द्र केशी के चंगुल से उर्वशी और चित्रलेखा को छुड़ाया। तृतीय, अभिनय में त्रुटि के कारण भरत ने दोनों को शाप दिया। चतुर्थ, पुरुरवा-उर्वशी के आठ पुत्र हुए, यद्यपि आयु वहाँ भी अग्रज है।

ऐसा प्रतीत होता है कि ‘दिनकर’ जी ने अपने काव्य के लिए इस पुराण से

दो उल्लेखनीय घटनाएँ ली हैं। पहली, राक्षस से उर्वशी को स्वतन्त्र कराना तथा, द्वितीय, भरत के द्वारा शाप। इनमें थोड़ा परिवर्तन उन्होंने स्वयं कर दिया है।

‘मत्स्य पुराण’ के समान ‘पद्मपुराण’ में ‘इल’ (इला) की कथा का उल्लेख है। पुरुरवा का उत्पत्ति-विषयक वर्णन भी इसी प्रकार है। १२ वें अध्याय में उर्वशी और पुरुरवा के प्रेम का वर्णन है। इसी भाँति अन्य वर्णन—दानवेन्द्र केशी से चित्र-लेखा और उर्वशी की मुक्ति, इन्द्र द्वारा राजा के सम्मान में नाटक कराना और अन्त में भरत द्वारा शाप दिया जाना—‘मत्स्य पुराण’ के अनुसार ही है।

‘ब्राह्मण पुराण’ में पुरुरवा के जन्म की कथा ‘ब्रह्मपुराण’ के अनुसार दी गई है। इस पुराण के उपोद्घातपाद में अध्याय ६६ में राजा पुरुरवा के गुण तथा उसका उर्वशी के साथ चैत्रारण्य आदि रमणीक स्थानों में विहार करना भी ‘ब्रह्मपुराण’ के अनुसार ही है, यहाँ तक कि श्लोक भी वे ही हैं।

‘आग्नेय पुराण’ में राजा पुरुरवा के जन्म की कहानी बहुत सूक्ष्मता से कही गई है और वह ऊपर दी हुई कथाओं के सदृश है। उसमें पुरुरवा को बुध का पुत्र बताया है और यह दिखाया गया है कि उर्वशी ने स्वर्ग से आकर उन्हें वरण किया—

एवं सोमाद्बुधः पुत्रः पुत्रस्तस्य पुरुरवाः।

स्वर्गं त्यक्त्वोर्वशी सा तं वरयामास चाप्सरा ॥

(आग्नेय पुराण, अ० १३, श्लोक १२)

‘मत्स्य पुराण’ के अनुसार इसमें भी पुरुरवा-उर्वशी के आठ पुत्रों का उल्लेख है। आयु इनमें भी अग्रज है।

‘स्कन्द पुराण’ में यह कथा कुछ भिन्न है। इसमें उर्वशी मित्रावरुण के शाप के कारण पृथ्वी पर आती है। यहाँ राजा पुरुरवा से साक्षात्कार होने के पश्चात् वह राजा की भार्या बन जाती है। उर्वशी के द्वारा शर्त रखना, राजा के साथ भिन्न-भिन्न स्थानों पर भ्रमण करना, विश्वावसु से उसके मेघों का अपहृत होना, उर्वशी की पुकार पर राजा का दौड़ कर उन्हें बचाना, गन्धर्व-कृत प्रकाश में राजा का नग्नावस्था में दिखाई पड़ना, उर्वशी का अन्तर्धान हो जाना, तथा राजा का उसके वियोग में इधर-उधर घूमना और अन्त में उर्वशी का मिलना अन्य पुराणों आदि की कथा के अनुसार है। यहाँ उनके पाँच पुत्रों का वर्णन है परन्तु आयु ही अग्रज है।

‘हरिवंश पुराण’ में पुरुरवा का जन्म-सम्बन्धी वर्णन ‘ब्रह्माण्ड पुराण’ के समान है। इसमें पुरुरवा-उर्वशी के सात पुत्रों का वर्णन है परन्तु आयु को ही सबसे बड़ा माना है। इस पुराण के २६ वे अध्याय में राजा पुरुरवा के गुणों का वर्णन है, उर्वशी सम्बन्धी कथा तथा पुत्रों के नाम ‘ब्रह्मपुराण’ एवं ‘ब्रह्माण्ड पुराण’ के समान है।

‘कूर्म पुराण’ में पुरुरवा के विषय में केवल इतना उल्लेख है कि ऐल राजा पुरुरवा ने राज्य का पालन किया। उसके छः पुत्र हुए जो इन्द्र के सदृश तेजस्वी

थे—आयु, मायु, अमायु, विश्वायु, गतायु और श्रुतायु। इन नामों में भिन्नता है किन्तु आयु यहाँ भी अग्रज है।

जहाँ तक संस्कृत-काव्य-साहित्य में इस कथा के वर्णन का सम्बन्ध है, सम्भवतः कालिदास कृत 'विक्रमोर्वशी' नाटक ही वह प्रमुख कृति है जिसमें यह कथानक विस्तार से दिया गया है। परम्परा प्राप्त इस कथा का कालिदास ने न केवल उपबृंहण किया है, अपितु परिशोधन भी। इस नाटक की कथा इस प्रकार है—

प्रथम अंक में सूर्य की उपासना के उपरान्त राजा पुरुरवा जब लौट रहा था तो रम्भा से उसे विदित हुआ कि केशी नामक दैत्य उर्वशी का अपहरण कर लिए जा रहा है। राजा अपने रथ को तीव्रता से लेकर केशी दैत्य के पास पहुँचता है और उर्वशी को उससे मुक्त करा लेता है। राजा और उर्वशी में प्रेम उत्पन्न होता है और पुरुरवा अपने घर लौट आते हैं।

द्वितीय और तृतीय अंक में उर्वशी और पुरुरवा की भेट और उनका साथ रहना दिखाया गया है। कामातुर पुरुरवा प्रमद वन में घूम रहे हैं। उसी समय उर्वशी वहाँ प्रकट होती है। दोनों को एक-दूसरे के प्रेम का पता चलता है। तभी स्वर्ग से यह समाचार मिलता है कि भरत नाटक की रचना कर रहे हैं और उसमें उर्वशी को अभिनय करना है। उसको जाना पड़ता है और नाटक के मध्य अन्य-मनस्क स्थिति में 'पुरुषोत्तम' के स्थान पर 'पुरुरवा' कह देती है। भरत कुपित होकर उसे शाप देते हैं कि उसे दिव्य ज्ञान की प्राप्ति नहीं होगी। इन्द्र इसने थोड़ा परिवर्तन कर देते हैं कि जब तक उसका पति अपने उससे उत्पन्न हुए पुत्र को न देख लेगा तब तक वह उसके साथ रह सकती है।

उधर उर्वशी का पुरुरवा के लिए लिखा गया प्रेम-पत्र औशीनरी के हाथ पड़ जाता है। वह सोचती है कि पति को प्राप्त करने के लिये वह उनकी किसी भी प्रेमिका के साथ स्नेहपूर्वक रहने को तैयार है। इन्द्र की आज्ञा पाकर उर्वशी राजा पुरुरवा के साथ अभिसारिका बनकर रहती है। इसके पश्चात् वे दोनों गृह-प्रवेश करते हैं।

चौथे अंक में पुरुरवा की विरह-कथा का वर्णन है। गन्धमादन पर्वत पर राजा विद्याधर-कन्या उदयवती की ओर एकटक देखते हैं। उर्वशी उनको ऐसा करते देख लेती है। वह इस प्रेम-विभाजन से कुपित हो जाती है। भरत के शापवश वह कार्तिकेय के निषिद्ध वन में पहुँच कर लता में परिणत हो जाती है। राजा उर्वशी के वियोग में विक्षिप्त है। अनायास ही राजा को पर्वत-कन्दरा में 'संगमनीय मणि' मिलती है, जिससे लता-रूपी उर्वशी एक बार फिर नारी हो जाती है।

पाँचवें अंक में विदूषक राजा के सन्तानहीन होने तथा सन्तानोत्पत्ति की इच्छा का वर्णन करता है। इसी समय एक गृद्ध 'संगमनीय मणि' लेकर उड़ जाता है। किन्तु कंचुकी कुछ देर बाद बाण-सहित मणि वापस ले आता है। बाण पर आयु का

नाम अंकित है। इससे पुरुरवा को आयु की उत्पत्ति का पता चलता है। उसी समय च्यवनाश्रम से सत्यवती आयु को लेकर उपस्थित होती है।

आयु के आ जाने से उर्वशी वियुक्त होने की बात कहती है। इससे राजा बहुत दुखी होता है। उसी समय नारद जी इन्द्र का सन्देश लेकर उपस्थित होते हैं कि राजा संन्यास न लें, अपितु यावज्जीवन उर्वशी के साथ रह कर सुख का उपभोग करें, क्योंकि शीघ्र हो देवासुर-संग्राम की सम्भावना है।

‘दिनकर’ जी ने कालिदास से कुछ लिया है या नहीं अधिकारपूर्वक नहीं कहा जा सकता। दैत्य द्वारा उर्वशी का हरण, राजा द्वारा रक्षा, भरत का शाप (यद्यपि इसमें कुछ अन्तर है), औशीनरी की असहायता, राजा की संन्यास ग्रहण करने की इच्छा (कालिदास में संन्यास नहीं लिया गया है जब कि ‘दिनकर’ जी ने संन्यास ग्रहण करा दिया है), आदि ऐसी घटनाएँ हैं जो दोनों कवियों की रचनाओं में दिखाई गई हैं। किन्तु ये घटनाएँ कालिदास से पूर्व के ग्रन्थों में भी लगभग इसी रूप में उपलब्ध हैं। औशीनरी का उल्लेख महाराज पुरुरवा की महारानी के रूप में मुख्यतः कालिदास के नाटक में ही मिलता है। वह कालिदास में स्त्री-मुलभ ईर्ष्या किन्तु कोमलता, पतिव्रता तथा आभिजात्य आदि अनेक गुणों से युक्त दिखाई गई है। ‘दिनकर’ जी की औशनरी में भी लगभग ये सब गुण विद्यमान हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि ‘दिनकर’ जी ने औशीनरी की रचना कालिदास के नाटक से प्रेरित होकर की है।

कालिदास के अतिरिक्त इस कथानक का विस्तृत वर्णन सोमदेवकृत संस्कृत रचना ‘कथा सरित्सागर’ में भी मिलता है।

इस समस्त विवेचन से पुरुरवा, उर्वशी तथा आयु की केवल पौराणिकता ही नहीं अपितु ऐतिहासिकता भी सिद्ध हो जाती है। यदि वेद इतिहास-सिद्ध है तो इन पात्रों की भी ऐतिहासिकता सिद्ध होती है। यदि ‘कामायनी’ के मनु और श्रद्धा ऐतिहासिक हैं तो उर्वशी और पुरुरवा भी ऐतिहासिक पात्र हैं। अब प्रश्न है अन्य पात्रों की ऐतिहासिकता का। सहजान्या, रम्भा, मेनका तथा चित्रलेखा, आदि का पौराणिक तथा बाद में संस्कृत काव्य में पर्याप्त वर्णन मिलता है। जैसा पहले कहा जा चुका है, इनका ‘महाभारत’ के वनपर्व में भी उल्लेख हुआ है।

‘श्रीमद्भागवत’ में मनुपुत्र शर्याति की कमललोचना कन्या का नाम सुकन्या था। इसका विवाह ऋषि च्यवन से एक विशेष घटना के कारण हुआ। ‘निपुणिका’ कालिदास की कल्पना की देन है। पुरुरवा का अर्थ ख करने वाला और उर्वशी की नारायण ऋषि के भय से उत्पत्ति भी कालिदास की श्रेष्ठ कल्पना का परिणाम है। इसी प्रकार औशीनरी का भी पहले-पहल उल्लेख कालिदास में मिलता है। इस प्रकार कुछ पात्र ऐतिहासिक न होकर काल्पनिक हैं।

पात्रों के अतिरिक्त काव्य में चित्रित विभिन्न स्थलों की ऐतिहासिकता का विवेचन कर लेना भी उपयुक्त रहेगा। जहाँ तक प्रतिष्ठानपुर का प्रश्न है यह प्रयाग

का ही प्राचीन नाम है। डा० विमलकुमार जैन ने इसके नामकरण के विषय में लिखा है—

“प्रतिष्ठानपुर प्रयाग का ही नाम है, क्योंकि गंगा तट पर स्थापित होने से इसे प्रतिष्ठान कहा जाता था। ‘ब्रह्माण्ड पुराण’ में राजा पुरुरवा के शासन का उल्लेख करते हुए स्पष्ट कहा गया है—

राज्यं स कारयामास प्रयागे पृथिवीपनिः।

उत्तरे यामुने तीरे प्रतिष्ठाने महायशाः॥

(ब्रह्माण्ड पुराण, उपद्घातापाद, अ० ६६, श्लोक २१)

‘मत्स्य पुराण’ में भी प्रजापति के क्षेत्र की सीमा का उल्लेख करते समय इसे प्रयाग प्रतिष्ठान के नाम से पुकारा गया है। यही वर्णन ‘पद्मपुराण’ में है।

जहाँ तक गन्धमादन पर्वत का प्रश्न है, यह विहार-स्थली के रूप में चित्रित किया गया है। इसका वर्णन पूर्व-पुराण-कथाओं तथा साहित्य पर आधारित है। महा-भारतकार के अनुसार नील पर्वत के दक्षिण में तथा निषध के उत्तर में माल्यवान् नामक पर्वत विद्यमान है। माल्यवान् से परे गन्धमादन पर्वत है तथा इन दोनों के मध्य में स्वर्ण-पर्वत मेरु है। किन्तु ‘ब्रह्मपुराण’ में इस पर्वत की स्थिति मेरु के पश्चिम में बतायी गई है। इस पुराण के अनुसार गन्धमादन पर्वत पर ही गन्धमादन वन है, और इस वन में जम्बू के वृक्ष बहुत अधिक मात्रा में पाए जाते हैं। ‘वायु-पुराण’ में भी इसी प्रकार का वर्णन है।

च्यवन आश्रम की भौगोलिक स्थिति के विषय में कोई स्पष्ट मत नहीं मिलता है।

मौलिक उद्भावनाएँ

किन्तु यह सब कह देने के बाद भी यह नहीं सोचा जा सकता कि ‘दिनकर’ जी ने अपने काव्य में पूर्णतः अपने पूर्व-ग्रन्थों से इस कथा को लिया है। उन्होंने आवश्यकतानुसार परम्परा-प्राप्त इस कथा में नूतन उद्भावनाएँ या व्यक्तिक्रम किए हैं। इस प्रकार के परिवर्तनों को हम तीन भागों में बाँट सकते हैं—(१) सर्वथा नूतन उद्भावनाएँ, (२) परम्परा-प्राप्त प्रसंगों को परिवर्तित रूप में प्रस्तुत करना, तथा (३) परम्परागत प्रसंगों का सर्वथा परित्याग।

प्रथम श्रेणी के अन्तर्गत हम पहले अंक में रम्भा, सहजन्या और मेनका के वार्त्तालाप के माध्यम से कवि का आधुनिकाओं की आलोचना करना तथा नारी के मातृत्व को यशोमण्डित करने के प्रयास को सम्मिलित कर सकते हैं। दूसरे अंक में औशीनरी, मदनिका और निषुणिका के द्वारा नारी को सिद्धि का प्रतिरूप दिग्दर्शित करना तथा अन्तिम अंक में दो पत्नियों—मुकन्या व औशीनरी—के माध्यम से पत्नी के श्रेष्ठ धर्म तथा नारी के महत्त्व का वर्णन करना भी ‘दिनकर’ जी की अपनी देन है। ये समस्त प्रसंग ‘दिनकर’ जी के काव्य के मुख्य विषय-तत्त्व से घनिष्ठ रूप में

सम्बन्धित है। ‘दिनकर’ जी का उद्देश्य, इस काव्य में केवल उर्वशी-पुरूरवा विषयक परम्परा-प्राप्त इतिवृत्त को काव्य-बद्ध करना मात्र नहीं था। उनका लक्ष्य इस कथानक के माध्यम से स्त्री-पुरुष के शाश्वत प्रेम-सम्बन्ध को उच्चता के शिखर पर रखकर चित्रित करना था। यही कारण है कि उन्होंने उन सब नूतन प्रसंगों की उद्भावना की है जो मुख्यतः स्त्री-पुरुष के पारस्परिक आकर्षण, उनकी मनःस्थिति, यौनाकर्षण, आदि को दिखाने में अधिक सहायक रहे हैं।

दूसरी श्रेणी में वे प्रसंग आते हैं, जिनमें ‘दिनकर’ जी ने अपनी आवश्यकता-नुसार परिवर्तन किया है। उदाहरणार्थ ‘दिनकर’ जी कालिदास द्वारा वर्णित अप्सराओं में ‘तिरस्करणी’ विद्या द्वारा स्वयं को अदृश्य बना लेने की क्षमता को अपने काव्य में नहीं दिखाते हैं। यह उचित भी है, क्योंकि वैज्ञानिक युग में इस प्रकार के वर्णन काव्य को हास्यास्पद बना देते हैं। दूसरा उदाहरण, कालिदास द्वारा उर्वशी को भरत से मिलने वाले शाप को ‘मिश्रविष्कम्भक’ की योजना करके ‘भरत’ के शिष्यों के वार्त्तालाप के माध्यम से सूचित कराना है। ‘दिनकर’ जी इसके विपरीत इस शाप का उल्लेख स्वयं उर्वशी के मुख से ही कराते हैं। ऐसा करने से शाप के विषय में हमें वह विस्तृत ज्ञान नहीं हो पाया है जो कालिदास के नाटक में मिलता है।

‘दिनकर’ जी ने आयु के प्रतिष्ठानपुर आने के प्रसंग को भी कालिदास तथा अन्य लेखकों से भिन्न रूप में प्रस्तुत किया है। कालिदास में आयु, उर्वशी की ‘सग-मनीय मणि’ को लेकर उड़ जाने वाले गिद्ध को अपने तीर से मार कर गिराता है। जब पुरूरवा उस बाण और मणि को देखता है तो बाण पर अकित नाम से उसे यह भान हो जाता है कि पक्षी को मारने वाला उर्वशी से जन्मा उन्हीं का पुत्र है। दूसरी ओर आयु को आश्रम के नियमों के विरुद्ध पक्षी-हत्या के दण्डस्वरूप निष्कृत करके राजधानी पहुँचाया जाता है। इस प्रकार कालिदास कुछ असम्भव घटनाओं के माध्यम से पिता-पुत्र का मिलन दिखाते हैं किन्तु ‘दिनकर’ जी स्वप्न के माध्यम से पुरूरवा को आभासित कराया है कि उनका पुत्र उन्हें मिलने वाला है। ज्योतिषी द्वारा राजा के स्वप्न का भविष्य-फल बताया जाना कि राजा आज सन्यास लेगे तथा उनका पुत्र सिंहासन पर बैठेगा आदि वर्णन कालिदास के वर्णनों से अधिक सुग्राह्य तथा रम्य प्रतीत होते हैं। फ्रायड के युग में स्वप्न की बात अनहोनी नहीं मानी जा सकती।

तीसरे प्रकार के वे परिवर्तन हैं जहाँ हम पाते हैं कि ‘दिनकर’ जी ने पुरूरवा-उर्वशी से सम्बन्धित अनेक परम्परागत तथ्यों को अपने काव्य में कोई स्थान नहीं दिया है। पहले स्थान पर आती है वे तीन शर्तें जिनका काफी विस्तृत रूप से ‘शतपथ ब्राह्मण’ आदि में वर्णन दिया गया है। इस प्रकार की शर्तें कालिदास के नाटक में भी नहीं मिलती हैं। ‘दिनकर’ जी ने भी इन शर्तों को अपने काव्य में नहीं दिखाया है। ‘दिनकर’ जी जिस प्रेम की उच्चता और उदात्त-स्वरूप में विश्वास रखते हैं वहाँ इस प्रकार की शर्तें हास्यास्पद लगती हैं। इसी प्रकार गन्धर्वों द्वारा उर्वशी को वापस

बुलाने का षड्यन्त्र भी 'दिनकर' जी के काव्य में कोई स्थान नहीं पा सका है। 'दिनकर' जी ने 'ऋग्वेद' से लेकर पुराण और ब्राह्मण ग्रन्थों तक चली आने वाली उर्वशी की उन उक्तियों को भी ठीक ही त्याग दिया है जिनमें वह यह कहकर पुरुरवा को निराश लौटा देती है, कि "स्त्रियों की मैत्री स्थायी नहीं होती, उनका हृदय शृगालों की तरह धूर्तता से युक्त होता है, उनकी कथनी और करनी में बहुत बड़ा अन्तर होता है, आदि।" 'दिनकर' जी ऐसी उक्तियों को प्रयोग में नहीं ला सकते थे, क्योंकि इनसे नारी-चरित्र कलुषित होता है। इसी भाँति 'दिनकर' जी ने कालिदास की तरह परम्परागत उर्वशी-पुरुरवा के छः या आठ पुत्र नहीं दिखाये हैं। वे केवल एक पुत्र आयु का ही उल्लेख करते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'दिनकर' जी न अपने काव्य में संस्कृत-वाङ्मय में पाये जाने वाले इस कथानक को काफी हद तक परिवर्तित करके प्रस्तुत किया है। हाँ, मुख्य घटनाओं को जैसा का तैसा ही रखा है। उन्होंने इस कथा के परम्परा-प्राप्त-आख्यान में जो नूतन उद्भावनाएँ की हैं, वे उनके प्रतिपाद्य की दृष्टि से अधिक सुसंगत बन पड़ी हैं, किन्तु जिन प्रसंगों को उन्होंने बदला है, अथवा पूर्णरूपेण त्यागा है, वहाँ कहीं-कहीं उनके काव्य को क्षति पहुँची है।

उर्वशी में प्रेम-दर्शन

१ (दिनकर युग-चारण है। उनकी रचनाओं में जीवन का सर्वांगीण दर्शन मिलता है)। एक ओर वह 'हुंकार', 'रश्मिरथी', 'कुक्षेत्र' और 'परशुराम की प्रतीक्षा' के कवि है, तो दूसरी ओर जीवन के कोमल पहलुओं को 'रसवन्ती' 'द्वन्द्वगीत' और 'उर्वशी' में पूर्ण सफलता के साथ चित्रित करने की क्षमता रखते हैं। 'चक्रवाल' की भूमिका में उन्होंने लिखा है—

“संस्कारों में मैं कला के सामाजिक पक्ष का प्रेमी अवश्य बन गया था, किन्तु मन में भी चाहता था कि गर्जन-तर्जन से दूर रहूँ, और केवल ऐसी ही कविताएँ लिखूँ जिनमें कोमलता और कल्पना का उभार हो। यही कारण था कि जिन दिनों 'हुंकार' की कविताएँ लिखी जा रही थी, उन्हीं दिनों मैं 'रसवन्ती' और 'द्वन्द्वगीत' की भी रचना कर रहा था।”

(‘चक्रवाल’, भूमिका, पृ० ३३)

वास्तविकता यह है कि सब प्रकार की शृंगार-भावनाओं का स्पर्श कर 'दिनकर' की कविता पुलकित हुई है। शृंगार, भावनाओं की अभिव्यक्ति 'रेणुका' 'रसवन्ती' और 'उर्वशी' में बड़ी सरसता और कोमलता से हुई है। 'रेणुका' में प्रेम का सौदा है। कवि ने प्रेम के आदर्शों का कविता के माध्यम से वर्णन किया है। कवि को धारणा है कि प्रेम का मूल्य मरकर ही चुकाया जाता है। उसका अन्त पूर्ण बलिदान में निहित है—

चाहिए उर साथ जीवन भी,

प्रेम की टीका सरल बलिदान ही। (‘रेणुका’, पृ० १२)

'रसवन्ती' में प्रेम की व्याख्या विस्तार से की गई है। प्रेम की सार्थकता सामाजिक बन्धनों में है। प्रेम समस्त भ्रंशकारकों से जूझने की क्षमता रखता है और समस्त परिस्थितियों में अडिग रहता है—

बन्धनों से होकर भयभीत

किन्तु, क्या हार सका अनुराग

मानकर किस बंधन का दर्प

छोड़ सकती ज्वाला की आग (‘रसवन्ती’, पृ० १२)

इस संग्रह की ‘प्रीति’ नामक कविता में प्रेम के अपरिवर्तित रूप का वर्णन किया गया है।

अनबोल ही सारा दुख सह सीख (‘रसवन्ती’, पृ० २६)

यह पंक्ति अंग्रेज कवि शेक्सपीयर के नाटक ‘ट्वेल्फथ नाइट’ की नायिका वाँडला की याद दिलाती है। प्रेम में निहित बलिदान और अपरिवर्तनशीलता को वह निम्न प्रकार से दिग्दर्शित करती है।

She never told her love,

But let concealment, like a worm i’ the bud,

Feed on her damask cheek : She prived in thought,

And, with a green and yellow melancholy,

She sat like patience on a movement,

Smiling at, grief

(Act II. Se. IV)

प्रेम के दुख का ढिंढोरा नहीं पीटा जाता। वह चुपके-चुपके सहने की चीज है और अभिव्यक्ति का उसमें स्थान नहीं। शेक्सपीयर के उपरोक्त भावों को ‘दिनकर’ ‘रसवन्ती’ में निम्न प्रकार से व्यक्त करते हैं—

सीमा, बंध, मृत्यु से आगे,

बस पी कहीं प्रीति अहरह सखि (‘रसवन्ती’, पृ० २६)

प्रेम की सीमा नहीं होती। उसका विस्तार मृत्यु से भी परे होता है। ‘अगुरुधूम’ में प्रेम की रहस्यात्मकता का वर्णन है। प्रेम में सफलता और सिद्धि की आवश्यकता नहीं। इसका मूल्य प्राप्ति में नहीं अपितु साधना में है—

पर, बीतराग-निभ चला भिक्षु

रचकर मेरा अर्चन-विधान

कह चढ़ा चक्र में पुष्प अधिक

अब और सिद्धि क्या मूल्यवान

(‘रसवन्ती’, पृ० ४०)

इसी प्रकार के भाव टैनीसन व्यक्त करता है—

It is better to have loved and lost

Than never to have loved at all

प्रेम मिट्टी को सोना कर देता है, मानवी देवी बन जाती है—

मैं रह न गयी मानवी आज,

देवी कह तुमने की न भूल;

अन्तर का कंचन चमक उठा

जल गयी मैल, भर गयी धूल

(‘रसवन्ती’, पृ० ४३)

‘रास की मुरली’ नामक कविता में प्रेमगत अशेष समर्पण की आकांक्षा व्यक्त है—

साज-भृंगार ?

छोड़ दौड़ो सब साज-सिंगार

रास की मुरली रही पुकार ।

अरी भोली मानिनि ! इस रात

विनय-आदर का नहीं विधान,

अनामन्त्रित अर्पण कर देह

पूर्ण करना होगा बलिदान ।

(पृ० ४७)

प्रेम में अशेष समर्पण ही सबसे बड़ा बलिदान है । ‘रसवन्ती’ की ही एक अन्य कविता ‘पुरुष प्रिया’ में नारी की कोमलता, पुरुष के पौरुष को विदीर्ण कर उसके हृदय में प्रेम संचारित कर देती है । कवि वासना को निषिद्ध बनाता है और इसे सच्चे प्रेम में व्यवधान समझता है—

व्यवधान वासना का कराल जगते जो आग लगाती है;

जो तप्त शाप-विष फूँक सरल नयनों को हिंस्र बनाती है

उन आँखों का व्यवधान, ज्ञान जिनको न रहस्यों का गोपन

देखा कुछ कहीं कि कह आतीं सब कुछ प्राणों के भवन-भवन ।

(पृ० ५२)

‘दिनकर’ की इस कविता में यह मान्यता कि वासना स्थूल धरातल पर जगती है और प्रेम स्थूल से अलग आत्मा में पलता है । इसी प्रकार का भाव आगे चलकर छोटी सी कविता ‘हँसो और बोलो’ में जो ‘आत्मा की आँखें’ नामक संग्रह में छपी, ‘दिनकर’ जी व्यक्त करते हैं—

मगर, यह मत भूलो

कि यह दोस्ती तन नहीं, मन की है

हाथ पाँव की नहीं,

बौद्धिक जीवन की है ।

इसे स्पर्श अधीर तक नहीं जाना चाहिये :

यानी इस दोस्ती को

शरीर तक नहीं जाना चाहिये

(पृ० ११३,

‘रसवन्ती’ में दिनकर जी के प्रेम का आदर्श बलिदान है—

ठौर-ठौर हैं मरण सरोवर,

बने पिया के पग में ।

(‘रसवन्ती’, पृ० ५२)

इस संग्रह में प्रेम-भावना की यही पृष्ठभूमि है । यह सब ऐसा प्रतीत होता है कि परम्परा की पुनरावृत्ति मात्र है और मौलिकता का इसमें अभाव है ।

आगे चलकर 'सीपी और शंख' में प्रेम के स्वर्गों में परिवर्तन आया है। 'रस-वन्ती' की भाँति यहाँ फिर 'दिनकर' यह दिखाना चाहते हैं कि प्रेम मन के समस्त मूलों को धोकर स्वच्छ कर देता है और मनुष्य देवता-स्वरूप दृष्टिगोचर होता है—

प्रेम क्या है ?

क्षीर का निर्भर

कि जब फूटता है

हृदय नर का, सन्त की आवाज हो जाता है ।

('सीपी और शंख', पृ० ३०)

यहाँ आकर 'दिनकर' अंग्रेज कवि और लेखक डी० एच० लारेन्स से बहुत अधिक प्रभावित हुए हैं। आगे तो उन्होंने 'आत्मा की आँखें' नामक संग्रह में लारेन्स की कविताओं पर आधारित कविताओं की रचना कर डाली। डी० एच० लारेन्स में काम-चेतना उनकी निर्धूम-वासना वन्ति की समस्त दाहकता लिए हुए है। सात कवच पहने हुए भी नारी पुरुष के चुम्बनों में पुलकित है, पुरुष अपने से सुरक्षित नारी को देखना चाहता है और उसे आश्वासन देना चाहता है कि उसकी सुरक्षकता में नारी को कोई भय नहीं है—

चुम्बनों के वर्म में, मैं ही तुम्हारे साथ हूँ
तुम मुझे पहने हुए हो, अब भला क्या भीति है ?

('सीपी और शंख', पृ० ४७)

'सीपी और शंख' में ही संगृहीत 'मानिनी' नामक कविता फ्रांस के कवि चार्ल्स क्रोज की रचना का भावानुवाद है। इसमें फ्रांस की जगत्-प्रसिद्ध विलासिता पूर्णरूपेण चित्रित की गई है। कविता का सार है कि वर्तमान में पश्चिमी देशों में स्वर्गीय या आत्मिक प्रेम का कोई स्थान नहीं है। इस प्रकार के प्रेम के समस्त मूल्य वहाँ स्थूल शरीर के स्पर्शों में निहित हैं। वहाँ प्रेम का अर्थ है—

बाँह में आओ हृदय की स्वाभामिनी
व्योम के नीचे मुझे सौदामिनी
अंक में वक्षोज को जी भर भरूँगा,
और मधु-मुख-पद्म का चुम्बन करूँगा, ।

('सीपी और शंख', पृ० ५१)

सम्भवतः पाश्चात्य विचारधारा से प्रभावित 'दिनकर' इसी संग्रह में आगे प्रेम के क्षणों की बर्बरता-पूर्व वामना को और अधिक शक्तिशाली ढंग से व्यक्त करते हैं। इस प्रकार के प्रेम की अभिव्यक्ति में मिदुलेती और मभ्यता का कोई स्थान नहीं है—

मैं प्यार किया करता हूँ बर्बर के समान,

निर्भर पर टूट पड़ता प्यास का वेग जब भी भरता,

मैं नहीं शिथिल प्रेमी सज्जन, सुकुमार सम्य,
जो पटुंच प्रिया के पास सोचने जाने, क्या लगता ।

(‘सीपी और शंख’, पृ० ५१)

इन दृष्टान्तों से स्पष्ट होता है कि प्रेम-सम्बन्धी विचारों में ‘दिनकर’ फ्रायड के वासना-त्मक विचारों के प्रभाव में आ चुके हैं। वह भारतीय शुद्ध आदर्शवादी विचारों से बाहर जा चुके हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि ‘उर्वशी’ तक पहुँचते-पहुँचते ‘दिनकर’ पाश्चात्य प्रेम-सम्बन्धी विचारों से पूर्णरूपेण अवगत हो चुके थे और उनकी रचनाओं पर फ्रायड और लारेंस का प्रभाव स्पष्ट है।

‘उर्वशी’ को प्रेम-काव्य कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी। ‘दिनकर’ ने प्रेम-सम्बन्धी समस्त सम्भाव्य विचारधाराओं को इसमें व्यक्त कर दिया है। डा० नगेन्द्र के शब्दों में—“नर-नारी का प्रेम दर्शन की शब्दावली में काम तथा काव्य-शास्त्र की शब्दावली में रति मानव-जीवन की सबसे प्रबल प्रवृत्ति है और ‘उर्वशी’ काव्य का यही आधार-विषय है।”

(‘आजकल’, जनवरी १९६२)

हमारे देश के साहित्य में प्रेम-कथाओं के दो रूप उपलब्ध हैं। प्रथम वर्ग में वे रचनाएँ आती हैं जिनमें पुरुष नारी-सौन्दर्य में अभिभूत होकर प्रेम का प्रस्ताव रखता है। इस प्रकार की कथाओं में प्रमुख स्थान यमुनलाल की कथा का है। दूसरी प्रकार की वे कथाएँ हैं जिनमें सुन्दर नारी पुरुष के शौर्य और पुरुष की ओर आकर्षित होती है। साहित्य के इतिहास में दूसरी प्रकार की कथाएँ अपेक्षाकृत कम हैं। ‘उर्वशी’ की कथा दूसरे प्रकार की कथाओं में से एक है।

स्वर्ग में उर्वशी अतृप्ति का अनुभव करती है। वह पौरुषहीन, पूर्णमान तथा एकरस भोग-वासना सृष्टि का प्रतीक है। उर्वशी इस वातावरण से विरक्त हो जाती है और उसे पुरूरवा में वह सब कुछ दीख पड़ता है जो स्वर्ग में नहीं। उर्वशी की निम्न उक्ति उसके मनुष्य के पुरुष के प्रति आकर्षण को अभिव्यक्त करती है—

वही धन्य जो मानसयी प्रणयी के बाहु-बलय में,

खिंची नहीं विक्रम-तरंग पर चढ़ी हुई आती है।

हरण किया क्यों नहीं, माँग लाने में भी यदि अपयश था।

(‘उर्वशी’, पृ० ४५)

और पुरूरवा जब आदर्श और अहिंसा की बात करता है तो वह राजा की पौरुषहीनता पर खीझकर कहती है—

यह मैं क्या सुन रही ? देवताओं के जग से चलकर,

फिर मैं क्या फँस गई, किसी सुर के ही बाहु-बलय में।

(‘उर्वशी’, पृ० ४७)

इन पंक्तियों से स्पष्ट होता है कि पुरुष का पौरुष नारी के प्रेम का कारण बनता है प्रेम-कथा का यह अभिप्राय अधिक आकर्षणपूर्ण और उचित है।

3 'उर्वशी' में प्राप्त प्रेम के विभिन्न स्रोतों तक पहुँचने से पूर्व यह देख लेना उचित होगा कि 'दिनकर' जी प्रेम शब्दों से क्या तात्पर्य समझते हैं। उनकी धारणा है कि प्रेम प्रत्येक प्रपञ्च का प्राण-तरंग है, हर मानव-उर की उमंग है, प्रत्येक अंग में विद्यमान अंग है, रूप-रूप में रमा हुआ अरूप है, आकार-आकार में व्युत्पन्न निराकार है, दृश्य-दृश्य में उपस्थित अदृश्य है, सर्वथा अनुभाव्य गूँगे का-सा गुड़-स्वाद है, सत्य तथ्य होते हुए भी अकथ्य है, अनिवर्चनीय है, वर्णनातीत है, अनभिव्यक्त है, क्योंकि भाषा तो केवल स्थूल, पाथिव तथा सावयव वस्तुओं का वर्णन करने में ही सक्षम है—

(शब्द नहीं है, यह गूँगे का स्वाद, अगोचर सुख है, 3
प्रणय प्रज्वलित उर में जितनी भँकृतियाँ उठती हैं
कहकर भी उनको कह पाते कहाँ सिद्ध प्रेमी भी ?
भाषा रूपाश्रित अरूप है यह तरंग प्राणों की) 3

'उर्वशी' में प्रेम-विषयक अपनी मान्यताओं की अभिव्यक्ति के लिए 'दिनकर'जी ने विभिन्न पात्रों द्वारा भाव-व्यक्त कराये हैं। प्रेम को उन्होंने विभिन्न स्थलों पर विभिन्न नामों से पुकारा है। प्रथम अंक में सहजन्मा प्रेम की व्याख्या करते हुए कहते हैं—

कहते हैं, धरती पर सब रोगों से कठिन प्रणय है।
लगता है यह जिसे, उसे फिर नींद नहीं आती है
दिवस रुदन में रात आह भरने में कट जाती है
मन खोया-खोया, आँखें कुछ भरी-भरी रहती हैं
भीगी पुतली में कोई तस्वीर खड़ी रहती है। (पृ० १४)

द्वितीय अंक में महारानी औशीनरी प्रेम को परिभाषित करती हुई कहती हैं—

(कौन कहे ? यह प्रेम हृदय की बहुत बड़ी उलझन है)
जो अलभ्य, जो दूर, उसी को अधिक चाहता मन है। (पृ० ३५)

दूसरी पंक्ति अंग्रेज कवि कीट्स की प्रसिद्ध उक्ति की याद दिलाती है—“Hear melodies are sweet but those unheard are sweeter.” तृतीय अंक में पुरुरवा प्रेम की आग में जलता है, किन्तु अपने रोग को समझ पाने में असमर्थ है वह कहता है—

आग है कोई, नहीं जो शान्त होती,
और खुलकर खेलने से भी निरन्तर भागती है।
रूप का रसमय निमन्त्रण
या कि मेरे ही रुधिर की वह्नि

मुझको शान्ति से जीने न देती ।

हर घड़ी कहती, उठो,

इस चन्द्रमा को हाथ से धर कर निचोड़ो,

पान करलो यह सुधा, मैं शान्त हूँगी,

अब नहीं आगे कभी उद्भ्रान्त हूँगी ।

(पृ० ४८)

तृतीय अंक में उर्वशी प्रेम को विभिन्न नामों से पुकारती है । वह कभी इसे वैश्वानर कहती है—

पर, ओ, जीवन के चटुल वेग ! तू होता क्यों इतना कातर,

तू पुरुष तभी तक, गरज रहा जब तक भीतर यह वैश्वानर ।

(पृ० ५५)

कभी वह इसे पावक की संजा देती है—

जब तक यह पावक शेष, तभी तक सखा-मित्र त्रिभुवन तेरा,

चलता है भूतल छोड़ बादलों के ऊपर स्थन्दन तेरा

जब तक यह पावक शेष, तभी तक सिन्धु समादर करता है

अपना समस्त मणि-रत्न कोष चरणों पर लाकर धरता है ।

×

×

×

अप्सरा स्वर्ग से आती है अधरों का चुम्बन पाने को ।

(पृ० ५६)

प्रेम अनल-ज्वार है, यह ज्वाला है और प्रज्ज्वलित रक्त है—

जितना ही यह खर अनल-ज्वार शोणित में उमह उबलता है,

उतना ही यौवन-अगुरु दीप्त कुछ और धधक कर जलाता है ।

×

×

×

(पृ० ५६)

बुझ जाय मृत्तिका अनल, स्वर्ग पुर का तू इतना ध्यान न कर

जो तुझे दीप्ति से सजती है, उस ज्वाला का अपमान न कर ।

तू नहीं जानता इसे, वस्तु जो इस ज्वाला में खिलती है

सुर क्या, सुरेश के आलिंगन में भी न कभी वह मिलती है ।

यह विकल व्यग्र, विह्वल प्रहर्ष सुर की सुन्दरी कहाँ पाये ।

प्रज्ज्वलित रक्त का मधुर स्पर्श नभ की अप्सरा कहाँ पाये ! (पृ० ५६)

इन नामकरण संस्कारों के अतिरिक्त 'दिनकर' जी प्रेम को मानव-लोक की एक अमर निधि के रूप में भी प्रस्तुत करते हैं । वह प्रेम को दिव्यलोक की वस्तु नहीं अपितु मानव-लोक की सहज सम्पत्ति मानते हैं । इसी कारण प्रेम की सफलता इस संसार में ही सम्भव है, अन्यत्र नहीं । 'दिनकर' जी इस तथ्य को स्थान-स्थान पर स्थापित करते हैं । प्रथम अंक में मेनका और रम्भा के मध्य एक प्रश्न उठता है—

कौन भेद है, क्या अन्तर है धरती और गगन में
उठता है यह प्रश्न कभी रंभे तेरे भी मन में ?

मेनका इसका स्वयं उत्तर प्रस्तुत करती है—

पर, तुम भूल रही हो रंभे ! नश्वरता के वर को ;
भू को जो आनन्द सुलभ है, नहीं प्राप्त अम्बर को ।

इसीलिए 'नन्दन वन की उषा', 'सुरपुर की कौमुदी', 'इन्द्र के मन की कलित कामना', 'देवताओं के शोणित में मधु-युक्त अग्नि उत्पन्न करने वाली रति की मूर्ति', 'रमा की प्रतिमा', 'विधु की प्राणेश्वरी', 'काम के कर की आरती शिखा-सी', 'सुरपुर की शोभा' उर्वशी पृथ्वी पर आकर स्वर्ग को तुच्छ समझने लगी और

पुरुष रत्न को देख न वह रह सकी आप अपने में,
डूब गई सुरपुर की शोभा मिट्टी के सपने में ।
प्रस्तुत है देवता जिसे सब कुछ देकर पाने को,
स्वर्ग कुसुम वह स्वयं विकल है वसुधा पर जाने को । (पृ० १३)

प्रेम की पीड़ा पृथ्वी को स्वर्ग की अपेक्षा अधिक सुन्दर बना देती है और देवता स्वर्ग को छोड़ इस लोक में आते हैं—

✓ सो जो हो, पर, प्राणों में उसके जो प्रीति जगी है,
अन्तर की प्रत्येक शिरा में ज्वाला जो सुलगी है
छोड़ेगी वह नहीं उर्वशी को अब देव-निलय में,
ले जायेगी खींच उसे उस नृप के बाहु-बलय में (पृ० १३)

इसी प्रकार का विश्वास पुरूरवा का है । वह आश्चर्य है कि प्रेम की पीड़ा एक न एक दिन उर्वशी को पृथ्वी पर खींच लायेगी ।

✓ और प्रीति जगने पर तुम बंकुष्ठ लोक को तजकर,
किसी रात, निश्चय भूतल पर स्वयं चली आओगी । (पृ० ४५)

उर्वशी भी इसे स्वीकार करती है । इससे स्पष्ट होता है कि 'दिनकर' प्रेमोपलब्धि का इस संसार में ही सम्भव समझते हैं—

मैं इसी अगुरु की ताप-तप्त मधुमयी गन्ध पीने आयी,
निर्जीब स्वर्ग को छोड़ भूमि की ज्वाला में जीने आयी ।

'उर्वशी' की भूमिका में भी कवि ने अपने प्रेम-विषयक विचारों को प्रतिपादित किया है । प्रेम एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य से बाँधकर रखने का सबसे बड़ा साधन है—

✓ "अपने स्थूल से स्थूल रूप में भी, प्रेम एक मानव का दूसरे मानव के साथ एकाकार होने का सबसे सहज, सबसे स्वाभाविक मार्ग है, किन्तु, विकसित और

उदात्त हो जाने पर तो वह मनुष्य को बहुत कुछ वही शीतलता प्रदान करता है, जो धर्म का अवदान है ।" (भूमिका, उर्वशी)

काम को 'दिनकर' समस्त सुखों का स्रोत समझते है—

"जीवन में सूक्ष्म आनन्द और निरुद्देश्य सुख के जितने भी सोते है, वे कहीं-कहीं, काम के पर्वत से फूटते है । जिसका काम कुंठित, उपेक्षित अथवा अवरुद्ध है, वह आनन्द के अनेक सूक्ष्म रूपों से वंचित रह जाता है । हीन केवल वही नहीं है, जिसने धर्म और काम को छोड़ कर केवल अर्थ को पकड़ा है, न्यायतः इकट्ठा काठ तो उस साधक को भी कहना चाहिए, जो धर्म सिद्धि के प्रयास में अर्थ और काम, दोनों से युद्ध कर रहा है ।" (भूमिका 'उर्वशी')

संन्यास और प्रेम में भेद बताये हुए 'दिनकर' जी लिखते हैं— "और संन्यास प्रेम को वर्दाश नहीं कर सकता, न प्रेम संन्यास को, क्योंकि प्रेम प्रकृति और परमेश्वर संन्यास है और मनुष्य को सिखलाया गया है कि एक ही व्यक्ति परमेश्वर और प्रकृति, दोनों को प्राप्त नहीं कर सकता ।" (भूमिका 'उर्वशी')

— 'उर्वशी' काव्य में शृंगार के चार रूप दिखाई पड़ते है— (१) उच्छृंखल शृंगार, जिसके अन्तर्गत अप्सराएँ मेनका, रम्भा आदि आती है । (२) उन्नयनित शृंगार, जिसमें औशीनरी की वेदना, त्याग गाम्भीर्य और दायित्व का भाव आता है । (३) समंजस्यपूर्ण गार्हस्थिक शृंगार, जिसका प्रतिनिधित्व महर्षि च्यवन और सुकन्या द्वारा होता है । (४) प्रवृत्तिमूलक, भोग-प्रधान शृंगार जो उर्वशी और पुरूरवा के माध्यम से व्यंजित होता है । ये समस्त विचार-धाराएँ एक-दूसरे की विरोधी है केवल एक ही विचार ऐसा है जो चारों में प्राप्त है और यह है निष्कामता । प्रथम में उच्छृंखलता है, द्वितीय में अहं का विलय है, तृतीय में एकात्म्य और सामंजस्य है और चौथे का आधार बीसवीं शताब्दी का मनोविज्ञान है जिसके अनुसार मनुष्य का प्रत्येक कार्य काम-प्रेरित होता है । प्रथम प्रकार के प्रेम का आभास हमें रम्भा और सहजन्या आदि अप्सराओं के वार्त्तालाप में मिलता है । उर्वशी के प्रेम की चर्चा करते समय रम्भा सहजन्या से कहती है—

सहजन्ये ! पर, हम परियों का इतना भी रोना क्या ?

किसी एक नर के निमित्त इतना धीरज खोना क्या ?

...

...

...

{ प्रेम मानवी की निधि है, अपनी तो वह क्रीड़ा है }
{ प्रेम हमारा स्वाद, मानवी की आकुल पीड़ा है } 6
जनमी हम किसलिये ! मोद सबके मन में भरने को,
किसी एक को नहीं मुग्ध जीवन अर्पित करने को ।
सृष्टि हमारी नहीं संकुचित किसी एक आनन में,
किसी एक के लिये सुरभि हम नहीं संजोती तन में । (पृ० १५)

दूसरा विकास-सूत्र हमें औशीनरी की वेदना में मिलता है। उसका पति उसे छोड़कर उर्वशी के प्रेम-पाश में फँस चुका है। वह एक सच्ची, साध्वी भारतीय पत्नी है। उसका प्रेम तिरस्कृत किया जाता है किन्तु वह असहाय है—

हाय, मरण तक जी कर मुझको हालाहल पीना है।
जाने, इस गणिका का मैंने कब क्या अहित किया था,
कब, किस पूर्व जन्म में उसका क्या सुख छीन लिया था।
जिसके कारण भ्रमा हमारे महाराज की मति को,
छीन ले गई अधम पापिनी मुझ से मेरे पति को। (पृ० ३३)

उसकी व्यथा की पराकाष्ठा निम्नलिखित शब्दों में भक्त होती है—

(जोत गई अप्सरा, सखी ! मैं रानी बनकर हारी।) (पृ० ३६)

तीसरे प्रकार का प्रेम भारतीय दर्शन का आदर्श है। यह गार्हस्थिक प्रेम महर्षि च्यवन और राजकुमारी सुकन्या का है, जो बाद में महर्षि की पत्नी हो जाती है। पति-पत्नी के प्रेम में एकरसता है। दोनों एक-दूसरे के साहचर्य से गौरवान्वित होते हैं। यहाँ योग के पश्चात् भोग का रसास्वादन किया जाता है। सुकन्या को देखकर महर्षि का प्रेम फूट पड़ता है, किन्तु यह प्रेम वासनामय नहीं है। सुकन्या को देखकर महर्षि की दाहकता मिट जाती है और उसे अपनी तपस्या की सिद्धि के रूप में वरण करने को तत्पर होते हैं—

अब होगा क्या अपर स्वर्ग जिसका संधान करूँ मैं।

हरि प्रसन्न यदि नहीं, सिद्धि बनकर तुम वधों आयी हो !

(पृ० ११४)

किन्तु 'दिनकर' जी ने जिस रुचि और विस्तार के साथ प्रवृत्ति-मूलक, भोग-प्रधान शृंगार का वर्णन किया है उससे कभी-कभी पाठकों को यह भ्रम होता है कि कदाचित् यह कवि की स्वानुभूति है। तृतीय अंक में (उर्वशी और पुरूरवा के प्रेमालाप के माध्यम से 'दिनकर' ने प्रेम के अनेक गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन किया है।) श्री नरेन्द्र शर्मा का निम्नलिखित मत इसी यथ्य की पुष्टि करता है— (तीसरे अंक में प्रेम कम हो गया है, प्रेम की व्याख्या अधिक हो गयी है। प्रेम में पलकर प्रेमी एकाकार नहीं होते। वह आत्मज्ञापन करने लगते हैं। यह कर्म नहीं, क्रिया है, क्रिया नहीं, प्रतिक्रिया है।)"

(‘दिनकर सृष्टि और दृष्टि’, मणि कुट्टिम काव्य, उर्वशी, पृ० २४०)

पश्चात्त्य देशों में प्रेम के तीन प्रकार माने जाते हैं—‘प्लेटोनिक लव’, ‘रोमान्टिक लव’ और ‘लव थू पेरेण्टल च्वायस’। ‘प्लेटोनिक लव’ केवल विचारों के जगत् की चीज है, यह निसमिप और दार्शनिक है। इस प्रेम में प्रजननशीलता नहीं होती और यह कभी-कभी सजातीय तथा समयौनिक भी हो सकता है। प्लेटो, जिसको इस प्रकार के प्रेम का नामकरण करने का श्रेय है, कहा करता था कि ऐसे प्रेम में प्रज-

नन कार्य नहीं, सांस्कृतिक कार्य हुआ करता है। तथा यह ज्ञान, सत्य और आध्यात्म की सिद्धि में सहायक होता है 'उर्वशी' में इस प्रकार के प्रेम को कोई स्थान नहीं मिला है।

इसके पश्चात् रोमाण्टिक प्रेम आता है। रोमाण्टिक प्रेम की कुछ विशेषताएँ इस प्रकार हैं। इसमें प्रेम का आलम्बन दुर्लभ होता है, सुलभ या अलभ्य नहीं। इसी कारण इसकी प्राप्ति बहुत कठिन होती है। यदि आलम्बन सुलभ होता है तो प्रेम का वेग मन्दा पड़ जाता है। दूसरी विशेषता है कि (इस प्रकार के प्रेम का आश्रय अपने आलम्बन के अधिक मूल्यवान होने में विश्वास रखता है,) और परिणामस्वरूप आलम्बन की प्राप्ति के लिए अनेक मधुर प्रयास उपलब्ध होते रहते हैं। तीसरे रोमाण्टिक प्रेम में रूढ़ियों, परम्पराओं और बन्धनों के प्रति अवहेलना दृष्टिगोचर होती है। यह भाव कालिदास का पुरुरवा निम्न शब्दों में व्यक्त करता है—

नद्या इव प्रवाहो विषर्भावालासङ्कट स्थलित वेगः
विधिनत समागम सुखो मनसि शयः शतगुणी भवति ॥

(विक्रमोर्वशीयम्)

(ऊबड़-खाबड़ चट्टानों के बीच में आ जाने से जैसे नदी और अधिक वेग से बहने लगती है, वैसे ही जब प्रियमिलन के सुखमे बाधाएँ आती हैं, तब प्रेम की जलन भी सौगुनी बढ़ जाती है।)

इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि रोमाण्टिक प्रेम के लिए रूढ़ियों, बन्धनों और अड़चनों का होना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त रोमाण्टिक प्रेम में तीन तत्व और होते हैं—आवेग, कल्पना और कोमलता। रोमाण्टिक प्रेम के ये सब लक्षण 'उर्वशी', में पुरुरवा और उर्वशी के प्रेम में प्राप्त होते हैं। पुरुरवा से एक बार मिलने के पश्चात् उर्वशी उससे पुनः मिलने के लिए तड़पती है। आवेग से चालित वह कहती है—

...यदि आज कान्त का अंक नहीं पाऊँगी,
तो शरीर को छोड़ पवन में निश्चय मिल जाऊँगी।
रोक चुकी तुम बहुत अधिक अब और न रोक सकोगी,
दिव में रखकर मुझे नहीं जीवित अवलोक सकोगी। (पृ० २०)

यदि उर्वशी 'आवेग' से चालित है तो पुरुरवा 'कल्पना' में खोया रहता है और कोमलता से परिपूर्ण है—

एक मूर्ति में सिमट गई किस भाँति सिद्धियाँ-सारी ?
कब था ज्ञात मुझे, इतनी सुन्दर होती है नारी ?
लाल-लाल वे चरण कमल-से, कुंकुम से, जावक-से,
तन की रक्षित कान्ति शुद्ध, ज्यों धुली हुई पावक से।

जग भर की माधुरी अरुण अधरों में भरी हुई-सी ।
तन-प्रकान्त मुकुलित अनन्त ऊषाओं की लाली-सी,
नूतन तासंपूर्ण जगत की संचित हरियाली-सी ।
पग पड़ते ही फूट पड़े विद्रुम-प्रवाल धूलों से,
जहाँ खड़ी हो, वहीं व्योम भर जाय खेत फूलों से, (पृ० २४)

एक और महत्वशाली बात है कि रोमाण्टिक प्रेम में आलम्बन को शोभावलय में ढक कर देखा जाता है तथा इसमें प्रेम के आलम्बन को भी इतना महिमामय होना चाहिए कि वह आश्रय के सामने अपनी रहस्यमयता को पूर्ण रूपेण निभा सके । पुरुरवा उर्वशी में इसी प्रकार की रहस्यमयता देखता है—

दर्पण, जिसमें प्रकृति रूप अपना देखा करती है ।
वह सौन्दर्य कला जिसका सपना देखा करती है ।
नहीं, उर्वशी नारि नहीं, आमा है निखिल भुवन की,
रूप नहीं, निष्कलुष कल्पना है त्रष्टा के मन की । (पृ० २४)

प्रेम का एक महत्वपूर्ण पहलू शरीर है । कुछ प्रश्न अनायास ही उठते हैं । प्रेम में शरीर का क्या स्थान है ? क्या प्रेम में मांसलता अपेक्षित है ? क्या प्रेम पार्थिव जगत् की सम्पत्ति है ? इस प्रकार के अनेक प्रश्न युगो से चिन्तकों को परेशान करते आ रहे हैं । इसमें शंका के लिए स्थान नहीं कि शरीर में इन्द्रियाँ नैसर्गिक हैं और उनका विषय ग्रहण करना सहज स्वभाव है । इसी भाँति प्रेम-प्रवृत्ति भी इन्द्रिय-जनित है, स्नायु उद्भूत है, मनोजन्या है । इस कारण प्रेम-प्रवृत्ति भी स्वाभाविक है । यह शारीरिक तथा मानसिक दोनों हैं और इसे शरीर से अलग अनुभव करना असम्भव है—

‘शरीर स्थित हेतुत्वादाहार सधर्माणो हि कामः’ (‘कामसूत्र’)

(जिस प्रकार जीर्णादि दोषों का उत्पादक होते हुए भी भोजन शरीर-सरक्षण एवं सवर्द्धन के लिए आवश्यक है, उसी प्रकार सम्भोग भी शारीरिक स्वास्थ्य के लिए अत्यावश्यक है ।)

४ शरीर-विज्ञान और जीव-विज्ञान के अनुसार प्रेम-प्रवृत्ति जीव-जन्तुओं में अपने-आप में एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है और यह शरीर के द्वारा सम्भव है, शरीर की ही आवश्यक क्रिया है और शरीर के लिए ही की जाती है । इसी बात को इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि शरीर प्रेम का भौतिक आधार है और प्रेम शारीरिक साफल्य का अमोघ मन्त्र है । हेवर्लॉक एलिस, जिनकी पुस्तक ‘यौन मनोविज्ञान’ का हिन्दी रूपान्तर श्री मन्मथनाथ गुप्त ने किया है । वे लिखते हैं “प्रेम-क्रीड़ा सही मानों में एक जीव वैज्ञानिक प्रक्रिया है और प्राणि-जगत् में जहाँ भी स्त्रियों और पुरुषों का अस्तित्व है, प्रेम-क्रीड़ा दृष्टिगोचर होती है । ... रति-क्रीड़ा का इस जीव वैज्ञानिक तथ्य के साथ

सम्बन्ध है कि जानवरों तथा असभ्य मनुष्यों में विशेषकर स्त्रियों में कामुकता विशेष समय पर जोर मारती है।" शायद इसी कारण प्रकृति ने प्रेम-प्रवृत्ति को शारीरिक सुख का अनन्त आगार बनाया है तकि प्रकृति का प्रत्येक प्राणी इसके प्रति अनायास ही आकर्षित होता रहे।

✓ (समाज विज्ञान और सांसारिक सनातनता की दृष्टि से भी प्रेम-प्रवृत्ति पवित्र तथा आवश्यक है, इसका विशेष प्रयोजन है) यह प्रयोजन प्रजनन द्वारा प्रकृति-प्रसार। इसी को हम अन्य शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि (इसका प्रयोजन है सन्तानोत्पत्ति द्वारा संसार को सनातनता प्रदान करना) हेवलॉक लिखते हैं—“आदिम मनुष्य ने इस बात को समझ लिया था कि प्रजनन जो प्रकृति में सृजन की शक्ति है, बहुत महान् धारणा है और उसने तदनुसार सृजन के प्रधान प्रतीको में सृजनन अंगों को स्थापित कर दिया।...लिंग-पूजा एक जगद्व्यापी प्रथा के रूप में पाई जाती है। यह उच्च संस्कृति वाले लोगों में भी जैसे रोमन-साम्राज्य के समय रोमनों में और आज के जापानियों में प्रचलित है।”

मैकडूगल नामक विद्वान् अपनी पुस्तक “सैक्स का मनोविज्ञान” में लिखता है—नर-मादा में संयोग की इच्छा सभी प्राणियों में विद्यमान रहती है।” मनोवैज्ञानिक तथ्यों के आधार पर ‘दिनकर’ ‘उर्वशी’ की भूमिका में लिखते हैं—

(“मनोविज्ञान जिस साधना का संकेत देने लगा है, वह वैराग्य नहीं, रागो से मैत्री का संकेत है, वह निषेध नहीं, स्वीकृति और समन्वय का संकेत है, वह सघर्ष नहीं, सहज, स्वच्छ, प्राकृतिक जीवन की साधना है।”)

‘दिनकर’ जी ने इस सत्य को पहचाना। उन्होंने उन कतिपय विचारों से असहमति प्रकट की जो शरीराश्रित प्रेम को उपेक्षित, गृहित, हेय, त्याज्य, दुःख मूलक, मुक्ति-बाधक आदि मानते हैं। ‘उर्वशी’ के अध्ययन से विदित होता है कि ‘दिनकर’ ऐसे विचारों को वास्तविकता से दूर और अयथार्थवादी समझते हैं। वह इस विषय पर सर्वथा सम्यक्, सर्जनात्मक तथा पूर्णरूपेण स्वाभाविक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हुए लिखते हैं—)

वेह प्रेम की जन्म-भूमि है, पर उसके विचरण की,
सारी लीला-भूमि नहीं सीमित है रुधिर त्वचा तक।
यह सीमा प्रसरित है मन के गहन, गुह्य लोकों में,
जहाँ रूप की लिपि अरूप की छवि आँका करती है।
और पुरुष प्रत्यक्ष विभासित नारी-मुख मण्डल में,
किसी विषय, अव्यक्त कमल को नमस्कार करता है। (पृ० ६२)

पुरुषवा, जो कई रूपों में ‘दिनकर’ स्वयं प्रतीत होते हैं, अपने हृदय में एक द्वन्द्व का अनुभव करता है। द्वन्द्व है शारीरिक और आत्मिक प्रेम के बीच। उर्वशी के

बीच) अर्वशी के बाहुपाश में बँधा पुरुरवा अनायास ही अन्यमनस्क दीख पड़ता है। वह स्वयं प्रयास करता है कारण जानने का—

कौन है अंकुश, इसे मैं भी नहीं पहचानता हूँ।
पर, सरोवर के किनारे कंठ में जो जल रही है,
उस तृषा, उस वेदना को जानता हूँ।
आग है कोई, नहीं जो शान्त होती,
और खुलकर खेलने से भी निरन्तर भागती है। (पृ० ४८)

सघर्षरत वह अन्त में पहुँचता है निम्न परिणाम पर—

रूप की आराधना का मार्ग
आलिंगन नहीं तो और क्या है !
स्नेह का सौन्दर्य को उपहार
रस-चुम्बन नहीं तो और क्या है ! (पृ० ४९)

ये पंक्तियाँ 'दिनकर' जी के विश्वास को व्यक्त करती हैं। वह प्रेम को देह-जनित मानते हैं और उसे कायिक तथा तन-तनय के रूप में प्रतिपादित किया है। उनका विश्वास है कि प्रेम केवल शरीर-जन्य ही नहीं अपितु उसके द्वारा अनुभाव्य और उपभोग्य भी है। उनके दर्शन के अनुसार प्रेम तन-जन्य तथा तन-गम्य है, बुद्धि-गम्य नहीं—

श्रुतिपुट पर उत्तप्त श्वास का स्पर्श और अधरों पर
रसना की गुदगुबी, अदीपित निश के अधियाले में।
रस-माती, भटकती उँगलियों का संचरण त्वचा पर,
इस निगूढ़ कूजन का आशय बुद्धि समझ सकती है !
उसे समझता रक्त, एक कम्पन जिसमें उठता है,
किसी दूब की फुनगी से औचक छू जाने पर भी। (पृ० ६०)

बुद्धि एवं उसका विपुल वैभव पावन-प्रेम-पयोधि की एक सिहरन मात्र का अर्थ आनन्द-अलौकिकता अनुभव करने में असमर्थ है, तद्वर्जित स्वर्गीय सुख को शब्दबद्ध करने में असफल है। यही प्रेम की बुद्धि पर विजय है—

(बुद्धि बहुत करती बखान सागर-तट की सिकता का,
पर, तरंगचुम्बित सैकत में कितनी कोमलता है।)
इसे जानती केवल सिहरित त्वचा नग्न चरणों की
तुम निरूपते हो विराग जिसकी भीषिका सुनाकर,
मेरे लिये सत्य की वाणी वही तप्त शोणित है। (पृ० ६०)

प्रेम के दैहिक होने के कारण ही प्रेमानुभूति का वास्तविक आनन्द लेने के लिए दिव्य लोक की अप्सराएँ मानव शरीर धारण कर इस पृथ्वी पर उतर कर आती हैं। उर्वशी कहती है—)

तब तक यह पावक शेष, तभी तक सिन्धु समादर करता है,
प्रेमना समस्त मणि-रत्न-कोष चरणों पर लाकर धरता है।
पथ नहीं रोक्ते सिंह, राह देती है सघन अरण्यानी,
तब तक ही सीस झुकाते हैं सामने प्रांशु पर्वत मानी।
सुरपति तब तक ही सावधान रहते बढ़ कर अपनाने को,
अप्सरा स्वर्ग से आती है अधरों का चुम्बन पाने को। (पृ० ५६)

ये दृष्टान्त स्पष्ट करते हैं कि 'दिनकर' जी की धारणा है कि शरीर के अभ्यन्त
में प्रेम की परिकल्पना करना अति दुष्कर है। अतः स्थान-स्थान पर उन्होंने तन-गत
प्रेम का प्रतिपादन किया है। निपुणिका के शब्दों में उर्वशी पुरूरवा के माँसल प्रणय-
व्यापार का एक चित्र द्रष्टव्य है—

महाराज ने देख उर्वशी को अधीर अकुलाकर,
बाँहों में भर लिया दौड़ गोदी में उसे उठाकर।
समा गयी उर-बीच अप्सरा मुख-संभार-नता-सी,
पर्वत के पंखों में सिमटी गिरि मल्लिका लता-सी (पृ० ३१)

शारीरिक स्पर्श पाकर, बाहु-पाश में बन्दी प्रेमी-प्रेमिका कहाँ से कहाँ पहुँच जाते हैं,
शारीरिक सस्पर्श कितना सुखद, कितना शीतल होता है, यह सब 'दिनकर' जी
निम्नलिखित पक्तियों में व्यक्त करते हैं—

आरती की ज्योति को भुज में समेटे,
मैं तुम्हारी ओर अपलक देखता एकान्त मन से।
रूप के उद्गम अगम का भेद गुनता हूँ।
साँस में सौरभ, तुम्हारे वर्ण में गायन भरा है
सींचता हूँ प्राण को इस गन्ध की भीनी लहर से,
और अगों की विभा की वीचियों से एक होकर
मैं तुम्हारे रंग का संगीत सुनता हूँ। (पृ० ५२)

पुरूरवा और उर्वशी की कामना है अग-अग में आलिंगनबद्ध होने की। उनका प्रमुख
सुख कामुक ससर्ग और शारीरिक सम्पर्क में है। पुरूरवा कहता है—

एक ही आशा, मरुस्थल की तपन में,
औ सजल कादम्बिनी ! सिर पर तुम्हारी छाँह है,
एक ही सुख है, उरस्थल से लगा हूँ,
ग्रीव के नीचे तुम्हारी बाँह है।

इन प्रफुल्लित प्राण-पुष्पों में मुझे शाश्वत शरण दो,
गन्ध के इस लोक से बाहर न जाना चाहता हूँ।
मैं तुम्हारे रक्त के कण में समा कर।

प्रार्थना के गीत गाना चाहता हूँ।

! (पृ० ५५)

अतः यह स्पष्ट है कि ('दिनकर' जी के लिए पहले प्रेम स्पर्श होता है। इन दृष्टान्तों से ध्वनित होने वाली शारीरिकता प्रेम के लिए आवश्यक है तथा जैव दृष्टि से भी स्वाभाविक है। यदि जीव-विज्ञान और मनोविज्ञान की दृष्टि से प्रेम को देखा जाय तो विदित होता है कि यह एक प्रकार की 'साइकिक इनर्जी' है जो मनोविज्ञान की शब्दावली में 'लिबिडो' कहलाती है। यह 'साइकिक इनर्जी' (या जिसे हम हिन्दी में मानसिक ऊर्जा कहते हैं) प्राणियों के शरीर में सदैव ही चलायमान रहती है। इसका कारण है कि मनुष्य शरीर में हर समय 'मेटा बालिज्म' की प्रक्रिया चलती रही है, जिसे हम एक प्रकार से जीव-शैवाल की रचना और विघटन कह सकते हैं। 'मेटा बालिज्म' के अन्तर्गत भी दो प्रकार की उपक्रियाएँ चलती रहती हैं—'एलबालिज्म' और 'केटेबालिज्म'। प्रथम उपक्रिया के फलस्वरूप हम कुछ उपलब्ध करते हैं किंतु दूसरी के परिणामस्वरूप हम कुछ खोते हैं, तब कुछ पाते हैं। जीव-विकास के लिए ये दोनों क्रियाएँ अति आवश्यक हैं। जीव विज्ञान के अनुसार हमारे शरीर में दो प्रकार के कोष होते हैं—'सोमैटिक' और 'जर्मिनल'। 'सोमैटिक' शब्द की उत्पत्ति 'सोमा' से हुई है, जिसका तात्पर्य होता है, शरीर। 'सोमैटिक कोषों' के अन्तर्गत 'सेक्स ऑरगन्स' के अतिरिक्त सभी अंग आते हैं और जर्मिनल कोषों के अन्तर्गत केवल 'सेक्स ऑरगन्स' ही आते हैं। कुछ लोग यह गलती करते हैं कि श्रृंगारिक प्रेम के सवेगों का क्रियाक्षेत्र केवल 'जर्मिनल कोषों' को मानते हैं, जबकि वे सवेग 'जर्मिनल कोषों' के साथ 'सोमैटिक कोषों' में भी उत्पन्न होते रहते हैं। 'इरोजेनिक जोन्स'—उरोज, जघामूल आदि की भाँति हमें त्वक्-चेतना के मनः संवाद (उर्मल-साइके) के द्वारा 'सोमैटिक कोषों' में भी संस्पर्श-सुख का अनुभव होता है, जो प्रेम का ही संवेदन है। 'दिनकर' जी ने उर्वशी में अनेक स्थानों पर 'इरोजेनिक जोन्स' और त्वक्-चेतना के मनःसंवाद की संवेगात्मक प्रतिक्रियाओं तथा संस्पर्श-सुखों का बहुत ही काव्यात्मक वर्णन किया है। उदाहरणार्थ, 'इरोजेनिक जोन्स' का संकेत हमें निम्न उद्धरणों में उपलब्ध होता है—

देती मुक्त उड़ेल अधर-मधु ताप तप्त अधरों में,
 सुख से देती छोड़ कनक-कलशों को उष्ण करों में। (पृ० १५)

और वक्ष के कुसुम-कुंज, सुरभित विश्राम-भवन ये,
 जहाँ मृत्यु के पथिक ठहरकर, श्रान्ति दूर करते हैं। (पृ० ६१)

त्वक्-संवेदना निम्न उद्धरणों में दृष्टिगोचर होती है—

रोमांचक सनसनी स्पर्श-सुख की जो समा गयी है,
 त्वचा-जाल, ग्रीवा कपोल में, उंगली की पोरों में। (पृ० १२६)

इसी प्रकार यौन-संवेगों की शारीरिक प्रत्यर्थता निम्नलिखित पंक्तियों में दिखाई पड़ती है—

शरीरस्थ संचरण, चेता और संवाहिनी नाड़ियों की गति तथा भावुक की मांसपेशियों के विकार का विशेष ध्यान रखा जाता है और सौन्दर्य के आकलन में स्पर्शिक-बिम्ब को अधिक महत्व दिया जाता है। लॉरेन्स इन्ही को 'म्यूस्टीमुलस' कहते हैं।

अब तक के दृष्टान्तों से यह ज्ञात होता है कि यह उस प्रेम का चित्रण है जो एकान्त शारीरिक है, जिसमें केवल शारीरिक क्षुधा का स्पन्दन होता है। यह प्रेम की प्रथम अवस्था होती है। यदि प्रेम की यही इतिथी हो जाती है तो वह निकृष्ट कोटि का माना जायेगा। 'दिनकर' जी प्रेम की इस अवस्था को स्वीकार तो करते हैं किन्तु इसको अन्त नहीं मानते। 'उर्वशी' की भूमिका में वह अपने प्रेम-विषयक मत को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—

"नारी नर को छूकर तृप्त नहीं होती, न नर नारी के आलिंगन में सन्तोष मानता है। कोई शक्ति है जो नारी को नर तथा नर को नारी से अलग रहने नहीं देती, और जब वे मिल जाते हैं तब भी, उनके भीतर किसी ऐसी तृषा का संचार करती है, जिसकी तृप्ति शरीर के धरातल पर अनुपलब्ध है। नारी के भीतर एक और नारी है जो अगोचर और इन्द्रियातीत है। इस नारी का संधान पुरुष तब पोता है, जब शरीर की धारा, उछालते-उछालते, उसे मन के समुद्र में फेंक देती है। जब देहिक चेतना से परे, वह प्रेम की दुर्गम समाधि में पहुंच कर निस्पन्द हो जाता है।

और पुरुष के भीतर भी एक और पुरुष है, जो शरीर के धरातल पर नहीं रहता, जिसे मिलने की आकुलता में नारी अंग-सजा के पार पहुंचना चाहती है।"

(भूमिका, 'उर्वशी' पृ० (ख))

'दिनकर' जी के ये शब्द 'उर्वशी' की प्रेमाभिव्यंजना के स्वरूप को समझने के लिए अत्यन्त सहायक हैं। वस्तुतः 'दिनकर' जी ने प्रेम को पूर्णरूपेण समझा है, उसकी प्रकृति को आत्मसात् किया है। यही कारण है कि प्रेम को अत्यन्त ही सहज, सर्वग्राह्य, एवं मनोवैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत कर सके हैं और उसके दृश्य-बाह्य विरोधाभासों का तर्कसम्मत ढंग से निराकरण कर सके हैं। उन्होंने प्रेम को शरीर-सदन तक ही सीमित नहीं रखा, क्योंकि वह यह जानते थे कि शारीरिक प्रेम-शक्ति सीमित होती है—

तन का क्या आपराध ! यन्त्र वह तो सुकुमार प्रकृति का,
सीमित उसकी शक्ति और सीमित ही आवश्यकता है। (पृ० ८५)

(इस कथन को सार्थक सिद्ध करते हुए उन्होंने प्रेम को उत्तरोत्तर आगे बढ़ाया है और इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि 'शरीर-काया-तन' प्रेम की जन्मभूमि अवश्य है, परन्तु प्रेम का गन्तव्य एवं क्रीड़ा-क्षेत्र तन से परे मन है—

देह प्रेम की जन्मभूमि है, पर, उसके विचरण की,
सारी लीला-भूमि नहीं सीमित है रुधिर त्वचा तक।

यह सीमा प्रसरित है मन के गहन, गुह्य लोको में,
जहां रूप की लिपि अरूप की छवि आका करती है।

और पुरुष प्रत्यक्ष विभासित नारी मुख मण्डल में

किसी दिव्य, अव्यक्त कमल को नमस्कार करता है। (पृ० ६२)

(वास्तविक प्रेम शरीर की सीमा को तोड़कर ऊर्ध्वोन्मुख होता है) रुधिर
की अनल ही बढ़ते-बढ़ते वायवी-उदात्त बन जाती है।

जगता प्रेम प्रथम लोचन में, तब तरंग निभ मन में,

प्रथम दीखती प्रिया एक बेंही, फिर व्याप्त भुवन में।

पहले प्रेम स्पर्श होता है, तदनन्तर चिंतन भी,

प्रणय प्रथम मिट्टी कठोर है, तब वायव्य गगन भी। (पृ० ६२)

‘दिनकर’ जी पुरुरवा और उर्वशी के प्यार को इसी भाँति दिखाते हैं। वह
‘उर्वशी’ की भूमिका में लिखते हैं—

(पुरुरवा और उर्वशी का प्रेम मात्र शरीर के धरातल पर नहीं रुकता, वह
शरीर से जन्म लेकर मन और प्राण के गहन, गुह्य लोको में प्रवेश करता है, इसके
भौतिक आधार से उठकर रहस्य और आत्मा के अन्तरिक्ष में विचरण करता है।)

(भूमिका, ‘उर्वशी’ पृ० ३)

(अतीन्द्रिय प्रेम ही मनुष्य को भावना के बल पर उस परमलोक तक पहुँचाने
में समर्थ होता है जिसमें ताकिक अपनी बुद्धि से पहुँचने का प्रयास करते हैं—)

जिस मधुर भूमिका में जनको दर्शन-तरंग पहुँचाती है,

उस दिव्य लोक तक हमें प्रेम की नाव सहज ले जाती है।

(ऐसी अवस्था में नारी का अस्तित्व सीमित न रहकर असीमित हो जाता है)

ओ शून्य पवन में मुझे देख चुम्बन अपित करने वालो,

(सम्पूर्ण निशा में मेरी छवि का उन्निद्र ध्यान धरने वालो।

मैं देशकाल से परे चिरन्त नारी हूँ।)

मैं आत्म-तन्त्र यौवन की नित्य नवीन प्रभा

रूपसी अमर मैं चिर-युवती सुकुमारी हूँ।

तुम त्रिभुवन में अथवा त्रिकाल में जहाँ कहीं भी हो,

अन्तर में धैर्य धरो।

(सरिता, समुद्र, गिरि, वन मेरे व्यवधान नहीं।

मैं भूत, भविष्यत वर्तमान की कृत्रिम बाधा से विमुक्त

मैं विश्वप्रिया।)

(पृ० ६६-१००)

(कवि तथा प्रेमी का प्रेम इसी स्तर का होता है। साधारण मनुष्य का प्रेम
केवल मात्र मांसल होता है, शारीरिक सुखोपभोग समाप्त होता है और ऐसा मनुष्य
क्षण-तृप्ति में ही त्राण मानता है। इसके विपरीत कवि का प्रेम शारीरिक सुख तथा
आंगिक आनन्द से परे तक जाता है—

नर समेट रखता बांहों में स्थूल देह नारी की,
 शोभा की आभा तरंग से कवि क्रीड़ा करता है।
 तन्मय हो सुनता मनुष्य जब स्वर कोकिल कंठी का,
 कवि हो रहता लीन रूप की उज्ज्वल भंकारों में।

(पृ० ६१-६२)

कवि-प्रेमी दोनों का प्रेम कायिक जगत् से बहुत दूर तक चला जाता है—

नर चाहता सवेह खींच रख लेना जिसे हृदय में,
 कवि नारी के उस स्वरूप का अतिक्रमण करता है।
 कवि, प्रेमी एक ही तत्व हैं, तन की सुन्दरता से
 दोनों मुग्ध, देह से दोनों बहुत दूर जाते हैं
 उस अनन्त में जो अमूर्त धागों से बांध रहा है
 सभी दृश्य सुषमाओं को अविगत, अदृश्य सत्ता से। (पृ० ६२)

अग्रेजी के प्रसिद्ध नाटककार शेक्सपीयर अपने सुखान्त नाटक 'ए मिड समर नाइट्स ड्रीम' में कुछ इसी तरह का भाव व्यक्त करते हैं—

The lunatic, the lover and the poet
 Are of imagination all compact :
 One sees more devils than vast hell can hold,
 That is, the madman, the lover, all as frantic,
 Sees Helen's beauty in the brow of Egypt,
 The Poet's eye, in a five frenzy rolling,
 Doth glance from heaven to earth, from earth to heaven;
 And, as imagination bodies forth
 The forms of things unknown, the poet's pen
 Turns them to shapes, and gives to airy nothing
 A local habitation and a name.

'दिनकर' जी लौकिक-भलक और अलौकिक-भलक में अभेद पाते हैं; दैहिक-प्रेम को प्रथम सोपान मानते हैं, पार्थिव-प्रणय को अपार्थिव-प्रणय की प्रस्तावना के रूप में स्वीकार करते हैं; आगिक-आलिंगन तथा कायिक-क्रीड़ाओं को आत्मानुभूति की प्रथम भाव-भूमि मानते हैं। इसी तथ्य को स्वीकारते हुए पुरुरवा तृतीय अंक में कहता है कि देह तथा आत्मा के बीच की दूरी प्रेम-पुल द्वारा पार की जा सकती है—)

मध्यान्तर में देह और आत्मा के जो खाई है,
 अनुत्लंघ्य वह नहीं; प्रभा के पुल से संयोजित है। (पृ० ६४)

इसी भाँति नर-नारी का प्रेम नारायण-प्राप्ति में बाधक नहीं है अपितु साधक है।

किसने कहा तुम्हें, जो नारी नर को जान चुकी है,
उसके लिये अलभ्य ज्ञान हो गया परम सत्ता का,
और पुरुष जो आलिंगन में बाँध चुका रमणी को,
देश काल को भेद गगन में उठने योग्य नहीं है ।
ईश्वरीय जग भिन्न नहीं है इस गोचर जगती से,
इसी अपावन में अदृश्य वह पावन सना हुआ है । (पृ० ७७)

यह भाव अनेकों स्थलों पर व्यक्त किया गया है । भिन्न-भिन्न पात्र इसको अपने-अपने ढंग से कहते हैं । उर्वशी प्रकारान्तर से इस प्रकार कहती है—

परिरम्भ पाश में बँधे हुए उस अम्बर तक उठ जाओ रे ।
देबता प्रेम का सोया है, चुम्बन से उसे जगाओ रे ।
चिन्तन की लहरों के समान सौन्दर्य लहर में भी है बल,
सातों अम्बर तक उड़ता है रूपसि नारि का स्वर्गाचल ।
जिस मधुर भूमिका में जन को दर्शन-तरंग पहुँचाती है,
उस दिव्य लोक तक हमें प्रेम की नाव सहज ले जाती है ।
(पृ० ६६)

‘दिनकर’ जी यह स्थापित करते हैं कि प्रेम का वास्तविक आनन्द तो मन ही जानता है तन तो बेचारा माध्यम है, आधार है, साधन है । द्वितीय अंक में मदनिका कहती है—

वपु तो केवल ग्रन्थ मात्र है, क्या हो काय-मिलन से !
तन पर जिसे प्रेम लिखता है, कविता आती वह मन से ।

(पृ० ३७)

तृतीय अंक में निष्काम प्रेम का पाठ पढ़ाती हुई उर्वशी कहती है—

किन्तु कभी क्या रसावेश में कोई जा सकता है,
बिना सहज एकाग्र वृत्ति के, मात्र हाँक कर तन को ?
माँसपेशियाँ नहीं जानती आनन्दों के रस को,
उसे जानती स्नायु, भोगता हमारा मन है । (पृ० ८५)

‘दिनकर’ जी द्वारा प्रतिपादित प्रेम अंग-अवनि में अकुरित एवं पल्लवि होता है । मन-मानस में आकर मुक्ता रूप धारण करता है और तदनन्तर प्राण प्रांगण में प्रवेश करता हुआ आत्मलीन हो जाता है । ‘उर्वशी’ में प्रेम को एक बोधत्मक विषय के रूप में स्वीकार किया गया है और उसे भारतीय ढंग के उन्नयन सहारे ‘वासना’ से ‘दर्शन’ तक पहुँचाया गया है । प्रेम के इस क्रमिक विकास व उल्लेख पुरुरवा निम्न प्रकार से करता है—

जगता प्रेम प्रथम लोचन में, तब तरंग-निभ मन में,
प्रथम देखती प्रिया एक देही, फिर व्याप्त भुवन में ।

पहले प्रेम स्पर्श होता है, तदनन्तर चिन्तन भी,
प्रणय प्रथम मिट्टी कठोर है, तब वायव्य गगन भी । (पृ० ६२)

ये पंक्तियाँ अंग्रेज लेखक (मैरेडिथ की) याद दिलाती है जो विश्वास करता था—
'From mud to Blood, from blood to brain, from brain to spirit'
प्रेम का अन्तिम लक्ष्य तन, और मन से परे है, क्योंकि दैहिक और मानसिक प्रेमों से ज्ञेय-ज्ञान अपने-आप अस्थिर है, क्षणिक है, और अनुमानित-सा प्रतीत होता है। (तृतीय अंक में पुरुरवा कहता है—)

(जो कुछ भी हम जान सके यहाँ देह या मन से,
वह स्थिर नहीं, सभी अटकल-अनुमान सदृश लगता है।)
अतः किसी भी भाँति आप अपनी सीमा अंकित कर
अन्तरस्थ उस दूर देश में हम सबको जाना है,
जहाँ न बैठते प्रश्न, न कोई शंका ही जगती है । (पृ० ६३)

प्रेमानन्द मे केवल शरीर ही आनन्द की अनुभूति नहीं करता, अपितु प्राणों का पुलकित हो उठना ही परमावस्था है । यही प्रेम की अनिवर्चनीय अवस्था है। (तृतीय अंक में पुरुरवा कहता है—)

कौन कहता है,
तुम्हें मैं छोड़कर आकाश में विचरण करूँगा ?
बाहुओं के इस बलय में गात्र ही बन्दी नहीं हूँ,
वक्ष के इस तल्प पर सोती न केवल देह,
मेरे व्यग्र व्याकुल प्राण भी विश्राम पाते हैं । (पृ० ५४)

मज्जागत सौन्दर्य, माँसल प्रेम तथा इन्द्रियजन्य सुख से ऊपर उठना न तो शरीर की ही अवहेलना है, न माँसल प्रेम का महत्व कम करना है, अपितु यह तो उसकी उत्तरोत्तर प्रगति के सोपान है, देह का दिव्यात्मा से मिलन है, प्राणों का परमेश्वर में लीन होना है तथा आत्मा का परमात्मा के सान्निध्य में पहुँचना है । इसे वियोग नहीं माना जा सकता, यदि यह वियोग है, तो विशेष योग के अर्थ में—

यह अतिक्रान्ति वियोग नहीं, शोणित के तप्त जलन का परिवर्तन है स्निग्ध, शान्त दीपक की सौम्य शिखा में ।
निन्दा नहीं, प्रशस्ति प्रेम की; छलना नहीं समर्पण,
त्याग नहीं संचय; उपत्यकाओं के कुसुम द्रुमों को ले जाना है यह समूल नगपति के तुंग शिखर पर,
वहाँ जहाँ कैलास प्रान्त में शिव प्रत्येक पुरुष है,
और शक्तिदायिनी शिवा प्रत्येक प्रणयिनी नारी है । (पृ० ६४)

इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि प्रणयी, शिव स्वरूप प्राप्त कर सकता है और प्रत्येक प्रण-

यिनी शिवास्वरूप यदि वे उत्तरोत्तर अन्तर-मन-मर्मों को समझते हैं तथा तन से मन, मन से प्राण प्राण, से महाप्राण (परमात्मा) की ओर उत्तरोत्तर उन्मुख होते हैं। इन्हीं पक्तियों को पढ़कर डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपनी सम्मति इस प्रकार व्यक्त की—

“उर्वशी’ विश्व ब्रह्माण्ड-व्यापी मानस की नित्य जीवन, सौन्दर्य-कल्पना के रूप में ऐसी निखरी है कि आश्चर्य होता है... यह समाधिस्थ चित्त की रचना है... समाधिस्थ चित्त जो विराट् मानस से एकाकार हो गया था।”

(‘दिनकर’ जी की यह मान्यता रही है कि प्रेम आन्तरिक आभा है, बाह्य विभा नहीं, यह अन्तर्मन का मुक्ता है, बहिर्जगत् का जाज्वल्यमान हीरा नहीं) इतना ही नहीं इसका मुख्य द्वार भी अन्दर की तरफ से खुलता है, अतः आन्तरिक प्रस्फुटन है, बाह्य आरोपण नहीं पुरूरवा कहता है—

(॥ बाहर सांकल नहीं जिसे तू खोल हृदय पा जाये,
इस मन्दिर का द्वार सदा अन्तःपुर से खुलता है ॥) (पृ० ४४)

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि उर्वशी एक ओर अपार्थिव सौन्दर्य का पार्थिव संस्करण है, तो दूसरी ओर पार्थिव सौंदर्य (नारी) का अपार्थिव उन्नयन भी— उन्नयन तथा सूक्ष्मीकरण भी। यही कारण है कि उर्वशी में प्रेम के प्रति वैष्णव भाव है, जिसकी प्रेम का आधुनिक ‘सहजियाकरण’ कह सकते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि ‘दिनकर’ जी ने पहले प्रेम स्पर्श होता है, तदनन्तर चिन्तन भी, “कहकर पुरूरवा को सहजिया मत का बिल्वमंगल बनाना चाहा है जो ‘चिन्तामणि’ को प्यार करते-करते ही कृष्ण तक पहुँच गये थे। अतः ‘दिनकर’ के पुरूरवा की उर्वशी एक तरफ से सहजिया मत के बिल्वमंगल की ऊर्ध्वमुख प्रेयसी ‘चिन्तामणि’ है और स्वयं पुरूरवा ‘विराग लोक का रसिक’ तथा मधुवन का संन्यासी है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि ‘उर्वशी’ में ‘दिनकर’ जी उस सहजिया मत के पाम पहुँचते प्रतीत होते हैं, जिसका अनुकरण करने वाले मनुष्य स्त्री-प्रेम के द्वारा विश्व-प्रेम और भागवत वैष्णव रस तक पहुँचने की चेष्टा करते थे। ऐसा लगता है कि यह सहजिया मत ही समय के साथ बदल कर ‘उर्वशी’ में ‘कामाध्यात्म’ बन गया है। ‘उर्वशी’ से उद्धृत निम्न अवतरण यह दिग्द शित करते हैं कि ‘दिनकर’ जी ने इस प्रसंग में बार-बार ‘सहज’ शब्द का भी प्रयोग किया है—

मुक्त वही जो सहज भावना से इसमें बहते हैं,
विधि निषेध से परे, छूटकर सभी कामनाओं से। (पृ० ८२
... ..

यह आभास नहीं टिकता, जब मनुष्य जान लेता है
अप्रयास अनुभवन प्रकृति का, सहज रीति जीवन की। (पृ० ८३
... ..

जहाँ नहीं मिलते नर नारी उस सहजाकर्षण से
जैसे दो वीथियाँ अनामंत्रित आ मिल जाती हैं । (पृ० ८५)

... ..

किन्तु कभी क्या रसावेश में कोई जा सकता है,
बिना सहज एकाग्र वृत्ति के, मौत्र हाँक कर तन को । (पृ० ८५)

‘दिनकर’ अपनी प्रसिद्ध गद्य-रचना ‘धर्म, नैतिकता और विज्ञान’ में लिखते हैं—

“प्रेम का आरम्भ भौतिकता में और परिपाक अध्यात्म में है । प्रेम पहले
‘फिजिक्स’ और तब ‘मैट्राफिजिक्स’ होता है । (पृ० २८)

(इसको सूफियों की भाषा में ‘इश्क मजाजी’ और ‘इश्क हकीकी’ कहा जा सकता है । इसके अनुसार प्रेम शारीरिक सोपान से आध्यात्मिक सोपान पर चढ़ता है । ‘दिनकर’ जी नर-नारी प्रेम की जिस अशरीरी-आनन्द-लहर को दिखाते हैं, वह कुछ रूप में कालिदास, फ्रायड, तथा लॉरेन्स के प्रेम-दृष्टियों के समीकृत रूप की याद दिलाती है । उन्होंने अपनी मनीषा से भी काम लिया है और बार-बार यह दिखाते हैं कि प्रेम का जन्म काम में होता है, किन्तु उसकी परिणति काम के अतिक्रमण में होनी चाहिए) यही वह रेखा है जहाँ प्रेम ‘सेक्स’ से भिन्न तथा ऊँचा हो जाता है । वास्तविकता यह है कि ‘सेक्स’ शरीर की तृषा है और प्रेम आत्मा की भूख । इस कारण यह आवश्यक नहीं कि ‘सेक्स’ का आलम्बन ही प्रेम का आलम्बन हो अथवा प्रेम के आलम्बन तक ही ‘सेक्स’ की भावना सीमित हो । (आदर्श स्थिति वह होती है जब प्रेम और ‘सेक्स’ का आलम्बन एक हो) यदि दोनों में आलम्बन भेद हो तो आश्चर्य का विषय नहीं, क्योंकि प्रेम इतना पवित्र और महान तत्त्व है कि उस पर दैहिक-स्खलनों के दाग नहीं पड़ते) ‘धर्म, नैतिकता और विज्ञान’ नामक गद्य-रचना में ‘दिनकर’ जी स्पष्ट करते हैं कि सेक्स की अनुभूति शारीरिक अनुभूति होती है । किन्तु प्रेम की अनुभूति में शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक अनुभूतियाँ समन्वित रहती हैं । आध्यात्मिक अनुभूतियाँ प्रेम में तभी संश्लिष्ट होती हैं, जब प्रेम आसक्ति से ऊपर उठ जाता है । इसी कारण ‘दिनकर’ जी की यह मान्यता है कि प्रेम अनासक्ति के गंगाजल में अवश्य स्नान कर पवित्र हो जाता है—

नहीं इतर इच्छाओं तक ही अनासक्ति सीमित है

उसका किञ्चित् स्पर्श प्रणय को भी पवित्र करता है । (पृ० ४६)

(‘उर्वशी’ में ‘दिनकर’ जी ने उस उज्ज्वल प्रेम का निरूपण किया है, जिसके सहारे मनुष्य रूपतन्मात्राओं से परे इन्द्रिय-गम्यता से दूर रहने वाले पार्यन्तिक सौन्दर्य के दर्शन करता है तथा निरामिष सौन्दर्य-चेतना को प्राप्त करने में सफल होता है परिणामस्वरूप ‘दिनकर’ द्वारा निरूपित ‘नारी’ पीयर ऑट्टे की ‘डिवायन ब्यूटी’ का दूसरा रूप है और वह स्वयम् रहस्यप्रिय सूक्ष्मोन्मुख सौन्दर्य-चेतना को प्रस्तुत करने वाले ‘मिस्टिक एस्थीट’ बन गई है । इस पर भी उनके प्रेम-दर्शन की व्यावहारिकता

इसमें है कि उन्होंने लौकिकता, ससीमता और शारीरिकता को ही उत्तम प्रेम का आधार माना है (इस प्रकार शरीर से उत्थित प्रेम को 'दिनकर' जी ने रहस्य-चिंतन तक पहुँचा दिया है। जिस प्रकार जल-पक से 'अलिप्त पंकज' की उत्पत्ति होती है, वैसे ही देह से अद्वैतिक प्रेम पैदा होता है। यथार्थ में जब शारीरिक, लौकिक अथवा मांसल प्रेम अरूप देह धारण कर लेता है तब एक में अनेक, सान्त में अनन्त, रूप, में अरूप, लघु में विराट् तथा सामान्य ससीम में असामान्य असीम विलसित हो उठता है। इस प्रकार 'दिनकर' जी ने वास्तविकता की सुरक्षा के साथ ही उस आत्मनिष्ठ सौन्दर्य-चिन्तन से काम लिया है) जिसके लिए अंग्रेज कवि शैफ्ट्सबरी प्रसिद्ध है। शैफ्ट्सबरी की मान्यता है—'Beauty and God are one and the same' यह प्लेटो, स्पेसर तथा कीट्स के 'Beauty is truth, Truth is beauty' का प्रतिरूप है) तथा बहुर्चचित विचार 'सत्य, शिव, सुन्दर' की सार्थकता प्रकट करता है। इस भाँति 'दिनकर' की सफलता इसमें निहित है कि वह नारी के रूप को एक 'नमस्य दिव्य अव्यक्त कमल' बना देते हैं जो कि फ्रायड के मनोवैज्ञानिक 'सब्लिमेशन' की भाँति एक 'आध्यात्मिक उन्नयन' है जिसमें ऐन्द्रिय से अतीन्द्रिय तथा सामिप से निरामिष की ओर ऊर्ध्वगमन है। इस प्रकार प्रेम इस मनोमय लोक में पहुँचकर उस विराट् और अति-मामय सौन्दर्य के भावन का उपजीव्य बन जाता है जो एक अनवद्य भाव-सत्य है, अवाङ्मानस गोचर है और काष्ठ के 'ट्रान्सफ़ेडल एस्थेटिक्स' में निरूपित है। अतः इस प्रेम के माध्यम से 'दिनकर' जी ने नर-नारी को उस कूट पर पहुँचा दिया है जहाँ ऐच्छकचुको से रहित प्रत्येक प्राणी-युग्म के 'चिदम्बरम्' में शिव-शिवा की निरत समापन लीला चलती रहती है।) 'उर्वशी' के प्रारम्भ का प्रेम-निरूपण रोमण्टिक है, जिसमें तीसरे अंक तक पहुँचते-पहुँचते संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है और अन्त 'प्लैटोनिक प्रेम' (पाँचवाँ अंक) में होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रेम नेत्रों में उद्भूत होता है और पुनः समस्त भुवन में व्याप्त हो जाता है (इन विचारों में हमें अंग्रेज कवि शैली के प्रेम-विषयक भावों की प्रतिरूपता दृष्टिगोचर होती है। शैली एक कविता 'Love's Philosophy' में लिखते हैं—

Fountains mingle with the river
And the river with the ocean,
The winds of heaven mix for ever
With a sweet emotion
Nothing in the world is single
All things by a law divine
In one spirit meet and mingle
Why not I with thine.

स्वस्थ रहने के विरोधी कारणों का ज्ञान एवं निराकरण भी आवश्यक होता

‘उर्वशी’ में व्यक्त प्रेम की विविधता और गूढ़ता के विषय में डा० नगेन्द्र का निम्न मत सारगर्भित है—

“सूक्ष्म-प्रबल, कोमल-कठोर, तरल-प्रगाढ़, मोहक-पीड़क, उद्वेगकर और सुख-कर, दाहक और शीतल मृण्मय और चिन्मय अनेक रूपों का ‘उर्वशी’ में अत्यन्त मनोरम चित्रण है और सबसे अधिक आकर्षक है, प्रेम की उस चिर अतृप्ति का चित्रण जो भोग से त्याग और त्याग से भोग अथवा रूप से अरूप और अरूप से रूप की ओर भटकती हुई मिलन तथा विरह में समान रूप से व्याप्त होती है।” 13

(‘दिनकर’ : सृष्टि और दृष्टि—अंतर्मथन काव्य ‘उर्वशी’, पृ० २३१)

उर्वशी में नारी-भावना

इंग्लैण्ड में १९वीं शताब्दी तथा भारत में २० वीं शताब्दी को नारी-सम्बन्धी भावनाओं के जागरण का समय कहा जा सकता है। इंग्लैण्ड में टेनीसन ने तीन हजार से अधिक पंक्तियों की प्रसिद्ध कविता 'ब प्रिंसेज' लिखकर वहाँ के समाज में खलबली पैदा कर दी थी और जनसाधारण का ध्यान नारी के अधिकारों के प्रति की गई उपेक्षा की ओर बलात् आकर्षित किया था। भारतवर्ष में भी, द्विवेदी-युगीन उपेक्षिताओं के चित्र नारी के विस्मृत गौरव को प्रकट करते हैं। छायावादी कविता में नारी एक प्रतीक है जो प्रेरणा का स्रोत है और उसके आदिम तथा अतीन्द्रिय रूप को लेकर छायावादी कवियों ने विश्व की सृजन-प्रक्रिया के मूल से उसी की प्रेरणा की चर्चा की है। (भारत में महात्मा गांधी द्वारा प्रेरित और संचालित आन्दोलन ने नारी के सामाजिक पक्ष से पर्दा उठा दिया। अब नारी केवल कामिनी के रूप में वासना-तृप्ति की प्रतिमूर्ति नहीं रही, अपितु उसमें अनेक जीवन-मूल्यों की उपस्थिति दृष्टि-गोचर होने लगी। ऐसा अनुभव हुआ कि मनुष्य ने अपने पौरुष के गर्व में और स्वार्थवश नारी में मिलने वाले उच्चतर मूल्यों का अपमान किया है। इस प्रकार के विचार केवल राजनीतिज्ञों और समाज-सुधारकों ने ही व्यक्त नहीं किए, अपितु कवियों और लेखकों ने भी नारी-जीवन के वास्तविक महत्त्व को खूब उभार कर जन-साधारण के समक्ष रखने का भरसक प्रयास किया है। 'दिनकर' जी ने भी समय समय पर अपनी नारी-सम्बन्धी धारणाओं को पूर्ण स्पष्टता से व्यक्त किया है।)

(सर्वप्रथम 'रेणुका' में हमें 'दिनकर' जी के नारी-सम्बन्धी विचारों का परिचय मिलता है। 'राजा-रानी' कविता उनके इन विचारों का प्रतिनिधित्व करती है। यह कविता सन् १९३५ में लिखी गई, जब 'दिनकर' जी २६ वर्ष के युवक थे। आश्चर्य है कि कविता में कहीं भी नारी के शारीरिक सौन्दर्य का वर्णन नहीं है। 'राजा-रानी' के माध्यम से स्त्री का मैथिलीशरण गुप्त द्वारा चित्रित रूप 'अबला-जीवन, हमसु तम्हारी यही कहानी ! आँचल में है दूध और आँखों में पानी' फिर से सजीव कर

दिया गया है) इसमें नारी के भावात्मक पुनर्मूल्यांकन का प्रयास है। कविता की आत्मा निम्न पंक्तियों में है—

लेखनी लिखे, मन में जो निहित व्यथा है;

रानी की सब दिन गीली रही कथा है !

इस प्रकार के भाव स्पष्ट करते हैं कि दृष्टिकोण में कोई नवीनता नहीं है। इसके पश्चात् 'रसवन्ती' में दो कविताएँ नारी के ऊपर लिखी गई हैं। इन कविताओं में भी नारी-सम्बन्धी दृष्टिकोण परम्परावादी ही रहा है। प्रथम कविता में छायावादी शैली का अनुकरण करते हुए नारी-जीवन को चित्रित किया गया है। कवि नारी-सौन्दर्य का उपासक है और भिक्षुक के रूप में उससे राग-कणों की याचना करता है। नारी के सौन्दर्य ने संसार के प्राणियों में नवचेतना और नई उमंग का संचार कर दिया। केवल कलाकार ही उसके सौन्दर्य पर मुग्ध नहीं हुए अपितु जानियों ने भी अपनी सिद्धि नारी के रूप में पायी—

अगम आनन्द-जलधि में डूब

तृषित सत्-चित् ने पायी पूर्ति;

सृष्टि के नाभि-पदम पर नारि !

तुम्हारी मिली मधुर रस-मूर्ति ।

(‘रसवन्ती’)

(टैनीसन अपनी प्रारम्भिक रचनाओं में काल्पनिक स्त्री-पात्रों को चुनकर उनके सौन्दर्य का वर्णन किया है। इस अंग्रेज कवि ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि प्रकृति का समस्त सौन्दर्य नारी में निहित है। इसी भाँति अंग्रेजी के एक अन्य प्रसिद्ध कवि स्पेन्सर ने नारी को संसार के सौन्दर्य का पुंज माना है। युवक कवि ‘दिनकर’ भी समस्त सृष्टि का सौन्दर्य नारी की चेष्टाओं में ही प्रतिबिम्बित पाते हैं। मनुष्य के विचारों का उदात्तीकरण नारी के सौन्दर्य और प्रेरणा से होता है)।

दृष्टि तुमने फेरी जिस ओर

गयी खिल कमल-पंक्ति अम्लान,

हिंल मानव के कर से खस्त

शिथिल गिर गये धनुष और बाण ।

(‘रसवन्ती’)

ऐसा प्रतीत होता है कि युवक कवि शनैः-शनैः अपने सामाजिक उत्तरदायित्व को समझने लगता है। उसकी दूसरी ‘नारी’ नामक कविता में, जो ‘रसवन्ती’ में छपी, कुछ सामाजिक स्पर्श मिलता है। इस कविता में वे अनेक भाव मिलते हैं जो आगे चलकर ‘उर्वशी’ में विशेषतः उभर कर आये हैं। कविता आधुनिक नारी की उच्छ्वस-लता के लिए उसकी भर्त्सना से प्रारम्भ होती है। जैसा कि आज भी दृष्टिगोचर होता है, आधुनिकता के नाम पर गृहस्थी की उपेक्षा, महत्वाकांक्षाओं का अम्बार, मातृत्व का तिरस्कार, पुरुष के साथ बहस आदि नारी-जीवन के सुलभ गुण बन गए हैं। आधुनिक नारी मनुष्य को अपने सौन्दर्य में उलझाये रखने की महत्वाकांक्षा से

पीड़ित है। पहले नारी पुरुष के लिए प्रेरणा का स्रोत थी, किन्तु अब वह प्रतिद्वन्द्विनी है। कवि नारी के इस रूप से दुःखी होकर व्यंगात्मक प्रश्न करता है —

जनाकीर्ण संसार बीच कितनों का मन बाँधोगी।

नारी का दूसरा स्वरूप, जैसा कि इस कविता में दिखाया गया है, उस वधू का है जो शक्ति और आत्म-विश्वास से रहित है। वह पुरुष की बन्दिनी-मात्र है। ऐसी दयनीय दशा को देखकर कवि अधीर हो उठता है—

जी करता है अपना पौरुष, इज्जत इसे उड़ा दूँ।

या कि जगा दूँ, उसके भीतर की उस लाल शिखा को,

आँखों में जिसके जलने से दिशा काँप जायेगी ? ('रसवन्ती')

और तीसरे रूप में वह माता है। माँ का भी अपना शृंगार होता है और उसका अपना गौरव है। कवि एक चित्र देता है जब कि प्रसूति-गृह से रमणी माँ बन कर निकल रही है और सारे प्रतीकात्मक शृंगार-उपकरण विह्वल पड़ते हैं।

आँखों में गोला काजल, लम्बी रेखा सेंदुर की

नासिका से चली गई है ऊपर चौर चिकुर को;

सीधी रेखा बना, कब दोनों ओर सजे हैं ऐसे,

कष्टकर भी हो रहा तिमिर में, जैसे किसी किरण को।

पहुँची पर है सुख चूड़ियाँ रंगी हुई अल्ला से

हाथों की अंगुलियाँ दीखतीं, लाल-लाल कॉपल-सी;

तन पर पीला वसन, ज्योति पीली कुम्हलाये मुख की

माँ बनकर रमणी प्रसूत-गृह से तुरन्त निकली। ('रसवन्ती')

दिनकर जी का यह अटूट विश्वास है कि नारी की पूर्णता माँ बनने में है। ऐसा ही भाव इसी कविता की निम्न पंक्तियाँ व्यक्त करती हैं—

नारी की पूर्णता को स्वप्नरूप करने में

करते हैं साकार पुत्र ही, माता के सपने को, ('रसवन्ती')

यही भाव आगे चलकर 'उर्वशी' में व्यक्त किए गये। कालिदास ने 'रघुवंश' में पुत्रोत्पत्ति को दम्पती का सबसे बड़ा पुण्य माना है। टीनीसन अपनी प्रसिद्ध कविता 'द प्रिंसेज' में भी इसी प्रकार के भाव अभिव्यक्त करता है।

'रसवन्ती' में ही प्रकाशित 'पुरुष-प्रिया' नामक कविता में है कवि नारी के उस मौंदर्य का वर्णन करता है जिसे देखकर पुरुष अपने समस्त पौरुष को भूल जाता है और बन जाता है उसका बन्दी। मनुष्य को प्रारम्भ में अजेय दिखाया जाता है किन्तु नारी-सौन्दर्य को देखकर वह पूर्णतः परास्त हो जाता है।

सहसा आयीं तुम अजेय को हँसकर जय करने वाली

आधी मधु, आधी सुधा-सिक्त, चितवन का शर भरने वाली।

('रसवन्ती')

बिना नारी के पुरुष अधूरा था। उसने 'प्रियतम' का सम्बोधन सुना और मुख से अनायास ही उसके निकल पड़ा, 'प्रिये।' पुरुष का पौरुष और नारी का माधुर्य परस्पर-पूरक होकर पूर्णता की सृष्टि करने लगे।

'नील कुसुम' में छपी 'नग्नता' नामक कविता में 'दिनकर' जी ने आधुनिक नारी का विश्लेषण किया है। प्रथम पुरुष की दृष्टि ने प्रथम नारी के अन्दर लज्जा जाग्रत की। इससे नारी का प्रथम शील लज्जा बनी और नारी वल्कल-धारिणी बनी—

लज्जा प्रथम शील नारी का

शीलमयी सुकुचायी;

पत्तीं से आवृत कर तन को

करतल से लोचन को।

('नील-कुसुम')

तभी से सौन्दर्य को आवरण छिपाता आया। 'दिनकर' आधुनिक नारी के मन्दर्भ में अनुभव करते हैं कि यद्यपि आज वल्कलों का स्थान अनेक कमनीय परिधानों ने ले लिया है, किन्तु वे सब नग्नता को प्रकट करते हैं—

देह पहनती चीर नग्नता अपनी दिखलाने को ('नील-कुसुम')

कवि का उद्देश्य यह है कि लज्जा का सम्बन्ध वस्त्र से नहीं, मन से है। मन यदि नग्न है तो वस्त्र अर्थहीन है—

हृदय नग्न है तो सात पटों के भी आवरण वृथा हैं;

वसन व्यर्थ, यदि भली भाँति आवृत भीतर का मन है।

('नील-कुसुम')

इन कविताओं के अतिरिक्त 'सीपी और शंख' कविता-संग्रह में कई कविताएँ नारी-विषयक हैं। कुल मिलाकर इन कविताओं में 'दिनकर' जी एक आदर्श सौम्य, प्रेरणावर्द्धक नारी के स्वरूप की कल्पना करते हैं। उनके अनुसार सौन्दर्य, शान्ति, और कविता नारी-क्षेत्र की तीन सीमाएँ हैं—

वह नारी है, केवल उसके ही पास, बन्धु,

सौन्दर्य, शान्ति, कविता, तीनों का मिश्रण है।

('सीपी और शंख')

बिना नारी के नर अपूर्ण है और उसका घर अपूर्ण है—

यह जनाकीर्ण जंगती, प्रिय ! निर्जन ही तो है !

तुम नहीं अगर, तो गृह विषण्ण बन ही तो है !

('सीपी और शंख')

('उर्वशी' में 'दिनकर' जी के नारी-सम्बन्धी विचार परिपक्व और सुव्यव-

स्थित रूप में प्रकट होते हैं। ऐसा विदित होता है कि नारी के समस्त रूप और गुण 'दिनकर' जी की आँखों के समक्ष हैं और उनका स्पष्ट वर्णन ही इस कविता का ध्येय है। 'उर्वशी' की आँखों में अपने विचारों को व्यक्त करते हुए वह लिखते हैं—

नारी के भीतर एक और नारी है, जो अगोचर और इन्द्रियातीत है। इस नारी का सन्धान पुरुष तब है, जब शरीर की धारा उछालते-उछालते, उसे मन के समुद्र में फेक देती है, जब दैहिक चेतना से परे, वह प्रेम की दुर्गम समाधि में पहुँच कर निःस्पन्द हो जाता है।

नारी का यह विशेष स्वरूप है और इसको वही पहिचान सकता है जिसने नारी के शरीर के सुन्दर आवरण को विदीर्ण कर उसकी आत्मा में प्रवेश पाने में सफलता पाई हो। ऐसा कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि 'उर्वशी' का कवि नारी की आत्मा में प्रवेश करने में समर्थ रहा है और उसके वास्तविक रूप को पकड़ने में सफल है। 'उर्वशी' में नारी-स्वरूप का चित्रण दो प्रकार से किया गया है—

(१) नारी के विशिष्ट गुणों का वर्णन।

(२) नारी के विशिष्ट रूपों का वर्णन।

नारी के विशिष्ट गुणों के अन्तर्गत कवि ने उसके बाह्य सौन्दर्य, आध्यात्मिक पक्ष और रहस्यमय रूप का खुलकर वर्णन किया है। 'दिनकर' जी अंग्रेज कवि स्पेन्सर की भाँति विश्वास करते हैं कि सुन्दर नारी विश्व का सबसे बड़ा वरदान है—

यह तुम्हारी कल्पना है प्यार कर लो

रूपसी नारी प्रकृति का चित्र है सबसे मनोहर।

जितना अधिक पुरूरवा नारी के विषय में सोचता है उतना ही यह रहस्य गूढ़ से गूढ़-तर होता जाता है। जिस प्रकार 'कामायनी' का मनु लगातार श्रद्धा के रहस्यमय परिचय को जानने का इच्छुक है, उसी भाँति पुरूरवा भी उर्वशी के परिचय से सन्तुष्ट न होकर प्रश्न पर प्रश्न करता जाता है। उर्वशी एक रहस्य है और वह रहस्य के इस पद को हटाना नहीं चाहती। वह जानती है कि रहस्य के हट जाने से नारी-सम्बन्धी आकर्षण समाप्त हो जाता है। रहस्य को और अधिक गूढ़ बनाते हुए उर्वशी कहती है—

कब था ऐसा समय कि जब मेरा अस्तित्व नहीं था ?

कब आयेगा वह भविष्य जिस दिन मैं नहीं रहूँगी ?

कौन पुद्गल जिसकी समाधि में मेरी झलक नहीं है ?

कौन त्रिया मैं नहीं राजती हूँ जिसके यौवन में ?

कौन मेघ जिसको न सेज में अपनी बना चुकी हूँ ?

कहाँ कौन सी बात और रहने दूँ कथा कहाँ की ?

मेरा तो इतिहास प्रकृति की पूरी प्राण कथा है,

उसी भाँति निस्सीम, असीमित जैसे स्वयं प्रकृति है।

इस प्रकार नारी और प्रकृति एक रूप है। नारी समस्त कलाओं की प्रेरणादायक है।
उर्वशी कहती है—

मैं कला-चेतना का मधुमय प्रच्छन्न स्रोत
रेखाओं में अंकित कर अंगों के उभार।
भंगिमा, तरंगित वर्तुलता, वीचियाँ, लहर।
तन की प्रकान्ति रंगों में लिए उतरती हूँ।

‘दिनकर’ जी नारी को उर्वशी के रूप में देश-काल की सीमा से स्वतंत्र, अक्षय दिखाते हैं—

मैं देश काल से परे चिरन्तन नारी हूँ।
मैं आत्म तन्त्र यौवन की नित्य नवीन प्रभा,
रूपसी अमर मैं चिर-युवती सुकुमारी हूँ।
... ..

सरिता, समुद्र, गिरि, वन मेरे व्यवधान नहीं,
मैं भूत, भविष्यत्, वर्तमान की कृत्रिम बाधा से विमुक्त
मैं विश्वप्रिया।

इन पंक्तियों को पढ़कर शेक्सपीयर द्वारा रचित ‘एन्टनी और क्लियोपाट्रा’ की नायिका क्लियोपाट्रा की याद ताज़ी हो जाती है। इनोवेरबस शेक्सपीयर के नाटक में क्लियोपाट्रा का वर्णन करते हुए कहता है—

Age cannot wither her, nor custom state
Her infinite variety, other women cloy
The appetities, they feed, but she makes hungry
Where most she satisfies : for vilest things
Become themselves in her, that the holy priest
bless her when she is riggish.)

पुरुष के लिए नारी एक रहस्य है, एक समस्या है जिसमें सदैव वह उलझा रहना चाहता है। आगे चलकर चौथे अंक में तो ‘दिनकर’ नारी को केवल रहस्यमयी का-अर्षण का केन्द्रबिन्दु ही नहीं मानते हैं अपितु महर्षि च्यवन के शब्दों में वह तप की सिद्धि है। महर्षि ने सुकन्या से कहा था कि तप की सिद्धि होने पर ही पराकाष्ठा रूप में नारी अवतरित होती है—

डरो नहीं, यह तपोभंग च्युति नहीं, सिद्धि मेरी है।
पहिले भी जब हुआ पूर्ण कटु तप महर्षि कर्षम का
स्वर्ग नहीं ऋषि ने वर में नारी मनोज्ञ माँगी थी।
सो तुम सम्मुख खड़ी तपस्या के फल की आत्मा से।

अब होगा क्या अपर स्वर्ग जिसका संधान कहें मैं ।

और प्रसन्न यदि नहीं, सिद्धि बनकर तुम क्यों आई हो ।

मुकन्या महर्षि का समर्थन करती है और कहती है—

जुलमुच ही, फूटते स्पर्श से पत्र अपत्र द्रुमों में,

धरती जहाँ चरण, ऊसर में फूल निकल आते हैं ।

मैं अनन्त की प्रभा, नहीं अनुचरी किरीटि मुकुट की ।

इन उक्तियों से यह सिद्ध होता है कि नारी उन उच्चताओं की प्रतीक है जिसे मनुष्य साधना और तप से पाते हैं । नारी ही वह शक्ति है जिसकी सहायता से मनुष्य परम तत्त्व को पाता है । च्यवन ऋषि की दृष्टि में नारी एक सेतु के सदृश है जिसके माध्यम से मनुष्य अपने समस्त स्वप्न साकार करता है—

नारी ही वह महा-सेतु, जिस पर अदृश्य से चलकर,

नए मनुज, नव प्राण दृश्य जग में आते रहते हैं ।

नारी ही वह कोष्ठ देव, दानव मनुष्य से छिपकर ।

महाशून्य चुपचाप जहाँ आकार ग्रहण करता है ।

यही नहीं कवि तो यहाँ तक अनुभव करता है कि जब कभी पुरुष की नाव गलत स्थान पर अटक जाती है तो नारी ही वह शक्ति है जो अपनी छिगुनी की शक्ति से उसे कठिनाई से बाहर निकालती है और पुनः गतिमान करती है । यह सब करने में नारी किसी भी सम्मान या प्रतिष्ठा की आकांक्षा नहीं रखती—

यह भी है कर्म त्रिया का,

अटक गई हो तरी मनुज की किसी घाट-अवघट में

तो छिगुनी की शक्ति लगा नारी फिर उसे चला दे,

और लुप्त हो जाय पुनः आतप, प्रकाश, हलचल से ।

अब यदि हम 'उर्वशी' में प्राप्त नारी-रूपों को लें तो मोटे रूप में तो उसके तीन रूप में तो उसके तीन रूप मिलते हैं—दिन्य नारी, राजवर्गीय नारी, तथा ऋषि पत्नी । किंतु सामाजिक बन्धन की दृष्टि से तीन रूपों के केवल दो ही रूप रह जाते हैं—प्रेमसी और माता एक ही रूप के दो पक्ष हैं किन्तु विस्तृत विचार की दृष्टि से हम नारी के चार निम्न रूपों का अध्ययन करेंगे—

(१) नारी का उच्छृंखल रूप

'उर्वशी' प्रथम अंक में सहजन्मा मेनका और रम्भा अप्सराएँ आपस में बातें करती दिखाई गई हैं । वे केवल घटनाओं का ही वर्णन नहीं करती अपितु मूल समस्या की भी स्थापना उन्हीं द्वारा होती है । इन तीनों अप्सराओं के वार्तालाप में श्रृंगार के ऐन्द्रिय, अतीन्द्रिय, मांसल और रूमानी पक्षों का विवेचन किया गया है । अप्सराएँ

शारीरिक रूप में अतीव सुन्दरी हैं किन्तु मानसिक और भावनात्मक जगत में उच्छृंखल है। ये बन्धन में रहने के विरुद्ध हैं। सबको अपने सौन्दर्य तथा हाव-भाव का शिकार बनाना ही इनका खिलवाड़ है—)

जनमें हम किसलिए ! मोद सबके मन में भरने को ।
 किसी एक को नहीं सुग्ध जीवन अर्पित करने को ।
 सृष्टि हमारी नहीं संकुचित किसी एक आनन में ।
 किसी एक के लिए सुरभि हम नहीं संजोती तन में ।

ऐसा प्रतीत होता है कि 'रसवन्ती' की नारी पुनर्जीवित हो गई है। जिन विकृतियों के लिए 'दिनकर' ने 'सरवन्ती' की निम्न पक्तियों में नारी को फटकारा है, वह विकृतियाँ इन अप्सराओं के विशेष गुण बन गए हैं—

जनाकीर्ण संसार बीच कितनों का मन बाँधोगी ।
 निरुद्देश्य बेधोगी चलते राह हृदय किस-किस का । ('रसवन्ती')

इन्ही भावों को दूसरे शब्दों में 'उर्वशी' में रम्भा निम्न प्रकार व्यक्त करती है—

प्रेम मानवी की निधि है अपनी तो वह ऋीडा है ।
 प्रेम हमारा स्वाद, मानवी की आकुल पीड़ा है ।

'रसवन्ती' में आधुनिक नारी का चित्र निम्न शब्दों में खींचा गया है—

अपना चित्र विविध रंगों में आप सृजन करती हो,
 और जाँचती हो उसको फिर स्वयं पुरुष के दृग से ।
 दर्पण में, रंगों में नर की भ्रमित लुब्ध आँखों में
 देख रही सबमें अपने को क्रम से बिठा बिठा कर ।

बहुत कुछ इसी प्रकार के भाव 'उर्वशी' में रम्भा निम्न प्रकार से व्यक्त करती है—

हम तो हैं अप्सरा पवन मे मुक्त विहरने वाली,
 गति-नाद सौरभ सुवास से सबको भरने वाली,
 अपना है आवास, न जाने, कितनों की चाहों में ।
 कैसे हम बँध रहें किसी भी नर की दो बाँहों में ?

अप्सराओं की भावनाओं का प्रतिनिधित्व रम्भा करती है। 'रसवन्ती' की नारी की भाँति वह भी मातृत्व से घृणा करती है और एक स्वच्छन्द और उच्छृंखल जीवन की कामना से पीड़ित है। पत्नीत्व और मातृत्व उसे पैरों की बेड़ियाँ सदृश प्रतीत होते हैं। वह मातृत्व की अपेक्षा यौवन के स्वप्नों में खोयी रहना अधिक पसन्द करती है। मातृत्व उसके अनुसार एक विरूपता है। वह कहती है—

पुत्रवती होंगी, शिशु को गोदी में हलरायेंगी ।
 मंदिर तान को छोड़ साँभ से ही लोरी गायेंगी ।

पहनेंगी कंचुकी क्षीर से क्षण-क्षण गीली-गीली ।

नेह लगायेंगी मनुष्य से, देह करेंगी ढीली,

यही भाव 'रसवन्ती' की निम्न पंक्तियों में मिलता है—

काश ! समझतीं जन्म तिरोधातुर कृत्रिम बाधायें ।

पुत्र-कामना इच्छा है अपने को ही पाने की । ('रसवन्ती')

'दिनकर' जी अप्सराओं के हृदय में कामनाओं के सागर की उताल तरंगों को सदैव तरंगित होते दिखाते हैं । ये तरंगें पुरुषों को पूर्णरूपेण डुबाकर पीड़ा के सागर में ढकेल देती हैं—

हम सागर-आत्मजा सिन्धु सी ही असीम उच्छृंखल हैं ।

इच्छाओं की अमित तरंगों से भङ्कृत चंचल हैं ।

स्वयं मनुष्य-जनित पीड़ाओं से अपरिचित ये अप्सराएँ अन्य पुरुषों को विविध पीड़ाओं से पीड़ित करती हैं । परिणामस्वरूप इसके लिए प्रेम का कोई महत्व नहीं है और ये समर्पण की भावनाओं से कतराती हैं । शारीरिक रूप ही इनके जीवन की सबसे बड़ी महत्वाकांक्षा है और मानव-सुलभ-प्रेम से इन्हें घृणा है । इस घृणा को रम्भा निम्न शब्दों में व्यक्त करती है—

जहाँ प्रेम राक्षसी भूख से क्षण-क्षण अकुलाता है,

प्रथम ग्रास में ही यौवन की ज्योति निगल जाता है

धर देता है, भून रूप को दाहक आलिंगन से

छवि को प्रभाहीन कर देता ताप-तप्त चुम्बन से

पतझर का उपमान बना देता वाटिका हरी को ।

और चूमता रहता फिर सुन्दरता की ठठरी को ।

इन उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि अप्सराओं के माध्यम से 'दिनकर' जी ने उस नारी-रूप का चित्रण किया है जिसमें शारीरिक सौन्दर्य को ही जीवन का लक्ष्य माना गया है और जिसमें हृदय की उदात्त भावनाओं का कोई महत्व नहीं है । इस प्रकार की विचार-प्रणाली के कारण इन नारियों का जीवन उच्छृंखलता से भरा रहता है ।

(२) नारी का पत्नी-रूप

('उर्वशी' में दूसरा नारी-रूप पत्नी का है । पुस्तक में दो पत्नियाँ चित्रित की गई हैं । पहली है औशीनरी जो राजा पुरुरवा की पत्नी है और दूसरी है सुकन्या जो महर्षि च्यवन की पत्नी है । दोनों के जीवन में बड़ा अन्तर है । औशीनरी दुखी और परित्यक्ता है जबकि सुकन्या अपने पति की प्रिय है । दूसरे अंक में औशीनरी का दुखी जीवन दिखाया गया है) औशीनरी की कहानी हमें 'रेणुका' की 'राजा-रानी' कविता की याद दिलाती है । औशीनरी वह रानी है जिसकी 'सब दिन गीली रही कथा है ।' बेचारी के भाग्य पर 'कुटिल नियति मुसकायी' क्योंकि 'महाराज से मिलने को' उर्वशी

स्वर्ग से आयी।' निपुणिका राजा और उर्वशी की प्रेम-कथा रानी को सुनाने में फिझकती है। औशीनरी बड़े साहस के साथ उसे कहानी कहते रहने को उत्साहित करती है—

(पगली ! कौन व्यथा है जिसको नारी नहीं सहेगी ।)

(सैथिलीशरण गुप्त की यशोधरा की भाँति औशीनरी पति के विछोह पर रोती है किन्तु यह कभी नहीं भूलती कि वह एक पत्नी है। उर्वशी पर रानी का क्षोभ स्वाभाविक है।) वह कहती है—

हाय, मरण तक जी कर मुझको हालाहल पीना है।

...

...

...

ये प्रवंचिकायें, जानें, क्यों तरस नहीं खाती हैं।

निज विनोद के हित कुल-वामाओं को तड़पाती हैं।

ईजाल फेंकती, फिरतीं अपने रूप और यौवन का।

हँसी-हँसी में करती हैं आखेट नरों के मन का।

किन्तु बाण इन व्याधिनियों के किसे कष्ट देते हैं !

पुरुषों को दे मोद प्राण वे वधुओं के लेते हैं।

औशीनरी पति-प्रेम से वंचिता है। उसका आक्रोश और क्रोध उसकी विवशता को दिखाता है और वह उपालम्भ बन कर फूटता है। वह परकीया और पत्नी के प्रेम के भेद को भी दिग्दर्शित कराती है। एक ओर प्रेमिका का प्रमदा रूप है जिसके समक्ष पुरुष अपना सब कुछ न्यौछावर कर देता है और दूसरी ओर पत्नी है जो पति की एक प्रेमनयी दृष्टि के लिए भूखी है—

सब कुछ है उपलब्ध, एक सुख वही नहीं मिलता है,

जिससे नारी के अन्तर का मान-पद्म खिलता है।

वह सुख जो उन्मुक्त बरस पड़ता उस अवलोकन से,

देख रहा हो नारी को जब नर मधु-मत्त नयन से।

ये आँसू औशीनरी के जीवन का इतिहास बताते हैं। ये आँसू उस समय और प्रगाढ़ हो जाते हैं जब कंचुकी यह सूचना देता है कि महाराजा गन्धमादन गिरि पर पुत्र-कामना हेतु सलग्न है और रानी के लिए यह आदेश है कि वह महल में रहकर पुत्र-प्राप्ति के लिए आराधना करे। औशीनरी का हृदय जल उठता है। उसे सत्य विदित है और वह असहाय है। किन्तु हृदयका आक्रोश और असहायता निम्न शब्दों में फूट पड़ती है—

हाँ, अनोखी साधना है,

अप्सरा के संग रमना ईश की आराधना है।

पुत्र पाने के लिए बिहरा करे वे कुंज बन में,

और मैं आराधना करती रहूँ सूने भुवन में।

कितना विलक्षण न्याय है ।

कोई न पास उपाय है ।

(अवलम्ब है सबको मगर नारी बहुत असहाय है।)

व्यक्तिगत भूख उसे नारी-जाति के दुखों की याद दिलाती है और वह समस्त नारी-जाति को सम्बोधित करके कहती है—

दुख-दर्द जतलाओ नहीं

मन की व्यथा गाओ नहीं

नारी ! उठे जो हूक मन में, जीभ पर लाओ नहीं ।

किन्तु यह सब होते हुए भी (वह एक पत्नी है और वह भी भारतीय । इस सत्य को वह कभी नहीं भुलाती और इस कारण उसी साँस में कहती है—)

तब भी मरुत अनुकूल हों

मुझको मिलें जो शूल हों

(प्रियतम जहाँ भी हों, बिछे सर्वत्र पथ में फूल हों।)

यह पत्नी का स्वर है जिसमें द्वेष नहीं, बदले की भावना और किसी भी प्रकार का आक्रोश नहीं (इस उच्चता पर प्रेमिका नहीं पहुँच सकती, केवल पत्नी ही पहुँचती है। औशीनरी की कामना अपने आँसुओं से राजा के मार्ग को प्रशस्त करना है। रानी का यह रूप 'रेणुका' की कविता 'राजा-रानी' की निम्न पंक्तियों की अनायास ही याद दिलाता है—

रानी रोओ, पोंछो न अश्रु अंचल से,

राजा अबोध खेले कचनार कमल से ।

राजा के वन में कैसे कुसुम खिलेंगे,

सौँचो न धरा यदि तुम आँसू के जल से । (‘रेणुका’)

औशीनरी की कथा लगभग वही है जो मैथिलीशरण जी ने यशोधरा और उर्मिला को लेकर लिखी है। अन्तर केवल परिस्थितियों का है। यशोधरा के पति सिद्धार्थ और उर्मिला के लक्ष्मण जीवन में उच्च ध्येय से प्रेरित हो अपनी पत्नियों को असहाय छोड़ कर गये थे। पुरुरवा किसी उच्च आदर्श से प्रेरित नहीं हुए। अतः औशीनरी के समक्ष साधना का कोई उँचा ध्येय नहीं था। वह खण्डिता है, क्योंकि उसके पति ने उसके गम्भीर-प्रेम, निष्ठा, और त्याग में ठोकर मारी है और केवल शारीरिक दुर्बलताओं का शिकार हो उर्वशी के प्रेम में फँसा है। अतः यशोधरा और उर्मिला की भाँति औशीनरी को कोई सान्त्वना का स्रोत नहीं है। उसका त्याग और उसकी सहनशीलता इसीलिए अधिक उच्च-स्तर की है।)

(पत्नी-रूप में दूसरी प्राप्ति-सुकन्या है। वह एक सच्ची पत्नी है और औशीनरी की भाँति परित्यक्ता नहीं है। उसे अपने पति महर्षि च्यवन पर गर्व है—)

.. चित्रलेखे ! मुझको अपने महर्षि भर्ता पर ।
ग्लानि नहीं, निस्सीम गर्व है ।

सुकन्या का गार्हस्थिक दृष्टिकोण है । वह पत्नी जीवन को ही नारी का परम लक्ष्य मानती है—

शिखर शिखर उड़ने में, जाने कौन प्रमोद लहर है ।
किन्तु एक तरु से बँध सारी आयु बिता देने में ।
जो प्रफुल्ल घन, गहन शान्ति है, वह क्या कभी मिलेगी,
नये-नये फूलों पर नित उड़ती फिरने वाली को ।

वह अपने पति के सान्निध्य के अतिरिक्त और किसी की कामना भी नहीं करती । अप्सराओं के विविध भोगों से वह पूर्णरूपेण अपरिचित है और पति को ही अपना आनन्द धाम मानती है । गार्हस्थ्य जीवन की सुस्थिरता, गम्भीरता और अनुद्विग्न प्रेम का वर्णन वह इस प्रकार करती है—

एक चारिणी मैं क्या जानूँ स्वाद विविध भोगों का !
मेरे तो आनन्द धाम केवल महर्षि भर्ता है ।
योग-भोग का भेद अप्सरा की अबंध क्रीड़ा है ।
गृहिणी के तो परम देव आराध्य एक होते हैं ।
जिससे मिलता भोग, योग भी वही हमें देता है ।
क्या कुछ मिला नहीं मुझको दयिता महर्षि की होकर ।

औशीनरी की अपेक्षा सुकन्या पुरुष स्वभाव से अधिक परिचित है । वह पत्नी के कर्तव्यों के प्रति पूर्ण जागरूक है । सुकन्या में मनोवैज्ञानिक दृष्टि है और वह भली-भाँति जानती है कि संसार को विजय करने की क्षमता रखने वाला मनुष्य अपनी ही बनाई हुई उलझनों से निकल सकने में असमर्थ होता है । इन्हीं कारणों को ध्यान में रखकर वह एक पत्नी के रूप में सलाह देती है—

इसीलिए, दायित्व गहन दुस्तर गृहस्थ नारी का ।
क्षण-क्षण सजग अनिद्र दृष्टि देखना उसे होता है,
अभी कहाँ है व्यथा ? समर से लौटे हुए पुरुष को ।
कहाँ लगी है प्यास, प्राण में काँटे कहाँ चुभे हैं ।

सुकन्या में नारी-विषयक वही भाव मिलते हैं जो 'रसवन्ती' में 'नारी' कविता में व्यक्त किये गए हैं ('दिनकर' जी स्पष्ट कहते हैं कि पुरुष कर्म है और नारी प्रेरणा । कर्म स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है, प्रेरणा अदृश्य रहती है । यही कारण है कि प्रेरणा की स्रोत नारी को इतिहास में स्थान नहीं मिलता और वहाँ केवल पुरुष की गौरव-गाथा गाई जाती है । जैसा 'अर्धनारीश्वर' में दिखाया है, 'उर्वशी' में भी 'दिनकर' पत्नी-स्वरूप नारी को देवत्व के अधिक समीप पाते हैं । सुकन्या औशीनरी से कहती है—

(और देवि ! जिन दिव्य गुणों को मानवता कहते हैं ।
उनमें भी अत्यधिक निकट नर नहीं, मात्र नारी है ।
जितना अधिक प्रभुत्व-तृषा से पीड़ित पुरुष हृदय है ।
उतने पीड़ित कभी नहीं रहते हैं प्राण त्रिया के)

(नारी तो अपने सर्वस्व को पति-चरणों पर लुटाकर संसार का समस्त वैभव पा लेती है । अपने को समाप्त कर पर पूर्णाहुति चढ़ाने में ही नारी में पत्नी-रूप की सार्थकता है—)

हम हो जाती हैं कृतार्थ अपने अधिकार गंवाकर

(३) नारी का प्रेमिका-रूप

'उर्वशी' के तृतीय अंक में प्रेम, प्रेमी और प्रेमिका की अपूर्व व्याख्या की गई है । प्रेमी है पुरूरवा और प्रेमिका है उर्वशी । दोनों ही प्रतीकात्मक अधिक हो गए हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि 'दिनकर' जी ने 'उर्वशी' की भूमिका में पुरूरवा और उर्वशी शब्दों का जो कोषगत अर्थ किया है उसी की व्याख्या इस अंक में की गई है । 'दिनकर' जी लिखते हैं—

(“उर्वशी शब्द का कोषगत अर्थ होगा उत्कृष्ट अभिलाषा, अपरिमित वासना इच्छा अथवा कामना ।

...उर्वशी चन्द्रि रसना, प्राण, त्वक् तथा स्रोत की कामनाओं की प्रतीक है ।”)

किन्तु कुछ पंक्तियों के बाद ऐसा प्रतीत होता है कि 'दिनकर' जी अपनी उक्त धारणा का खण्डन कर रहे हैं—

(“किन्तु, उर्वशी द्वन्द्वो से सर्वथा मुक्त है । देवियों में द्वन्द्व नहीं होता, वे त्रिकाल अनुद्विग्न, निर्मल और निष्पाप होती हैं । द्वन्द्वो की कुछ थोड़ी अनुभूति उसे तब होती है, जब वह माता अथवा पूर्ण मानवी बन जाती है, जब मिट्टी का रस उसे पूर्ण रूप से अभिसिक्त कर देता है ।”)

'दिनकर' की इन उक्तियों और (तृतीय अंक में उर्वशी के कथनों को ध्यान में रखकर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि समस्त काव्य में (उर्वशी तीन रूपों में हमारे सामने आती है—(१) सनातन नारी की प्रतीक, (२) देवी के रूप में और (३) मानवी उर्वशी । प्रथम रूप में वह केवल नारी की प्रतीक मात्र मानी गई है) जैसा कि 'दिनकर' जी की भूमिका से उद्धृत कथन से स्पष्ट होता है (प्रथम अंक में मेनका आदि अप्सराओं के वार्त्तालाप से उर्वशी का दैवी रूप प्रकट होता है । किन्तु साथ ही साथ यह भी स्पष्ट होता है कि वह मानवी भावनाओं की शिकार हो चुकी है । यदि स्त्री की सहजता, कोमलता और सौन्दर्य पुरुष को आकर्षित करते हैं तो पुरुष का पौरुष, शौर्य, आत्मविश्वास और अहं नारी के लिए आकर्षण का केन्द्र होते हैं ।

उर्वशी उस समय पूर्ण मानवी के रूप में प्रकट होती है जब वह पुरुरवा के उपर्युक्त गुणों से आकर्षित हो हृदय-समर्पण कर देती है वह पुरुरवा से कहती है—

पर, इस आने में किंचित् भी स्वाद कहाँ उस सुख का ।

जो सुख मिलता उन मनस्विनी वाम लोचनाओं को ।

जिन्हें प्रेम से उद्वेलित विक्रमी पुरुष बलशाली ।

रण से लाते जीत या कि बल सहित हरण करते हैं ।

उसका मानवी-रूप यह सहन नहीं कर पाता कि पुरुरवा किसी द्वन्द्व का शिकार बन उससे अलग हट जाए । पूर्ण आनन्द की अनुभूति की वह भूखी है और पुरुरवा के तनिक विचलित होने पर वह कहती है—

यह मैं क्या सुन रही ? देवताओं के जग से चलकर ।

फिर मैं क्या फँस गई किसी सुर के हो बाहु-बलय में ?

...

...

...

अनासक्ति तुम कहो, किन्तु, इस द्विधा-ग्रस्त मानव की ।

भाँकी तुम में देख मुझे, जाने क्यों, भय लगता है ।

तन से मुझको कसे हुए अपने दृढ़ आलिंगन में ।

मन से, किन्तु विषण्ण दूर तुम कहाँ चले जाते हो ?

उर्वशी का पक्ष प्रकृति का पक्ष है, वह एक सामान्य नारी की भाँति जीवन के संपूर्ण आनन्द में लिप्त होना चाहती है । उसके लिए ऐन्द्रिक धरातल पर काम-सुख ही पूर्ण सत्य है । प्रकृति के लिए पूर्ण आत्म-समर्पण उसे अप्सरा से नारी बना देता है और यह आत्म-समर्पण ही उसके लिए सहज रूप में जीवन की सिद्धि है निष्काम भाव से ऐन्द्रिय काम का आनन्द ही उर्वशी का चरम साध्य है । पुरुरवा भी काम में विश्वास रखता है किन्तु वह इसको सिद्धि नहीं अपितु साधन मानता है । वह आत्मवादी है और ऐन्द्रिय आनन्द को वह आत्मरति की साधना मानता है । उसके लिए प्रकृति की आराधना ईश्वर की ही आराधना के सदृश है । इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि उर्वशी के लिए जीवन का अन्तिम लक्ष्य प्रकृति है और उसके प्रति निष्काम आत्म-समर्पण ही उसका अन्तिम उद्देश्य है, जबकि पुरुरवा ईश्वर को परमतत्त्व मानता है और प्रकृति को माध्यम बना ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण ही उसके जीवन की सिद्धि है । इस प्रकार उर्वशी अप्सरा होते हुए भी मानवी रूप में प्रस्तुत की गई है ।

किन्तु समस्त काव्य में उर्वशी एक अप्सरा और देवी के रूप में पढ़ने वालों के मस्तिष्क में छायी रहती है, वह परी है और अमानवी शक्ति है, यह तथ्य प्रारम्भ में ही सहजन्मा पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर देती है—

जो अयोनिजा स्वयं, वही योनिज सन्तान जनेगी ?

यह सुरम्य सौरभ की कोमल प्रतिमा जननि बनेगी ?

किरणमयी यह परी करेगी यह विरूपता धारण
वह भी और नहीं कुछ, केवल एक प्रेम के कारण ?

तृतीय अंक में 'दिनकर' जी उर्वशी से स्वयं कहलवाते हैं—

(॥ मैं मानवी नहीं, देवी हूँ, देवों के आनन पर
सदा एक झिलमिल रहस्य आवरण पड़ा होता है,
उसे हटाओ मत, प्रकाश के पूरा खुल जाने से,
जीवन में जो भी कवित्व है, शेष नहीं रहता है ।)

अन्तिम अंक में शाप-वश जब उर्वशी अन्तर्धान हो जाती है तो सुकन्या कहती है—

महाराज ! उर्वशी मानवी नहीं, ~~देवबला~~ ^{देवी} थी, ~~वला~~ ^{देवी} थी, ~~वला~~ ^{देवी} थी

इस प्रकार समस्त काव्य में उर्वशी के तीन रूप स्पष्ट दिखाई देते हैं—(१) शाश्वत नारी की प्रतीक (२) प्रेमिका (३) देवी उर्वशी । इसमें सन्देह नहीं कि पाठक के मानसिक पटल से यह कभी नहीं हट पाता है कि उर्वशी देवी है किन्तु फिर भी कवि उसके प्रेमिका रूप को अत्यधिक आकर्षक बनाने में सफल हुआ है ।

'दिनकर' की उर्वशी का विवेचन करते समय रवीन्द्रनाथ टैगोर की उर्वशी का अनायास ध्यान हो आना आवश्यक है । ('दिनकर' की उर्वशी) जैसा ऊपर देखा जा चुका है मानवी गुणों से ओत-प्रोत है, यद्यपि उसमें अप्सराओं की स्वर्गीयता भी है । वह एक ओर विश्व-प्रिया है तो दूसरी ओर एक मनुष्य की भी प्रिया है, और है एक बच्चे की माँ भी इस प्रकार उसमें सांसारिक और स्वर्गीय गुणों का मिश्रण है । इसके विपरीत रवीन्द्रनाथ की उर्वशी केवल स्वर्गीय है, वह अप्सरा है और है विश्व-प्रिया । इस प्रकार वह निर्विशेष और अमूर्त है । वह सबकी है किसी एक की नहीं है । वास्तविकता यह है कि टैगोर की उर्वशी केवल विशेषणों की उर्वशी है । वह नन्दनवासिनी सुन्दरी, रूपसी, अनवगुणिता, अकुणिता, कुन्त शुभ्रनग्न कान्तिमयी, सुरेन्द्र-वन्दिता अनन्दिता, अनन्त यौवना, पूर्ण प्रस्फुटिता, विलोल हिल्लोल, असम्भृता, अबन्धना, अपूर्व शोभना उर्वशी है । वह न माता है, न कन्या न वधू अपितु इन सब सम्बन्धों से परे केवल सौन्दर्य-राशि है, विराट् की निरपेक्ष सौन्दर्य-मूर्ति है । टैगोर उर्वशी को स्वयम्भू सौन्दर्य, कालातीत, शाश्वत यौवना दिखाते हैं । उन्होंने उर्वशी का पूर्णरूपेण अमूर्त कर दिया है । उर्वशी शाश्वत प्रेयसी मात्र है और मानसी प्रिया है—

युग युगान्त रहते तुमि शुधु विश्वेर प्रेयसी,
हे अपूर्व शोभना प्रेयसी ।

किन्तु ('दिनकर' की उर्वशी निबिड़ स्तननता, मुष्टिमध्यमा, मदिरलोचना और कामलुलिता होते हुए भी मर्त्यलोक के राजा पुरूरवा की प्रिया है और देह को गल कर पयस्विनी बनने वाली माँ है । वह स्वर्ग तथा पृथ्वी को जोड़ने वाली सेतु है । इस प्रकार 'दिनकर' की उर्वशी दोनों जगत-बोध और अध्यात्म-बोध की दृष्टि से पूर्ण है वह हमें अंग्रेज कवि वर्ड्सवर्थ के 'स्काई लार्क' की याद दिलाती है—

Type of the wise, who soar, but never roam.
True to the kindred points of Heaven and Home.

नारी का मातृ-रूप

‘दिनकर’ के अनुसार नारी का माता रूप सब रूपों से श्रेष्ठ है। इसकी श्रेष्ठता अप्सराएँ भी स्वीकार करती हैं जो वैसे केवल रूप को ही महत्व देती हैं। मेनका कहती है—

पर, रम्भे ! क्या कभी बात यह भी मन में आती है ।
माँ बनते ही त्रिया कहाँ से कहाँ पहुँच जाती है !
गलती है हिमशिला, सत्य है गठन देह की खोकर,
पर, हो जाती वह असीम कितनी पयस्विनी होकर ?
युवा जननि को देख शांति कैसी मन में जगती है ।
रूपमती भी सखि ! मुझे तो वही त्रिया लगती है,
जो गोदी में लिए क्षीर-मुख शिशु को सुला रही हो ।
अथवा खड़ी प्रसन्न पुत्र का पलना भुला रही हो ।

‘उर्वशी’ में ‘दिनकर’ जी ने ‘रसवन्ती’ में व्यक्त मातृत्व भाव को भी खुलकर व्यक्त किया है। ‘रसवन्ती’ में नारी के मातृत्व का गान करते हुए कवि लिखते हैं—

शरमाती बँठी थी उत्सुक वधू प्रसूति-सदन में,
निकली है लेकर पुनीत, गम्भीर हृदय माता का,
जब से उज्ज्वल प्रेम उमड़ आँचल में फूट पड़ा है
एक सरल सन्तोष भलकता है, उसके आनन पर । (रसवन्ती)

‘रसवन्ती’ में ‘दिनकर’ यह स्पष्ट कर देते हैं कि नारी ‘माता’ बनकर जीवन के निकट आ जाती है, उसे यह विदित है कि नारी-जीवन का ध्येय क्रीड़ा-कुसुम-प्रणय की अपेक्षा कहीं ऊँचा है—

माँ बनते ही ध्येय जन्म का उसको भलक गया है
घूम रही थी दूर-दूर आ गई निकट जीवन के ।
जीवन समझ रखा था उसने क्रीड़ा-कुसुम-प्रणय को
समझ रही अब, इन सबसे भी परे तत्त्व है कोई । (रसवन्ती)

‘रसवन्ती’ के इसी भाव को ‘दिनकर’ ‘उर्वशी’ में व्यक्त करते हैं, जैसा कि ऊपर की पंक्तियों से स्पष्ट होता है, नारी का मातृत्व उसके व्यक्तित्व को ससीम से असीम की ओर ले जाता है। कवि ने महर्षि च्यवन के मुख से अपनी यह धारणा व्यक्त की है कि गर्भिणी नारी में श्लथ शरीरांग, पीत-वर्ण काया, नेत्रों की वक्रता, तथा मुख पर बिखरती कान्ति मनुष्यों के हृदय में करुणा, आदर एवं लोकोत्तर भावों को जन्म देते हैं—

और नारियों में भी श्लथ गर्भिणी, सत्वशीला को
देख मुझे सम्मानपूर्ण करुणा-सी हो आती है।

कितनी विवश किन्तु कितनी लोकोत्तर वह लगती है (उर्वशी)

नाना प्रकार के कष्टों को सहन कर वह मानव-जीवन के प्रवाह-चक्र को सक्रिय रखने की जो तपश्चर्या करती है, उसका महत्व शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सकता है—

कितनी सह यातना पालती त्रिया भविष्य जगत को।

कह सकता है कौन पूर्ण महिमा इस तपश्चर्या की। (उर्वशी)

‘दिनकर’ जी तो प्रजा-सृष्टि-रूपी यज्ञ में पुरुष का योगदान मानते हैं। उनके अनुसार नारी इस यज्ञ की समस्त साधनाओं के भार को वहन करती है और अकेली ही संतति के गर्भभार, प्रसव-पीड़ा, पालन-पोषण आदि के उत्तरदायित्वों को निभाती हुई उसका मानसिक विकास करती है—

सच पूछो तो, प्रजा सृष्टि में क्या है, भाग पुरुष का ?

यह तो नारी ही है, जो सब यज्ञ पूर्ण करती है।

सत्व भार सहती असंग, सन्तति असंग जनती है।

और वही शिशु को ले जाती मन के उच्च निलय में

जहाँ निरापद, सुखद कक्ष है शैशव के भूले का (उर्वशी)

माता के रूप में हमें ‘उर्वशी’ में तीन नारी पात्र मिलते हैं—उर्वशी, सुकन्या, औशीनरी इनमें से जननी के रूप में केवल उर्वशी ही प्रस्तुत की गई है। आयु उसका पुत्र है जिस पर तीन नारियों—उर्वशी, सुकन्या और औशीनरी की वत्सलता फूट पड़ती है। उर्वशी अपने मातृत्व पर गर्व करते हुए कहती है—

बेटी नहीं हुई तो क्या ! अब माँ तो हूँ मानव की।

नहीं देखती, रत्नमयी को कैसा लाल दिया है। (उर्वशी)

जब-जब वह आयु का चुम्बन करती है, उसका सारा मातृत्व उमड़ पड़ता है और वह अलौकिक सुख का अनुभव करती है—

कितनी मृदुता ऊर्मि प्राणों में अथक, अपार सुखों की

दुग्ध धवल यह सृष्टि मनोरम कितनी अमृत-सरस है।

और स्पर्श में यह तरंग सी क्या है सोम-सुधा की,

अँक लगाते ही आँखों की पलकें झुक जाती हैं।

वह आयु की नन्हो-नन्ही आँखों को देखती है और उसके हृदय में वात्सल्य भाव उमड़ पड़ता है, अंग्रेज कवि वर्ड्सवर्थ की भाँति वह बच्चे में त्रिकालदर्शी का रूप देखती है—

अरी देखती नहीं, लाल की नन्हीं सी आँखों में।

अब भी तो सुस्पष्ट स्वर्ग के सपने झलक रहे हैं।

टुकुर-टुकर सन्तुष्ट भाव से कैसे ताक रहा है ।

मानो, हो, सर्वज्ञ, सर्व-दर्शी समर्थ देवों-सा ।

बार-बार उठाकर वह उसे हृदय से लगाना चाहती है, क्योंकि माँ का हृदय पुत्र के स्पर्श से शीतलता पाता है—

अरी, जुड़ाना क्या इसको ? ला, दे इस हृदय कुसुम को ।

लगा वक्ष से स्वयं प्राण तक शीतल हो जाती हूँ ।

प्रत्येक माँ की भाँति उसने पुत्रोत्पत्ति से पहले कितने स्वप्न संजोये थे—

आहः गभ में लिए इसे कल्पना-भ्रुंग पर चढ़कर,

किस सुरम्य, उत्तुंग स्वप्न को मैंने नहीं छुआ था

सूर्य के तेज को, चन्द्रमा की कोमल रश्मि को, तारों की पवित्र आत्मा को वह एक स्थान में समेट कर अपने गर्भ में समा लेना चाहती है । समस्त ब्रह्माण्ड में जो भी शुभ और सुन्दर है वह उसे प्राप्त कर पुत्र में समाहित करना चाहती है । वह उसके लिए अनेक मंगल-कामनाएँ करती है तथा उसे एक प्रतापी, दयालु एवं धर्मात्मा शासक बनने का शुभाशीष देती है—

वह सब होगा सत्य, लाल मेरा यह कभी उगेगा ।

पिता सदृश ही ऊपर सूर्य बनकर अखंड भूतल में ।

और भरेगा पुण्यवान यह माता का गुण लेकर

उर-अन्तर अनुरक्त प्रजा का शीतल हरियाली से ।

वह आशा करती है, जैसा प्रत्येक माँ चाहती है, कि उसका बेटा प्रतापी हो और उसके कार्यों से समाज और ससार के दुख, सन्ताप मिटें । उर्वशी की माता के रूप में उत्कट अभिलाषा है—

जब होगा यह भूप, प्रचुर धन धान्यवती भू होगी ।

रोग, शोक, परिताप पाप वसुधा के घट जायेंगे ।

सब होंगे सुख पूर्ण, जगत में सबकी आयु बढ़ेगी ।

इसीलिए तो सखी ! अभी से इसे आयु कहती हूँ । (उर्वशी)

स्वच्छन्द विचरण करने वाली उर्वशी के मन में माता बन जाने पर पति-प्रेम और पुत्र-प्रेम के मध्य अन्तर्द्वन्द्व चलता है । जब वह आयु को सुकन्या के संरक्षण में छोड़ती है तब बड़े ही मार्मिक शब्द कहती है कि वह भरतशाप वश पति और पुत्र दोनों में से एक ही को प्राप्त कर सकती है—

और विवशता तो देखो, मैं अभागिनी नारी ।

दिखा नहीं सकती सुत का मुख अपने ही स्वामी को ।

न तो पुत्र के लिए स्नेह स्वामी का तज सकती हूँ ।

दुखी माता का हृदय अपने को ही नहीं कोसता अपितु वह पुत्र को भी भाग्यहीन बताती है। वह रोती हुई कहती है कि उस जैसी अभिशप्त बन्ध्या के उदर में उसने जन्म ही क्यों लिया था—

हाय पुत्र ? तू क्यों आया था उसके बन्ध्य उदर में ।
(अभिशप्ता जो नहीं प्यार माँ का भी दे सकती है)

उसे इस बात का अत्यधिक क्षोभ है कि वह अपने पुत्र का लालन-पालन भी नहीं कर सकी। वह अपने को आयु की माँ कहलाने का अधिकारी नहीं समझती—

मैं निमित्त ही रही, सुकन्ये । इस अबोध बालक को
तुम्हें छोड़ कर निखिल लोक में और कौन माता है ।
केवल भ्रूण-वहन, केवल प्रजनन मातृत्व नहीं है ।

(माता वही, पालती है जो शिशु को हृदय लगाकर ।) (उर्वशी)

वह अपना सुख तृणवत्, नगण्य समझकर त्यागने को तत्पर है, किन्तु पुत्र का भाग्य विनष्ट नहीं करना चाहती। अतः वह सुकन्या को आदेश देती है कि जब वह उचित समझे आयु को राजा के पास पहुँचा दे—

अपना सुख तृणवत् नगण्य है, उसे छोड़ सकती हूँ
किन्तु, पुत्र का भाग्य भूमि पर रह कैसे फोड़ूँगी ।
देना भेज उचित जब समझो, मुझसे जनित तनय पर
जभी पड़ेगी दृष्टि दयित की, वज्र आन टूटेगा । (उर्वशी)

और अन्त में जब राजा पुरुरवा अपना स्वप्न सुनाते हैं तथा ज्योतिषी उसका फल बताता है तो भावी वियोग की आशंका से पुत्र-प्रेम के कारण उसका गला रुँध जाता है—

दुर्विपाक ! दुर्भाग्य ! अपाले ! तनिक और पानी दे ।
उमड़ प्राण से, कहीं कण्ठ में, ज्वाला अटक गयी है ।
लगता है, आज ही प्रलय अम्बर से फूट पड़ेगा ।

इस प्रकार माता के सभी लक्षण हमें उर्वशी में मिलते हैं ।

धात्री के रूप में सुकन्या प्रस्तुत की गई है। वह उर्वशी के पुत्र आयु को पुत्रवत् पालती है) जब चित्रलेखा उर्वशी से शिशु को राजभवन में छोड़कर सुरपुर चलने की सलाह देती है तो सुकन्या विमाता औशीनरी का विश्वास न कर आयु को अपने पास रखने के लिए आग्रह करती है। वह उर्वशी से प्रतिज्ञा करती है—

शास्त्र-शास्त्र-निष्णात, अंग से बली, विभासित मन से
जब अपना यह आयु पूर्ण कैशोर प्राप्त कर लेगा
पहुँचा दूँगी स्वयं इसे ले जाकर राज भवन में ।
वस्तुतः 'माता वही, पालती है जो शिशु को हृदय लगाकर ।'

आयु को अपने पास रखकर वह स्वर्णिम भविष्य की भाँति वह सोचती है कि आयु जब बड़ा हो जायेगा तो वह धेनुओं को चराने जाया करेगा, महर्षि के साथ यज्ञ करेगा, शस्त्र-शास्त्र में निपुण होगा। वे कल्पनाएँ उसके मन में मातृत्व के अनेक सुनहले स्वप्न जागृत कर देती हैं। निम्न पंक्तियों में तो उसका मातृत्व साकार हो उठता है—

हवन-धूम से आँखों में जब वाष्प उमड़ आयेंगे
तब मैं दोनों नयन पोंछ दूंगी अपने अंचल से।

विमाता औशीनरी है, किन्तु उसमें कोई ऐसे चिन्ह दृष्टिगोचर नहीं होते जिनसे ईर्ष्या या द्वेष का भाव भलकता हो। आयु को देखकर वह मातृत्व भाव से भर जाती है और उसे अपार आनन्द का अनुभव होता है। वास्तव में पुत्रहीना साध्वी औशीनरी पति के अंशभूत आयु को पाकर अपने को धन्य समझती है और उससे अपने को राज-माता मानती है—

किन्तु, नियति की बात ! सत्य ही, अभी राजमाता हूँ।
आ बेटा। लूँ जुड़ा प्राण छाती से तुझे लगाकर।

उसे केवल एक बात का दुख है कि आयु यदि उसे बचपन में ही मिला होता तो वह अनेक उमंग और आशाओं से उसका पालन करती। वह आयु को हृदय से लगाकर कहती है—

कितना भय स्वरूप ! नयन, नासिका, ललाट चिबुक में
महाराज की आकृतियों का पूरा बिम्ब पड़ा है।
हाय, पालती कितने सुख, कितनी उमंग आशा से,
मिला मुझे होता यदि मेरा तनय कहीं बचपन में। (उर्वशी)

‘दिनकर’ यद्यपि औशीनरी के साथ पूर्ण न्याय नहीं कर सके हैं, परन्तु जहाँ तक उनकी अपत्य ललक का प्रश्न है, उन्होंने औशीनरी की हृदय-व्यथा से अपने हृदय को एका-कार करके बहुत ही हृदय-द्रावक भाव व्यक्त किए हैं—

तुझे प्यास वात्सल्य सुधा की भी उसी अमृत से
बिना लुटाये कोष हाय ! आजीवन भरी रही हूँ।

यहाँ पर ‘दिनकर’ के नारी-सम्बन्धी विचारों का जो उनके गद्य-साहित्य में मिलते हैं, अध्ययन असंगत न होगा। ‘दिनकर’ की प्रसिद्ध गद्य-रचना ‘पन्त, प्रसाद और मंथिलो शरण’ में प्रसाद की निम्न पंक्तियों के विषय में उनके विचार उद्धरणिय हैं—

श्या कहती हो, ठहरो नारी ! संकल्प अभ्रजल से अपने
तुम दान कर चुकी पहले ही जीवन के सोने के सपने।
नारी ! तुम केवल श्रद्धा हो विश्वास-रजत-नग-पगल में
पीपूष-स्रोत सी बहा करो जीवन के सुन्दर समतल में।

आँसू से भीगे अंचल पर मन का सब कुछ रखना होगा
तुमको अपनी स्मित रेखा से यह सन्धि-पत्र लिखना होगा ।

(‘कामायनी’)

इन पंक्तियों के विषय में ‘दिनकर’ की निम्न टिप्पणी मिलती है—

“कविता की ये पंक्तियाँ ‘कामायनी’ की कदाचित्, सर्वश्रेष्ठ पंक्तियाँ हैं और समस्त विश्व, साहित्य में भी नारी को लक्ष्य करके इतनी आकुल पंक्तियाँ कही लिखी गई हैं या नहीं, मैं नहीं जानता । किन्तु क्या यह उक्ति नारी-समस्या का कोई समाधान भी देती है । नारी ने चूँकि प्रेम किया है, इसलिए अपने व्यक्तित्व पर उसका अपना अधिकार नहीं है । प्रेमी विश्वास का पर्वत है, प्रेमिका को उसके पाँवों पर पड़ा रहना चाहिए । उस पर चाहे लाखों विपत्तियाँ आए, किन्तु अपना सर्वस्व उसे पति के निमित्त उत्सर्ग करना ही होगा और पति चाहे जो भी विपरीत आचरण करे, उसे पत्नी को मुस्कराकर टाल देना चाहिए । यही वह समाधान है जिसे छायावाद की रूचि पसन्द करती है । किन्तु दोनों के अस्तित्व अलग-अलग हैं और दोनों अपने-अपने वैयक्तिक विकास के लिए उत्सुक हुए हैं, इसलिए विकास के असवर केवल नरों को ही नहीं, नारियों को भी मिलने चाहिए । यदि मन मिलता हो तो ठीक है, किन्तु पाँवों पर पीयूष-धार बनकर बहना क्या ! और हँसकर पुरुषों के अत्याचार सहने में कौन-सी बड़ाई है ! ऐसी स्थिति में तो नयी नारी प्रेम के नकली सूत्र को ही तोड़ देगी ।

(पंत, प्रसाद और मैथिलीशरण पृ० १५१-५२,

ये पंक्तियाँ अन्तिमयी प्रतीत होती हैं । किन्तु ‘उर्वशी’ का ‘दिनकर’ इन पंक्तियों की उच्चता तक नहीं उठ सका और नायिका को वह स्थान नहीं दिला सका जो ‘दिनकर’ से अपेक्षित था । ‘कामायनी’ की श्रद्धा का रूप औशीनरी में दृष्टिकोण होता है, उर्वशी में कदापि नहीं । उर्वशी में जो काम-भावना से पीड़ित होकर पृथ्वी पर आती है और समस्त शारीरिक सुखों को भोग कर पुनः स्वर्गलोक चली जाती है, एक आदर्श नारी का स्थान नहीं पा सकती ।

‘दिनकर’ जी ने ‘वट-पीपल’ के एक लेख में भी नारी के प्रांत अपने सुदृढ़ दृष्टिकोण को व्यक्त करने का प्रयास किया है । ‘दिनकर’ जी लिखते हैं—

“प्रचीन और मध्यकालीन संसार नारियों के प्रति अनुदार था । निवृत्ति और भोग, यह दोनों अतिवादी सिद्धान्त हैं, और दोनों अन्ततः अस्वस्थ भावों को जन्म देते हैं । सर्वत्र की भाँति यहाँ भी मध्यम मार्ग स्वास्थ्य का मार्ग है । नारी के गोचर-रूप के भीतर एक और रूप है, जिसका सत्कार किए बिना नारीत्व का सही सत्कार नहीं हो सकता ।”

(‘वट-पीपल’, पृ० ७४)

‘दिनकर’ जी नारी के प्रति स्वीकृत-मत की सीमाओं का निर्देश करते हुए स्पष्ट कहते हैं—

“नारी के समग्र रूप को लेखकों ने शायद, अभी भी पूरा नहीं देखा है, किन्तु उसकी ओर वे पूरी क्षिप्रता से बढ़े हैं। हिन्दी में नारी के अगोचर व्यक्तित्व को छायावादी लेखकों और कवियों ने बहुत दूर तक पहचाना था। किन्तु संस्कार धीरे-धीरे बदलते हैं। अतएव गंगा के कूल पर पहुँच कर भी छायावादियों ने गंगा-स्नान नहीं किया।”

ऐसा प्रतीत होता है कि ‘दिनकर’ जी ने ‘उर्वशी’ में गंगा-स्नान करने का प्रयास किया है। इसी कारण कई साहित्यकारों की नारी-दृष्टि को आलोचित करते हुए वे लिखते हैं—

“रवि बाबू ने एक पात्र से कहला दिया कि नारी केवल सुन्दरता है, केवल चाँदनी और फूल है, उसे भला कर्म-कीर्ति और शिक्षा-दीक्षा की क्या आवश्यकता हो सकती है। और प्रेमचन्द ने यह कहा कि नर याद नारी-गुण सीख ले तो वह देवता हो जाता है। इसी प्रकार ‘प्रसाद’ जी ने ‘कामायनी’ में जिन दो नारी-पात्रों की सृष्टि की, उनमें से श्रद्धा के प्रति तो उनकी सहानुभूति है, किन्तु इड़ा को वे सहानुभूति से नहीं देखते, क्योंकि इड़ा वह नारी है, जिसने पुरुषों के गुण सीखे हैं। इन तीनों कलाकारों की दृष्टि रोमांटिक है। इसीलिए वे पुरुष को धूप और नारी को चाँदनी कहते हैं।”

(‘वट-पीपल’, पृ० ७५)

इन उद्धरणों से यह स्पष्ट होता है कि ‘दिनकर’ जी ने नारी को रोमांटिक दृष्टिकोण से नहीं देखना चाहा। उनका यह प्रयास कुछ हद तक, हमें ‘उजली आग’ में संगृहीत ‘माया की रचना’, ‘नारी की रचि’ और ‘अर्द्धनारीश्वर’ शीर्षक रचनाओं में दृष्टिगोचर होता है। इसके अतिरिक्त ‘दिनकर’ जी कविता में चित्रित नारी और यथार्थ की नारी में भी भेद करते हैं और इस रूप में वह अंग्रेज कवि कीट्स के समीप दिखाई पड़ते हैं, क्योंकि वह भी काव्य-रूप में परिणत प्रत्येक सांसारिक वस्तु को शाश्वत मानता है। ‘दिनकर’ जी लिखते हैं—

“कविताओं में हम जिस नारी का बखान सुनते हैं। वह किसी की भी बेटी, बहन या भार्या नहीं होती। वह तो अनामिका, अशरीरी कल्पना की प्रतिमा है, जिसके श्रृंग पर उम्र के दाग नहीं लगते, जो स्पर्श से परे खड़ी हमारे सपनों पर राज करती हैं। चूँकि वह कोई एक नारी नहीं है, इसीलिए वह सभी नारियों का प्रतिनिधित्व करती है।”

(‘धर्म, नैतिकता और विज्ञान’, पृ० ३२-३३)

इन सब कथनों से ऐसा प्रतीत होता है कि ‘दिनकर’ जी ने नारी पर मनोयोग-पूर्वक चिन्तन-मनन करने की कई बार चेष्टा की है।

उर्वशी में प्रकृति-चित्रण

साहित्य-सृजन की प्रथम वेला से कवि-हृदय प्रकृति-सौन्दर्य से अभिभूत होता रहा है। होमर, वर्जिल, दाँते, चौसर, स्पेंसर, शेक्सपीयर आदि यूरोपियन कवि तथा कालिदास आदि भारतीय कवियों की रचनाओं में प्रकृति महत्वपूर्ण रोल अदा करती है। मानव और प्रकृति सापेक्ष हैं। मानव प्रकृति मय है तथा प्रकृति मानव में रूपायित रहती है, क्योंकि प्रकृति अपने-आपमे जड़ तथा चेतन दो प्रकार के पदार्थों का संघात है और मानव जड़ (भौतिक) तथा चेतन (अभौतिक-आत्मा) पदार्थों का समन्वित साकार रूप है। दूसरे प्रकार से हम कह सकते हैं कि मानव में जड़ तथा चेतन प्रकृति के दोनों ही उपादान समन्वित रूप से विद्यमान रहते हैं और दोनों के अलग-अलग हो जाने से मानव मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। तुलसीदास जी कहते हैं—

क्षिति, जल, पावक, गगन, समीरा ।

पंच रचित अति अधम शरीरा ॥

इसके अतिरिक्त मानव-शरीर के अपार्थिव तत्व के विषय में तुलसीदास जी कहते हैं—

प्रकट सो तनु तब आगे सोवा ।

जीव नित्य केहि लगि तुम रोवा ॥

मानव-शरीर का दूसरा तत्व जीव अथवा आत्मा, अनादि है, चिन्मय तथा चेतन है। यह प्रकृति का चेतन पक्ष है। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि प्रकृति एवं मानव अन्योन्याश्रित हैं तथा एक-दूसरे के प्रतिपादक हैं। यही कारण है कि प्रकृति उषा रूप में मानव को उत्साहित करती है, प्रातः रूप में उसे प्रफुल्लित करती है, दोपहर-रूप में दुर्दमनीयता का पाठ पढ़ाती है, सन्ध्या-रूप में सौम्य बनने की शिक्षा देती है, रजनी-रूप में तारकमणियों से अलंकृत हो रहस्यमयी रमणी का रूप धारण कर लेती है, राका रूप में कीर्ति साका कर जाने को प्रेरित करती है, शशि-रूप में

स्वभाव से शीतल बनने का आग्रह करती है तथा कभी सूर्यरूप में तपने-तमकने का साहस भरती है। इस सब के प्रतिपादन में मनुष्य भी अपनी काव्यात्मक अभिव्यक्तियों में प्रकृति को कभी अलंकृत करता है, कभी रहस्यमयी बनाता है, कभी उद्दीपन रूप में प्रस्तुत करता है, कभी उपदेशिका के रूप में प्रतिष्ठित करता है, कभी पृष्ठभूमि में खड़ा कर देता है, कभी आलम्बनरूप में स्वीकार करता है, कभी प्रतीकात्मक रूप में देखता है तथा कभी मानव-रूप में देखने का उपक्रम रचता है। इसी कारण जीवन और साहित्य दोनों में प्रकृति का महत्वपूर्ण स्थान बन गया है। कला और साहित्य की यह मूल प्रेरणा है और कवि के भाव-स्फुरण की आधारशिला। प्रकृति का ही एक अंश होने के कारण हमें इसके अन्दर अपने भाव जैसे क्रोध, प्रसन्नता, उमंग-उल्लास आदि दिखाई पड़ते हैं। इसके अतिरिक्त का सौन्दर्य शाश्वत है और इसके सौन्दर्य पर मानवीय जगत् की विभीषिकाओं का तत्काल प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता है। अंग्रेज कवि टैनीसन की एक कविता में प्रकृति स्वयं अपनी शाश्वतता को निम्न प्रकार से दिग्दर्शित करती है—

For men may come and men may go,
But I go on for ever.

प्रकृति के इस शाश्वत सौन्दर्य के द्वारा ही अनादि तत्व की रहस्यमयी सत्ता को जानने का कवि व कलाकार प्रयास करते रहे हैं। किन्तु हर किसी के लिए यह सम्भव नहीं है, क्योंकि प्रकृति से सहज एवं अटूट सम्बन्ध स्थापित करने के लिए मानव में सदैव रागात्मिका वृत्ति के रहने की परमावश्यकता है। कवि-हृदय, जो अत्यधिक भावात्मक होता है, बाह्य प्रकृति के साथ, जो रूपात्मक है, तादात्म्य स्थापित करता है। इसके प्रयास से कविता की सृष्टि होती है और सम्पूर्ण अभेदत्व के स्तर पर तादात्म्य हो जाने पर दर्शन का प्रतिपादन होता है। 'प्रसाद' इसी रूप में 'कामायनी' की रचना कर सके, जो एक साथ काव्य भी है और दर्शन भी।

प्रकृति तथा पुरुष के शाश्वत सत्य को 'दिनकर' जी ने 'उर्वशी' काव्य में निम्न प्रकार से चित्रित किया है—

मूढ़ मनुज ! यह भी न जानता, तू ही स्वयं प्रकृति है ?

फिर अपने से आप भाग कर कहाँ त्राण पायेगा ? (पृ० ८१)

पुनः वह लिखते हैं—

अप्रयास अनुभवन प्रकृति का, सहज रीति जीवन की;

क्योंकि प्रकृति औ पुरुष एक हैं, कोई भेद नहीं है।

जो भी हैं अवसर निसर्ग के, ईश्वर के भी क्षण हैं;

धर्म साधना कहीं प्रकृति से भिन्न नहीं चलती है। (पृ० ८३-८४)

इतना ही नहीं, 'दिनकर' जी ने केवल प्रकृति-पुरुष की अभिन्नता को ही नहीं दर्शाया

१२४ उर्वशी : संवेदना और शिल्प

है, अपितु उन्होंने 'उर्वशी' काव्य में प्रकृति को विविध रूपों में प्रस्तुत किया है। यह कहना गलत न होगा कि 'दिनकर' की 'उर्वशी' में प्रकृति भी उर्वशी बन गई है। आदि-काल से अब तक विभिन्न कवियों की रागात्मिका वृत्ति में अनेकरूपता होने के कारण, विभिन्न कवियों की प्रवृत्ति, निरीक्षण और अनुभूति के अनुसार प्रकृति का चित्रण जितने ढंगों से हुआ है, वह सब उर्वशी में विद्यमान है। प्रकृति-चित्रण के भेदोपभेद का वर्गीकरण निम्न प्रकार से है—

१. अलंकरण-रूप में प्रकृति-चित्रण।

२. आलम्बन-रूप में प्रकृति-चित्रण।

(अ) प्रकृति-वर्णन का अनुकरणात्मक अथवा नाद-सौन्दर्य युक्त आलम्बन रूप।

(ब) प्रकृति की गति-विधियों का स्वतन्त्र रूप।

(स) प्रकृति की गन्ध-सुगन्ध का आलम्बन रूप।

(ज) प्रकृति की रूप व्यापकता का स्वतंत्र रूप।

(ह) प्रकृति की स्पर्शजन्य सम्वेदनाओं का आलम्बन रूप।

(य) प्रकृति के विविध वर्ण-रंगों का स्वतन्त्र रूप।

३. उद्दीपन रूप में प्रकृति-निरूपण।

४. उपदेशात्मक रूप में प्रकृति-वर्णन।

५. प्रतीक रूप में प्रकृति-चित्रण।

६. मानवीकरण रूप में प्रकृति-निरूपण।

७. रहस्यात्मक रूप में प्रकृति-वर्णन।

८. वातावरण की सृष्टि अथवा पृष्ठभूमि में प्रकृति-चित्रण।

एक-एक करके हम प्रकृति-वर्णन में इन विभिन्न भेदों का 'उर्वशी' काव्य से दृष्टान्त देकर, विवेचन करने का प्रयास करेंगे। सर्वप्रथम अलंकरण-रूप में प्रकृति-चित्रण को लें तो हमें विदित होता है कि 'दिनकर' जी ने नर-नारी के सौन्दर्य-सम्बद्धन के लिए प्रकृति को अलंकरण-रूप में अनेक स्थलों पर विविध प्रकार से प्रस्तुत किया है। इसके लिए उन्होंने उत्प्रेक्षा, विरोधाभास, मानवीकरण, उपमा तथा अतिशयोक्ति आदि अलंकारों की सहायता ली है। उत्प्रेक्षा के माध्यम से पुरुरवा उर्वशी से बात करते समय अपने पुत्र आयु का वर्णन करता है—

ऊरु-वण्ड परिपुष्ट, मध्य कृश, पृथुल, प्रलम्ब भुजायें,

वक्षःस्थल उन्नत, प्रशस्त कितना सुभध्य लगता था।

उषा-विभासित उदय शैल की, मानो, स्वर्ण शिला हो। (पृ० १३७)

विरोधाभास का सहारा लेकर उर्वशी सुकन्या से चतुर्थ अंक में अपनी वेदना निम्न प्रकार से व्यक्त करती है—

पारिजात-तरु-तले ध्यान में जगी हुयी खोजूंगी ।

उरः देश पर सुखद लक्ष्म प्रियतम के वक्षःस्थल का ।

रोमाञ्चित सम्पूर्ण देह पर चिह्न विगत चुम्बन के । (पृ० १३६)

उर्वशी राजा पुरूरवा के साथ गन्धमादन पर्वत पर बिताये समय की याद में खोई हुई है । उसे राजा से वियोग का खयाल सताता है और हृदय की वेदना का वर्णन करते हुए उसे अपने संयोग के सुखद दिनों की अनायास याद आ जाती है । उन खुशी के दिनों में समस्त प्रकृति उसे खुश दिखाई देती थी । मानवीकरण के सहारे कितना सुन्दर वर्णन बन पड़ा है—

पत्र-पत्र को श्रवण बना अटवी कंसे सुनती थी ।

सूक्ष्म निनाद, चुपचाप, हमारे चुम्बन, कल-कूजन का ।

भ्रुक आती थी, किस प्रकार, डालियाँ हमें छूने को,

शैलराज, मानो सपने में बाँहे बढ़ा रहा हो ।

किस प्रकार विचलित हो उठते थे प्रसून कुंजों के ।

मानो, गन्धपूर्ण साँसों से हमको पी जायेंगे ।

फेन-फेन होती वह उर्मिल हरियाली शिखरों की ।

ज्वार बाँध, किस भाँति, बादलों को छूने उठती थी ?

कैसे वे तटिनियाँ उछलती हुई सुढाल शिला पर ।

हमें देख चलने लगती थीं और अधिक इठला कर । (पृ० १२६)

इन पंक्तियों के पढ़ने के पश्चात् हमें अंग्रेज कवि कालरिज की 'डिजैक्शन : ऐन ओड' में लिखी निम्न पंक्तियों का ध्यान आता है जिनमें कवि प्रकृति में मानव के हृदय का प्रतिबिम्ब देखता है—

O Lady ! We receive but what we give,

And in our life alone does nature live :

Ours is her wedding-garment, Ours her shroud ?

And would we aught behold; of higher worth,

Than that inanimate cold world allowed

To the poor loveless ever-anxious crowd

Ah ! from the soul itself must issue forth

A light, a glory, a fair luminous cloud

Enveloping the Earth—

And from the soul itself must there be sent

A sweet and potent voice, of its own birth,

Oh all sweet sound the life and element !

इसी प्रकार उपमा अलंकार की मदद से प्रकृति से सुन्दर उपमान लेकर

‘दिनकर’ जी उर्वशी और पुरूरवा के शरीर-सौन्दर्य तथा प्रेम-वैभव का आकर्षक वर्णन करते हैं। उर्वशी प्रथम बार जब राजा के समक्ष विटप-कुंज से निकल कर आती है—

प्रकटी जब उर्वशी चाँदनी में द्रुम की छाया से,
लगा, सर्प के मुख से जैसे मणि बाहर निकली हो,
याकि स्वयम् चाँदनी स्वर्ण-प्रतिमा में आन ढली हो,
उतरी हो धर देह स्वप्न की विभा प्रमद-उपवन की। (पृ० ३०)

पुरूरवा के समक्ष उर्वशी आत्म-समर्पण कर देती है। प्रेम के वशीभूत हो वह कहती है—

मैं दो विटपों के बीच मग्न नहीं लतिका सी सो जाऊँ,
छोटी तरंग-सी टूट उरस्थल के महीध्र पर खो जाऊँ।
आ मेरे प्यारे तृषित ! आंत अंतःसर में मज्जित करके।
हर लूंगी मन की तपन चाँदनी, फूलों से सज्जित करके,
रसमयी मेघमाला बन कर मैं तुझे घेर छा जाऊँगी,
फूलों की छाँह-तले अपने अधरों की सुधा पिलाऊँगी। (पृ० ५७)

पुरूरवा भी प्रकृति से सुन्दर-सुन्दर उपमान चुनकर अपने प्रेम को प्रदर्शित करता है। उर्वशी के प्रेमाकर्षण के कारण वह कहता है—

मैं तुम्हारे बाण का बीधा हुआ खग,
वक्ष पर धर सीस मरना चाहता हूँ।
मैं तुम्हारे हाथ का लीला-कमल हूँ।
प्राण के सर में उतरना चाहता हूँ। (पृ० ५४)

उर्वशी के सम्पर्क में आने के पश्चात् पुरूरवा की स्थिति कुछ इस प्रकार की हो गई है—

खड़ा सिहरता रहता मैं आनंद-विकल उस तरह सा,
जिसकी डालों पर प्रसन्न गिलहरियाँ किलक रही हों,
या पत्तों में छिपी हुई कोयल कूजन करती हो। (पृ० ४३)

महर्षि च्यवन भी उपमानों की तलाश प्रकृति में करते हैं, और उनकी मदद से प्राप्ति होने वाले यौवन की कल्पना करते हैं—

शुभे तपस्या के बल से यौवन मैं ग्रहण करूँगा।

प्रौढ़ मेघ, पादप नवीन, मदकल, किशोर कुँजर-सा। (पृ० ११२)

इसी भांति अतिशयोक्ति का भी उपयोग किया गया है। पुरूरवा उर्वशी को देखने बाद व्याकुल हैं। वह उसके सौन्दर्य की कल्पना मन ही मन करते हैं। प्रेमी अपने प्रेमिका के सौन्दर्य का अतिशयोक्ति के माध्यम से ही वर्णन करता है। पुरूरवा कहते हैं—

तन-प्रकान्ति मुकुलित अनन्त ऊषाओं की लाली-सी,
नूतनता सम्पूर्ण जगत् की सञ्चित हरियाली-सी ।
पग पड़ते ही फूट पड़ें विद्रुम-प्रवाल धूलों से,
जहाँ खड़ी हो, वहाँ, व्योम भर जाय श्वेत फूलों से । (पृ० २४)

इसके पश्चात् हम आलम्बन रूप में वर्णित प्रकृति के चित्रों पर विचार करेंगे । 'आलम्बनो नायिकादिस्तमालम्ब्य रसोद्गमात् ।' इसका तात्पर्य है कि "जिस व्यक्ति अथवा वस्तु के कारण नायक आदि में कोई भाव जाग्रत होता है, उस व्यक्ति अथवा वस्तु को उस भाव का आलम्बन विभाव कहते हैं । आलम्बन विभाव ही वास्तविक रसभूमि है । इसके बिना काव्य-रचना और काव्यास्वाद दोनों ही असम्भव हैं ।" आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तो "आलम्बन मात्र के विशद वर्णन में श्रोता में रसानुभव कराने की पूर्ण सामर्थ्य" मानते थे । यदि कवि ने प्रकृति का स्वयम् ही अवलोकन नहीं किया तो प्रकृति के अन्य प्रयोगों में भी उसकी कमी झलक जायेगी । प्रकृति-वर्णन के ये रूप अपने-आपमें स्वतन्त्र होते हैं, नित नवीनता से पूर्ण होने पर भी निरपेक्ष रहते हैं, मानव-सम्पर्क से पूर्णतः अप्रभावित रहते हैं । इसी कारण इस प्रकार का प्रकृति-वर्णन काव्य-शास्त्रीय भाषाओं में 'स्वतन्त्र रूप में प्रकृति वर्णन' कहलाता है । इस रूप में प्रकृति का वर्णन करने पर कवि की दो स्थितियाँ होती हैं—

१—प्रकृति के प्रति उन्मुक्त प्रेम-भाव की व्यंजना ।

२—प्रकृति का शब्द-चित्रण ।

आलम्बन-रूप में प्रकृति के दृश्य-चित्रण के छः रूप पाये जाते हैं । उर्वशी काव्य में इन सभी के उदाहरण मिल जाते हैं—

(अ) प्रकृति का अनुरणनात्मक अथवा नाद-सौंदर्ययुक्त आलम्बन रूप—प्रकृति स्वतः संगीतमयी है । वह स्वयम् में एक प्रकृष्ट संगीत-शाला है, जिसमें नितनूतन नाद निनादित होता रहता है, अनुरणनात्मक ध्वनियाँ गूँजती रहती हैं और प्रकृति के सम्पर्क में आया प्रत्येक सहृदय मानव सहज संगीत की अनुभूति से आह्लादित हो उठता है । भाव जगत का प्राणी कवि जब प्रकृति की ओर उन्मुख होता है तो उसे चारों ओर नाना प्रकार की ध्वनियाँ सुनाई देती हैं, जैसे पक्षियों का कल-कल, भ्रमरों का गुञ्जार, लहरों की कल-कल, वृक्षों का मर्मर स्वर आदि... 'दिनकर' जी भी प्रकृति की इन अनुरणनात्मक ध्वनियों से आप्लावित हुए हैं और उन्हें शब्द-रूप देने में पूर्णतः सफल हुए हैं । उदाहरण के लिए उर्वशी के प्रथम अंक में जब असरायें नुपूरों को भङ्कृत करती हुई पृथ्वी पर उतरती हैं तो नटी उस दृश्य का वर्णन निम्न-प्रकार से करती है—

शांति, शांति सब ओर, किंतु यह क्वणन-क्वणन-स्वर कैसा ?

अतल व्योम-उर में ये कैसे नूपुर झनक रहे हैं ?

शब्दों से ध्वनि प्रकट करने में अंग्रेज कवि टनीसन की समता कम ही कवि कर सकते हैं। 'ओनोमेटोपी' में वह अद्वितीय हैं। किन्तु उपरोक्त पंक्तियाँ टनीसन की किन्हीं पंक्तियों की अपेक्षा कम श्रेष्ठ नहीं है। चतुर्थ अंक में एक और बहुत सुन्दर स्थल है जहाँ नाद-व्यंजना मिलती है। उर्वशी इस पृथ्वी को छोड़कर स्वर्ग जाने के विषय में सोचती है। उसे पृथ्वी से अत्यधिक लगाव है अतः उसके हृदय में एक वेदना है और वह पृथ्वी के बारे में सोचकर परेशान हो उठती है।

भलमल-भलमल सरित्सलिल वह ऊषा की लाली से,
शस्यों पर बिछली-बिछली आमा बहरजत-किरण की,
चहक-चहक उठना वह विहगों का निकुंज-पुँजों में,
स्वर्गवासिनी में, श्रद्धा से नमस्कार करती हूँ
अविनश्वर सौंदर्यपूर्ण नश्वर इस महा मही को (पृष्ठ १२५)

इस प्रकार के अनेक उदाहरण हैं जिनसे स्पष्ट होता है कि 'दिनकर' जी ने अनुरणनात्मक शब्दों द्वारा प्रकृति का सजीव एवं मनोहारी वर्णन किया है।

(ब) प्रकृति की गतिविधियों का स्वतंत्र रूप—इसमें कवि वस्तु-व्यापारों की सूक्ष्म गतिविधि का ऐसा अंकन करता है जिससे उसकी दृष्टि की निकटदर्शिता सूचित हो। प्रकृति वस्तुतः अपने-आपमें एक प्रकृष्ट कृति है। अतः वह अपने अन्तर-प्रांगण में आए मानव को अपनी विविध गतिविधियों की विपुल वीथिकाओं में ले जाकर कभी विश्राम कराती है, कभी उसे मन्त्र-मुग्ध कर निरीक्षण निमग्न कर देती है। जब तक प्रकृति के प्रति राग नहीं होता, तब तक यह कार्य सम्भव नहीं। कल्पनालोक के कमनीय कान्त कवि को प्रकृत प्रेयसी के कार्य-व्यापार न केवल अतीवानन्द की अनुभूति कराते हैं, अपितु इतना आत्मविभोर कर देते हैं कि कवि उन्हें शाश्वत रूप प्रदान करने के लिए शब्दों में रूपायित करने बैठ जाता है। उर्वशीकार कवि 'दिनकर' के ऐसे साँगोपाग वर्णन भी द्रष्टव्य हैं। उदाहरण के लिए निशानिरूपण का चित्र प्रस्तुत है—

ऋक्ष कल्प भिलमिल भावों का, चंद्रलिंग स्वप्नों का
दिवस शत्रु, एकांत यामिनी धात्री है, माता है।
आती जब शर्वरी, पोंछती नहीं विश्व के सिर से
केवल तपन-चिन्ह, केवल लांछन सफेद किरणों के,
श्रमहारी, निर्मोघ, शांतिमय अपने तिमिरांचल में,
कोलाहल, कर्कश निनाद को भी समेट लेती है। (पृ० ६७)

इन पंक्तियों में 'दिनकर' जी की 'निशा' के प्रति निकट दर्शिता प्रकट होती है।

(स) प्रकृति की गंध-मुग्ध का आलम्बन रूप—शायद दिनकर जी की घ्राण-सम्बेदनशीलता अधिक तीव्र नहीं थी। इस क्षेत्र में अंग्रेज कवि शेक्सपीयर और संस्कृत कवि कालिदास अद्वितीय हैं। प्रकृति के अनन्त अवयव तथा अनेकानेक उपा-

दान अपनी-अपनी गन्ध-सुगन्ध से मानव को सम्वेदनशील बनाते हैं। कालिदास-साहित्य सुखद-सानंद माटी की महक, प्रथम वर्षा के अनन्तर जुती जमीन से उद्भूत सौंधी-सौंधी गन्ध, सावन भादों की असह्य धूप से विह्वल वन-प्रान्तर की लता-पता से आती मादक गन्ध-सुगन्ध, प्रातःकालीन पवन एवं उसमें सन्निहित सुमन-सुरभि आदि सुन्दर प्राकृतिक गन्धों के वर्णनों से भरा पड़ा है। 'दिनकर' जी का ध्यान इस ओर अधिक नहीं गया है। किन्तु कहीं-कहीं 'उर्वशी' में इस प्रकार के काफी सुन्दर वर्णन दृष्टि-गोचर होते हैं। कहीं-कहीं पुष्पों की सौरभ का बड़ा सुन्दर वर्णन मिलता है। पुरुरवा कहता है—

इन प्रफुल्लित प्राण-पुष्पों में मुझे शाश्वत शरण दो,
गंध के इस लोक से बाहर न जाना चाहता हूँ। (पृष्ठ ५५)

उर्वशी भी पृथ्वी की गन्ध से आकर्षित हो स्वर्ग को छोड़ आयी है—

मैं इसी अगुरु की ताप-तप्त, मधुमयी गंध पीने आयी,
निर्जीव स्वर्ग को छोड़ भूमि की ज्वाला में जीने आयी। (पृष्ठ ५६)

(ज) प्रकृति की रूप व्यापकता का स्वतंत्र रूप—प्रकृति अपनी आकार विषयक असीमता वपु विषयक व्यापकता एवं विस्तार-विषयक सार्वभौमिकता से मानव-दर्शक को आश्चर्यचकित कर देती है और उसमें अपने प्रति औत्सुक्य को उद्भूत करती है। प्रकृति के रूप-विस्तार के लिए कवि ने प्रकृति के अन्तस् के गहन ज्ञान से युक्त होना अति आवश्यक कहा है। रूप-विस्तार में पर्वत, भूमि, मैदान, कुज, पेड़, पौधे, लता-पत्र, छाया, समुद्र, भील, नदियां आकाश, मेघ, विजली, सूर्य, चन्द्रमा, उषा, सन्ध्या, इन्द्रधनुष आदि के चित्र सम्मिलित हैं। इन प्राकृतिक दृश्यों का कवि केवल उल्लेख मात्र नहीं करता अपितु कल्पना के माध्यम से उसमें कमनीयता पैदा करता है। इस क्षेत्र में अंग्रेज कवि वर्ड्सवर्थ अपना सानी नहीं रखता। 'दिनकर' जी ने भी प्रकृति के इस रूप-विस्तार का 'उर्वशी' में अत्यन्त ही सहज, मनोरम एवं सजीव वर्णन किया है। प्रथम अंक में परियां सुन्दर गीत गाती हैं—

फूलों की नाव बहाओ री, यह रात रुपहली आयी।

फूटी सुधा-सलिल की धारा,

डूबा नभ का कूल-किनारा,

सजल चाँदनी की सुमंद लहरों में तैर नहाओ री।

...

...

...

(पृ० ८)

इसी स्वर को आगे बढ़ाते हुए रम्भा गाती है—

दूर-दूर तक फैल रही दूबों की हरियाली है,

बिछी हुई इस हरियाली पर शबनम की जाली है।

जी करता है, इन शीतल बूँदों में खूब नहायें।

(पृ० ९)

‘उर्वशी’ काव्य का आरम्भ प्राकृतिक सुषमा के साथ हुआ है। इससे पाठक को काव्यान्तर्गत प्रकृति के महत्व की सूचना मिलती है। प्रथम अंक में प्रकृति की सुषमा चित्रित है; चन्द्र की रश्मियों की धवल ज्योत्सना भी विभासित हो रही है, किन्तु इस सबका रूप है मद-विह्वल कामना का। उसका तात्पर्य सूक्ष्म भावों की ओर इंगित करता है और इसके माध्यम से पुरुरवा-उर्वशी की आगामी कोमल भावनाओं की अभिव्यक्ति होती है। नटी गाती है—

इन द्वीपों के बीच चन्द्रमा मन्द-मन्द चलता है,
मंद-मंद चलती है नीचे वायु आंत मधुवन की;
मद-विह्वल कामना प्रेम की, मानो, अलसायी-सी
कुसुम-कुसुम पर विरम मंद मधु-गति में घूम रही हो। (पृ० ५)

मन्द गति से प्रवाहित वायु के लिए कवि एक विचित्र कल्पना करता है। यह पुष्प-पुष्प पर विरमने और प्रेम की एक मद-विह्वल कामना से प्रकट होती है। यह इतनी चित्ताकर्षक शोभा है कि आकाश भी पृथ्वी को आलिंगन में भरने हेतु उस पर झुक आया प्रतीत होता है। सूत्रधार कहता है—

सारी देह समेट निबिड़ आलिंगन में भरने को
गगन खोलकर बाँह विसुध वसुधा पर झुका हुआ है। (पृ० ५)

सूत्रधार कहता है कि पृथ्वी पर तो वसन्त की कुसुम-विभा व्याप्त है और गगन में द्वादशी के चन्द्रमा की चादनी छिटक रही हैं। विस्तृत नीलिमा पर विकीर्ण तारे नीलाम्बर पर जटित रजत तारक-से चमक रहे हैं। कवि फिर कल्पना करता है और कहता है कि अपार प्रशान्त पारावार में पग-पग पर ज्योति के निकले हुए द्वीप-से प्रतीत हो रहे हैं—

नीचे पृथ्वी पर वसंत की कुसुम प्रभा छायी है,
ऊपर है चन्द्रमा द्वादशी का निर्मोघ गगन में।
खुली नीलिमा पर विकीर्ण तारे यों दीप रहे हैं,
चमक रहे हों नील चीर पर बूटे ज्यों चाँदी के;
या प्रशांत, निस्सीम जलधि में जैसे चरण-चरण पर,
नील वारि को फोड़ ज्योति के द्वीप निकल आये हों (पृ० ५)

इन पंक्तियों में तारों में ज्योति के द्वीपों का आरोप बड़ा आकर्षक प्रतीत होता है। तथा उद्भावना पूर्णरूपेण मौलिक है। आगे कौमुदी में चमकती प्रशान्त पृथ्वी को दर्पण में प्रतिबिम्बित-सा दिखाया गया है तथा चारों ओर फैली निस्तब्धता को देखकर उत्प्रेक्षा की गई है कि मानो ज्योत्सना-मुकुर में प्रकृति अपनी शोभा को देखकर मुग्ध हो गई है—

स्वच्छ कौमुदी में प्रशांत जगती यों दमक रही है,
सत्यरूप तजकर जैसे हो समा गयी दर्पण में।

शांति-शांति सब ओर, मञ्जु मानो चंद्रिका मुकुर में
प्रकृति देख अपनी शोभा अपने को भूल गयी हो । (पृ० ६)

इस प्रकार हमें प्रकृति की रूप व्यापकता का आलम्बन रूप काव्य के प्रारम्भ में ही दृष्टिगोचर हो जाता है । इसी भांति आलम्बन के रूप में द्वितीय तथा तृतीय अंक में गन्धमादन पर्वत का वर्णन मिलता है । द्वितीय अंक में परोक्ष रूप से कंचुकी के सम्बादों में और तृतीय अंक में स्वयं नायिका-नायक के सम्बादों में प्रत्यक्ष रूपसे यह वर्णन उपलब्ध है । द्वितीय अंक में कंचुकी राजा का सन्देश महारानी औशीनरी को देते हुए गन्धमादन का वर्णन निम्न प्रकार से करता है—

पवन स्वास्थ्यदायी, शीतल, सुस्वादु यहाँ का जल है,
भीलों में, बस, जिधर देखिए, उत्पल ही उत्पल है ।
लम्बे-लम्बे चीड़ ग्रीव अम्बर की ओर उठाए
एक चरण पर खड़े तपस्वी-से हैं ध्यान लगाये ।
दूर-दूर तक बिछे हुए फूलों के नन्दन-वन हैं,
जहाँ देखिए, वहीं लता-तरुओं के कुंज-भवन हैं ।
शिखरों पर हिम-राशि और नीचे झरनों का पानी
बीचों-बीच प्रकृति सोयी है ओढ़ निचोली धानी । (पृ० ३६)

तृतीय अंक में गन्धमाधन पर रात्रि के पश्चात् सूर्योदय का वर्णन है । यहाँ प्रकृति-वर्णन को एक व्यतीत हुए अन्तराल का बोध कराने तथा उर्वशी पुरुषा के संयोग में आने वाले व्यवधान का संकेत देने के लिए, माध्यम बनाया गया है । यही कारण है कि कठोर पर्वत-शिला-शिखर भी सूर्य की लाल लाल किरणों से बिंध गये हैं—

चन्द्रमा चला, रजनी बीती, हो गया प्रातः
पर्वत के नीचे से प्रकाश के आसन पर
आ रहा सूर्य फेकते बाण अपने लोहित,
बिंध गया ज्योति से, वह देखो, अरुणाभ शिखर ।

इन दृष्टान्तों से स्पष्ट होता है कि इस रूप में प्रकृति का चित्रण यद्यपि अल्प ही हुआ है तथापि बड़ा ही सरस, भौतिक एवं अनूठा है । कवि ने प्रकृति-अवयवों का परिगणन मात्र नहीं किया, अपितु अपनी सूक्ष्म कल्पना के माध्यम से कमनीयता पैदा की है; उनको भावों के रंगों तथा कला की तूलिका द्वारा नए रंग दिए हैं ।

(ह) प्रकृति की स्पर्शजन्य सम्बेदनाओं का आलम्बन रूप—त्वचा के माध्यम से उपलब्ध सुखद अनुभूतियाँ सम्बेदनशील कवि-हृदय को उद्बेलित कर देती हैं और अद्भुत आनन्द की सृष्टि करती हैं । 'शरद-शशि की रश्मियाँ, शीतकाल की दोपहरी की सुखद धूप, प्रातः पवन, श्याम सलोनी छाया व कनक-किरण आदि के स्पर्श पुलका-कुल करने वाले होते हैं ।' 'दिनकर' जी का हृदय भी इस प्रकार के स्थलों पर आत्म-

विभोर हुआ है और एतद् विषयक वर्णनों में खूब रमा है। उदाहरणार्थ, उन्होंने चाँदनी रात का कितना गहरा सम्वेदनपूर्ण स्पर्श किया है—

मुदित चाँद की अलकें चूमो,
तारों की गलियों में घूमो।
भूलो गगन-हिंडोरे पर किरणों के तार बढ़ाओ री।
यह रात रुपहली आयी।

(पृ० ८)

(घ) प्रकृति के विविध वर्णनों अथवा रंगों का स्वतन्त्र रूप—कवि स्वभाव से प्रकृति के सौन्दर्य का प्रेमी होता है। वह प्रकृति-प्रेमिका को विभिन्न वर्णों या रूप-रंगों में देखता और सजाता है। इस प्रकार के चित्रण में कवि की भावना सूक्ष्म से सूक्ष्मतर हो जाती है रंगों का स्थूल रूप ही चित्रित करना कवि के लिए पर्याप्त नहीं है अपितु जिनकी दृष्टि सूक्ष्म रूप धारण कर रंगों के विभिन्न भेद-प्रभेदों छायाओ व मिश्रणों को टटोल कर ढूँढ निकालती है वे अधिक सच्चे कवि कहलाते हैं। प्रकृति में नीला, लाल, बैंगनी, हरा, नारंगिया और पीला रंग अधिक आकर्षक और सजीव लगता है। प्रकृति के इस प्रकार के रमणीय रूपों, चित्ताकर्षक रंगों के स्थूल एवं सूक्ष्म चित्रण के साथ-साथ उनके विभिन्न भेदों के सावयव सहज स्वाभाविक तथा सजीव वर्णन 'दिनकर' जी के 'उर्वशी' काव्य में यत्र-तत्र देखे जा सकते हैं। उदाहरणार्थ पुरू-रवा उर्वशी के सौन्दर्य का चित्रण करते हुए कहते हैं—

एक मूर्ति में सिमट गयीं किस भाँति सिद्धियाँ सारी ?

कब था ज्ञात मुझे, इतनी सुन्दर होती है नारी ?

लाल-लाल वे चरण कमल से, कुंकुम-से जावक से।

तन की रक्षितम कान्ति शुद्ध, ज्यों धुली हुई पावक से।

जग भर की माधुरी अरुण अधरों में धरी हुई-सी,

आँखों में वारुणी-रंग निद्रा कुछ भरी हुई-सी।

तन प्रकान्ति मुकुलित अनन्त ऊषाओं की लाली-सी,

नूतनता सम्पूर्ण जगत् की संचित हरियाली-सी।

पग पड़ते ही फूट पड़ें विद्रुम-प्रवाल धूलों से,

जहाँ खड़ी हो, वहाँ व्योम भर जाय श्वेत फूलों से। (पृ० २४)

✓३. उद्दीपक रूप में प्रकृति-निरूपण—उद्दीपन के रूप में प्रकृति का प्रयोग एक अत्यन्त व्यापक प्रयोग है। 'इसमें कवि का प्रकृति के प्रति स्वतन्त्र अनुराग व्यक्त न होकर मानव-सापेक्ष रूप ही प्रकट होता है, प्रकृति मानव के सुख में सुखी व दुःख में दुखी दिखाई जाती है। उद्दीपन-रूप में प्रकृति जड़ भी हो सकती है और चेतन भी।' उद्दीपक रूप में प्रकृति-वर्णन करते समय कवि प्रकृति से तटस्थ होकर उसके प्रति स्वतन्त्र अनुराग की अभिव्यक्ति न कर, प्रकृति का आत्मनिष्ठ (Subjective) तथा स्वानुभूति पक्ष प्रस्तुत करता है और इस प्रकार प्रकृति-वर्णन मानव-सापेक्ष बनकर

प्रकट होता है। इस रूप में प्रकृति मानव की सुख-दुख की सहयोगिका के रूप में सर्वत्र एवं सदैव साथ साथ रहती है।

‘उर्वशी’ काव्य में उद्दीपक रूप में प्रकृति-वर्णन अनेक स्थलों पर हुआ है। अधिकतर वर्णन चन्द्र, रात्रि, तारे, लताओं एवम् गन्धमादन से ही सम्बन्धित है। काव्य के प्रारम्भ में ही द्वादशी का चन्द्र चमकता दिखाया गया है। यह अप्सराओं को गाने लिए उद्दीप्त करता है। ये अप्सरायें चन्द्र-किरणों की लहरों में स्नान करना चाहती हैं, उन अलकों का चुम्बन कर तारक-वीथियों में भ्रमण करना चाहती हैं, रश्मि-रञ्जुओं की पेंग लेती हुई गगन-हिडोरे में भूलने की इच्छुक है—

फूलों की नाव बहाओ री, यह रात रूपहली आयी।

फूटी सुधा-सलिल की धारा,

डूबा नभ का कूल-किनारा,

सजल चाँदनी सी सुमन्द लहरों में तैर नहाओ री।

वह रात रूपहली आयी। (पृ० ८)

इसके आगे अंक के अन्त में सभी अप्सरायें पुनः समवेत गान गाती हुई गगन से बर-सती हुई मधु-धार का पान करना चाहती हैं। उनकी कामना है चन्द्र-विभा का आलिंगन कर मधुमय अतल वाले अनन्त रसमय सागर की फेनिल तरंगों में बार-बार निमग्न हो जाने की—

बरस रही मधुधार गगन से, पीले यह रस रे !

उमड़ रही जो विभा, उसे बढ़ बाँहों में कस रे !

इस अनन्त रसमय सागर का अतल और मधुमय है,

डूब-डूब फेनिल तरंग पर मान नहीं बस रे !

दिन की जैसी कठिन धूप, वैसा ही तिमिर कुटिल है,

रच रे, रच झिलमिल प्रकाश, चाँदनियों में बस रे ! (पृ० २६)

तृतीय अंक में नक्षत्रों का वर्णन बड़ा आकर्षक है। यहां कवि ने उद्भावनाओं और उत्प्रेक्षाओं का बड़ा नूतन प्रयोग किया है। एक स्थल पर पुरूरवा पार्थिव शरीर के आलिंगन-परिरम्भण का मोह त्याग कर ऊर्ध्व लोक में उठना चाहते हैं। उर्वशी को यह असहनीय हो जाता है। अतः वह प्रकृति के रमणीय रूप के वर्णन के माध्यम से पुरूरवा को अपनी ओर आकर्षित करती है ताकि वह उसे आलिंगन पाश में आबद्ध कर अतीवानन्द के अद्भुत-लोक में विचरण कर सके—

ना, यों नहीं, अरे, देखो तो उधर, बड़ा कौतुक है,

नगपति के उत्तुंग, समुज्ज्वल, हिम-भूषित श्रृंगों पर।

कौन नई उज्ज्वलता की तूली-सी फेर रहा है ?

कुछ वृक्षों के हरित मौलि पर, कुछ पत्तों से छनकर

छाँह देख नीचे मृगांक की किरणें लेट गई हैं। (पृ० ६५-६६)

चारों ओर फैली हुई चन्द्रिका में ऐसा प्रतीत होता है मानो दिग्बधुओं के आनन पर कर्पूर-धूलि दमक रही है या रजनी के अंगों पर कोई चन्दन का लेपन कर रहा है—

दमक रही कर्पूर-धूलि दिग्बधुओं के आनन पर;

रजनी के अंगों पर कोई चन्दन लेप रहा है ।

यह अधित्यका दिन में तो कुछ इतनी बड़ी नहीं थी ।

अब क्या हुआ कि यह अनन्त सागर समान लगती है ?

कम कर दी दूरता कौमुदी ने भू और गगन की ?

उठी हुई-सी मही, व्योम कुछ झुका हुआ लगता है ! (पृ० ६६)

उर्वशी के इन शब्दों को सुनकर पुरूरवा उल्लासित हो उठते हैं । उनको ऐसा प्रतीत होता है मानो समस्त आकाश शान्त सुपमा से भर गया है और चन्द्रमा शुद्ध, शीतल एवम् निष्पाप हृदय के समान दमक रहा है—

चमक रहा चन्द्रमा शुद्ध, शीतल, निष्पाप हृदय-सा ।

विस्मृतियाँ निस्तल समाधि से बाहर निकल रही हैं;

लगता है, चन्द्रिका आज सपने में घूम रही है ।

और गगन पर जो असंख्य आग्नेय जीव बैठे हैं,

लगते हैं धुँधले अरण्य में हीरों के कूपों-से

चन्द्रभूति-निर्मित हिमकण ये चमक रहे शाद्वल में ?

या नभ के रंघ्रों में सित पारावत बैठ गए हैं !

कल्पद्रुम के कुसुम, या कि ये परियों की आँखें हैं ? (पृ० ६६)

इसके पश्चात् उर्वशी राजा की उद्भावनाओं का निराकरण करती हुई नवीन उद्भावनायें करती है । वह कहती है कि ये नील गगन में जो दमक रहे हैं वे कल्पद्रुम के कुसुम नहीं हैं और न परियों के नयन हैं । उर्वशी कल्पना करती है कि ये तो दीप्तिमान श्मश्रुमय देवों के चेहरे हैं—

कल्पद्रुम के कुसुम नहीं ये, न तो नयन परियों के,

ये जो दीख रहे उजले-उजले से नील गगन में,

दीप्तिमान, सित शुभ्र श्मश्रुमय देवों के आनन हैं । (पृ० ६७)

इन समस्त वर्णनों में अनेक अलंकारिक उक्तियाँ द्रष्टव्य हैं । इनमें से नवीन उपमायें उत्प्रेक्षायें और सन्देह अति आकर्षक बन पड़े हैं । इस चन्द्र-तारक वर्णन के पश्चात् राजा पुरूरवा रात्रि का वर्णन करते हैं । वह रात्रि को एक धात्री के सदृश मानते हैं जो संसार की तपन को दूर कर दिवागत कर्कश निनाद को शान्त कर देती है । 'दिनकर' जी को रात्रि-तमस दिवा प्रकाश की अपेक्षा कहीं अधिक शान्तिप्रद प्रतीत होता है क्योंकि दिन में हृदय कोलाहलपूर्ण रहता है जबकि निशा में ऐसा नहीं होता निशा एक ओर योग-जागृति का क्षण है तो दूसरी ओर भोगियों का प्रणय-काल भी

है। रात्रि की शीतलताओं में राजा अपने मुकुटों को और बन्दी अपनी शृंखलाओं को भूल जाते हैं—

समतामयी उदार शीतलांचल जब फैलाती है,
जाते भूल नृपति मुकुटों को, बंदी निज कड़ियों को;
जग भर की चेतना एक होकर अशब्द बहती है
किसी अनिर्वचनीय, सुखद माया के महावरण में। (पृ० ६८)

गन्धमादन पर्वत का वर्णन भी तीसरे और चौथे अंक में उद्दीपन रूप में किया गया है। तीसरे अंक के अन्त में सम्पूर्ण वर्ष अभिसार करने के पश्चात् उर्वशी वियोग से पहले बीते हुए मादक क्षणों को याद करती है और कहती है—

कितना अपार सुख था, बैठे चट्टानों पर
हम साथ-साथ झरनों में पाँव भिगोते थे,
तर तले परस्पर बाँहों को उपधान बना
हम किस प्रकार निश्चिन्त छाँह में सोते थे। (पृ० १०२)

पर्वत की मादकता उसे एक बार पुनः अभिसार करने को प्रेरित करती है—

जाने से पहले चलो, आज जी खोल मिलें
निर्झरी, लता, फूलों की डाली-डाली से,
पी लें जी भर पर्वत पर का नीरव प्रकाश,
लें सींच हृदय भूमती हुई हरियाली से। (पृ० १०२)

चौथे अंक में गन्धमादन अटवी का चित्रण बड़ा आकर्षक बन पड़ा है। उर्वशी को यह विचार कि उसे स्वर्ग लौटकर जाना होगा बहुत अधिक वेदना पहुँचाता है। वह पृथ्वी के सौन्दर्य को और विशेषकर गन्धमादन के आकर्षक वातावरण को याद कर भावविभोर हो उठती है। महर्षि च्यवन की पत्नी सुकन्या से वह कहती है—

यह धरती, यह गगन, मृगों से भरी, हरी अटवी यह,
ये प्रसून, ये वृक्ष स्वर्ग में बहुत याद आयेगे।
झलमल झलमल सरित्सलिल वह ऊषा की लाली से,
शर्यों पर बिछली-बिछली आभा वह रजत-किरण की,
चहक-चहक उठना वह विहंगों का निकुंज-पुँजों में,
स्वर्ग-वासिनी में, श्रद्धा से, नमस्कार करती हूँ,
अविनश्वर सौन्दर्यपूर्ण नश्वर इस महा मही को।
कितना सुख ? कितना प्रमोद ! कितनी आनन्द-लहर है
कितना कम स्वर्गीय स्वयं सुरपुर है इस वसुधा से। (पृ० १२५)

तृतीय अंक में एक स्थल पर पावस के उपरान्त शरद् की स्वच्छ नीलिमा में उर्वशी को चन्द्रमा-सी बताते हुए शरद् का संक्षेपतः उद्दीपक वर्णन निम्न प्रकार से किया गया है—

वह अम्बर जिसके जीवन का पावस उतर चुका है,
चमक रही है धुली हुई जिसमें नीलिमा शरद् की ।
वह निरभ्र आकाश, जहाँ, सत्य ही, चन्द्रमा-सी तुम,
तैर रही हो अपने ही शीतल प्रकाश प्लावन में,
किरण रूप से मुझे समाहित किए हुए अपने में । (पृ० ६२-६३)

४. उपदेशात्मक रूप में प्रकृति-वर्णन—कवियों ने प्रकृति को केवल मानव के सुख-दुख की सहचरी के रूप में ही नहीं चित्रित किया है अपितु उसको उन्होंने उप-देशिका और मार्ग-दर्शिका भी माना है । अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि वर्ड्सवर्थ ने तो प्रकृति को ही मानव की वास्तविक शिक्षिका के रूप में व्यापक ढंग से दिखाया है । उदाहरणार्थ—

One impulse from the vernal wood
May teach you more of man
Of moral evil and of good
Than all the sages can.

फ्रांस के दार्शनिक रूसो ने यूरोप में १८ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में यह घोषणा की कि मानव का सहज और सही विकास प्रकृति की गोद में ही सम्भव है । मनुष्य को क्या करणीय है और क्या अकरणीय, इसका सभी बोध प्रकृति कराती है । किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रकृति से हमें एक विज्ञान के वेत्ता जैसा उपदेश प्राप्त होता है । इसके विपरीत प्रकृति का उपदेश उसके उपकरणों के माध्यम से एक व्यापक वातावरण के रूप में प्रस्तुत होता है, जो अपने आप में अत्यधिक सशक्त, प्रभावशाली और स्थायी होता है । 'दिनकर' जी के उर्वशी काव्य में प्रकृति का उपदेशात्मक रूप अत्यन्त सफल रूप से चित्रित किया गया है । कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं । द्वितीय अंक में मदनिका कहती है—

जितना ही जो जलधि रत्न-पूरित, विक्रान्त, अगम है,
उसकी बाढ़वाग्नि उतनी ही अविश्रान्त दुर्दम है ।
बन्धन को मानते वही, जो नद, नाले, सोते हैं,
किन्तु- महानव तो, स्वभाव से ही, प्रचण्ड होते हैं । (पृ० २८)

इसी प्रकार का प्रकृति का उपदेशात्मक रूप हमें तृतीय अंक में उपलब्ध होता है । उर्वशी पुरूरवा से कहती है—

शिखरों में जो मौन, वही भरनों में गरज रहा है,
ऊपर जिसकी ज्योति, छिपा है वही गर्त के तम में । (पृ० ७८)

५. प्रतीक रूप में प्रकृति-चित्रण—प्रतीक-विधान जिसे अंग्रेजी में Symbolism कहते हैं मानव-मन का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करने में अत्यन्त सहायक होता

है। प्रतीकवाद का साधारणतः अर्थ है—‘प्रतीकों के माध्यम से किसी विषय का प्रति-विधान करना।’ शिपले ने ‘विश्व साहित्य कोश’ में प्रतीकवाद की निम्न परिभाषा दी है—

‘Symbolism may be defined as
The representation of a reality on one
Level of reference by a corresponding
Reality on another.’ (Page 405)

प्रतीक अनेक प्रकार के हो सकते हैं किन्तु तीन प्रकार के प्रतीक प्रमुखतः जाने जाते हैं—(१) सृजन-प्रतीक (२) विध्वंस-प्रतीक (३) काम-प्रतीक। ‘उर्वशी’ का प्रति-पाद्य कामाध्यात्म है अतः इसमें अधिकतर काम-प्रतीक ही उपलब्ध होते हैं। उदाहरण के लिए काम-प्रतीक के माध्यम से पुरुषवा अपनी कामासक्ति को व्यक्त करता है—

रूप का रसमय निमन्त्रण
या कि मेरे ही रुधिर की वल्लि
भुभुको शान्ति से जीने न देती।
हर घड़ी कहती, उठो,
इस चन्द्रमा को हाथ से धर कर निचोड़ो,
पान कर लो यह सुधा, मैं शान्त हूँगी,
अब नही आगे कभी उद्भ्रान्त हूँगी। (पृ० ४८)

अपने पौरुष का वर्णन करते हुये पुरुषवा अनेक प्रतीकों का प्रयोग करता है। उसका वक्षस्थल शिला है, भुजायें चट्टानें, चेहरा सूर्य जैसा देदीप्यमान तथा हृदय सागर के सदृश्य उत्तुंग लहरों से भरा हुआ है—

यह शिला-सा वक्ष, ये चट्टान-सी भेरी भुजायें,
सूर्य के आलोक से दीपित, समुन्न भाल,
मेरे प्राण का सागर अगम, उत्ताल, उच्छल है। (पृ० ५३)

लताओं के लिए नागिन, रक्त के लिए सूर्य, मधुरस के लिए चन्द्रमा को प्रतीक रूप में प्रयोग किया गया है। इतना ही नहीं मूक व्यथा के लिए दीपक की लौ, अतृप्त तृषा के लिए चातक, आनन्द के प्रकाश के लिए किरण, पवित्रता के लिए कमल, शीतलता के लिए कमल और तड़फन के लिए मीन प्रतीकों का बड़े ध्वन्यात्मक रूप में प्रयोग हुआ है। उर्वशी नर-नारी के शाश्वत प्रेम और आकर्षण का वर्णन कितने सुन्दर काम-प्रतीकों के माध्यम से करती है—

कामना तरंगों से अधीर
जब विश्व पुरुष का हृदय-सिन्धु
आलोड़ित, क्षुब्धित, मथित हो कर,
अपनी समस्त वड़वाग्नि

कंठ में भर कर मुझे बुलाता है,

तब मैं अपूर्व यौवना

पुरुष के निभूत प्राणतल से उठकर ।

प्रसरित करती निर्वसन, शुभ्र, हेमाभ कान्ति

कल्पना-लोक से उतर भूमि पर आती हूँ,

विजयिनी विश्वनर को अपने उत्तुंग वक्ष ।

पर मुला अमित कल्पों के अश्रु मुखाती हूँ । (पृ० ६५-६६)

६. मानवीकरण रूप में प्रकृति-निरूपण—“ ‘अमानव’ में ‘मानव-गुणों’ के आरोप करने की साधारण प्रवृत्ति या प्रक्रिया को मानवीकरण कहा जाता है ।” इसका तात्पर्य है कि जब कवि प्रकृति के विभिन्न क्रिया-कलापों में व्यक्तिगत जीवन का आरोप कर लेता है तो पशु-पक्षी, वृक्ष-लता, चाँद-तारे सभी में उसे मानव-व्यापारों की झलक आती है । प्रकृति के इस प्रकार के चित्रण को ही प्रकृति का मानवीकरण करना कहा जाता है । मानवीकरण शब्द अंग्रेजी के Personification शब्द का अनुवाद है । अधिकतर हिन्दी-आलोचकों का मत है कि मानवीकरण रूप में प्रकृति निरूपण अंग्रेजी साहित्य की देन है । किन्तु यह अनुचित है क्योंकि इस प्रकार के चित्रण संस्कृत साहित्य में और बाद में हिन्दी कवि बिहारी आदि में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है । यह सब चित्रण उस समय के हैं जब तक अंग्रेजी साहित्य या अंग्रेजी भाषा से भारत-वासियों का परिचय नहीं हुआ था । हाँ, यह सम्भव है कि इस अलंकरण प्रवृत्ति का नामकरण उस समय नहीं हो पाया हो । छायावादी कविता में इसका प्रचुर मात्रा में प्रयोग होने के कारण इसको नामकरण कर दिया गया है और यही अंग्रेजी प्रभाव माना जा सकता है । उर्वशीकार कवि ‘दिनकर’ ने एक से एक उत्तम मानवीकरण के रूप प्रस्तुत किए हैं । इस प्रवृत्ति का परिचय प्रथम अंक में ही प्राप्त हो जाता है । इस अंक में सूत्रधार के माध्यम से कवि ने आकाश की आलिंगन-चेष्टा का वर्णन किया है—

सारी देह समेट निबिड़ आलिंगन में भरने को

गगन खोल कर बाँह विसुध वसुधा पर झुका हुआ है । (पृ० ५)

अगले अंक में पुरुषवा कञ्चुकी द्वारा गन्धमादन का वर्णन कराते हुए ‘दिनकर’ जी लिखते हैं—

लम्बे-लम्बे चौड़े ग्रीव अम्बर की ओर उठाये,

एक चरण पर खड़े तपस्वी-से हैं ध्यान लगाये । (पृ० ३६)

तृतीय अंक में उर्वशी नदी-रूपी नायिकाओं को हतभाग्य बतलाती है, जो स्वयम् अपने प्रियतम सागर की ओर दौड़ती आती है और बेला को सीमाग्यवती कहती हैं जिसको आलिंगन में भरने के लिए उद्भ्रान्त महोदधि स्वयं लहराता रहता है ।

नदियाँ आती स्वयम्, ध्यान सागर, पर, कब देता है ?

बेला का सौभाग्य जिसे आलिंगन में भरने को

चिर-अतृप्त, उद्भ्रान्त महोदधि लहराता रहता है । (पृ० ४५)

आगे चलकर इसी अंक में वृक्ष शिखरों पर पड़ती हुई निशारम्भ चान्द्रमसी किरणों से वन-वृक्ष पीताम्बर उष्णीष बाँधे हुए दिखाये गये हैं—

लगता है, निष्कंप, मौन सारे वन-वृक्ष खड़े हों

पीताम्बर-उष्णीष, बाँध कर छायातप-कुट्टिम पर । (पृ० ६६)

इसी प्रकार दिशाओं को वधू और रात्रि को नायिका बताकर चन्द्रिका को क्रमशः उनके आनन पर कर्पूरधूलि तथा अंगों पर चन्दन लेप कहा गया है—

दमक रही कर्पूर-धूलि दिग्बधुओं के आनन पर,

रजनी के अंगों पर कोई चन्दन लेप रहा है । (पृ० ६६)

इसके तुरन्त बाद ही पुरुरवा तारो को देखकर कल्पना में खो जाते हैं और अनेक प्रकार के विचार उनके मन में आते हैं—

विस्मृतियाँ, निस्तल समाधि से बाहर निकल रही हैं ।

लगता है चन्द्रिका आज सपने में घूम रही है

और गगन पर जो असंख्य आग्नेय जीव बैठे हैं ।

लगते हैं धुंधले अरण्य में हीरों के कूपों-से ।

चन्द्र-भूति-निर्मित हिमकण ये चमक रहे शाद्वल में ?

या नभ के रंघ्रों में सित पारावत बैठ गये हैं ?

कल्पद्रुम के कुसुम, या कि ये परियों की आँखें हैं ! (पृ० ६६)

इसी अंक के अन्त में सूर्योदय का वर्णन करती हुई उर्वशी सूर्य में धनुर्धर, वल्लरी में पुजारिन, वृक्ष में बालक तथा विहगावलि में नायिकाओं का आरोप करती हुई कहती है—

चंद्रमा चला, रजनी बीती, हो गया प्रातः ;

पर्वत के नीचे से प्रकाश के आसन पर ।

आ रहा सूर्य फँकते बाण अपने लोहित,

बिंध गया ज्योति से, वह देखो, अरुणाभ शिखर ।

हिम-स्नात, सिक्त वल्लरी-पुजारिन को देखो,

पति को फूलों का नया हार पहनाती है ।

कुंजों में जनमा है कल कोई वृक्ष कहीं,

वन की प्रसन्न विहगावलि सोहर गाती है ।

(पृ० १०२)

इस रूप में प्रकृति-वर्णन कुछ मात्रा में चौथे अंक में भी हुआ है, यद्यपि वह कवि-कर्म में निष्णात व्यक्ति का वर्णन है । इसमें पुरुरवा और उर्वशी के आलिंगनों से उल्लसित

अटवी का पत्र-पत्र को श्रवण बना कर चुम्बन ध्वनि सुनना, डालियों का उन्हें छूने को झुक आना, प्रसूनों का मानसिक सन्तुलन खोना, शिखरों की हरियाली का जलज-स्पर्श को ऊपर उठना तथा तटिनियों का मुढाल शिलाओं पर उछलती हुई इठलाकर चलना आदि इसके कतिपय उदाहरण है—

और गन्धमादन का वह अनमोल भुवन फूलों का !

मृग ही नहीं, विटप-तृण भी कितने सजीव लगते थे !

पत्र-पत्र को श्रवण बना अटवी कैसे सुनती थी

सूक्ष्म निनद, चुपचाप, हमारे चुम्बन, कल-कूजन का !

झुक आती थीं, किस प्रकार, डालियाँ हमें छूने को,

शैलराज, मानो, सपने में बाँहें बढ़ा रहा हो !

किस प्रकार विचलित हो उठते थे प्रसून कुंजों के,

मानो, गन्धपूर्ण साँसों से हमको पी जायेंगे ।

फेन-फेन होती वह उर्मिल हरियाली शिखरों की

ज्वार बाँध, किस भाँति, बादलों को छूने उठती थी ?

कैसे वे तटिनियाँ उछलती हुई मुढाल शिला पर

हमें देख चलने लगती थी और अधिक इठलाकर । (पृ० १२६)

इस प्रकार प्रकृति का मानवीकरण बड़े ही सजीव एवं निर्दोष रूप में किया गया है ।

७. रहस्यात्मक रूप में प्रकृति-चित्रण—प्रकृति का अपार पारावार देख कर कभी-कभी ऐसा आभास होता है कि सदैव से साथ रहने वाली प्रकृति-प्रेयसी के विषय में मनुष्य अब भी बहुत अज्ञानी है । प्रकृति का अंग-प्रति-अंग रहस्यमय है, कण-कण कल्पनातीत है तथा अज्ञेय है और हर करवट कमनीय होते हुए भी एक जटिल पहेली है । इसीलिए संवेदन-संसार का सम्राट् कवि जब इस रूप आगरी प्रकृति-नागरी को देखता है तो उसे इसके रोम-रोम में अदृश्य सत्ता की सादृश्य-महत्ता के दर्शन होने लगते हैं और कभी-कभी उसके मन-मानस से अनायास ही कतिपय कुतूहल मय जिज्ञासापूर्ण प्रश्न निकल पड़ते हैं । जैसे 'प्रसाद' जी कहते हैं ।

हे अनन्त रमणीय ! कौन तुम ।

यह मैं कैसे कह सकता ।

कैसे हो ? क्या हो ? इसका तो

भार विचार न सह सकता ।

(कामायनी)

अंग्रेजी साहित्य का सबसे प्रसिद्ध प्रकृति-प्रेमी कवि वर्ड्सवर्थ भी प्रकृति-सौन्दर्य में एक रहस्यमयी सत्ता की उपस्थिति का अनुभव करता है जो उसे अनायास ही इस संसार से ऊपर उठा कर कहीं और ले जाती है ।

That serene and blessed mood,

In which the affection gently lead us on—

Unfit,, the breath of this corporeal frame
And even the motion of our human blood
Almost suspended, we are laid asleep
In body, and the became a living soul.

(Tintern Abbey)

इन पंक्तियों से यह परिणाम निकलता है कि जब कवि के चित्त में प्रकृति का रोम-रोम इस प्रकार रम जाए कि उसके अन्तस् में कवि को अदृश्य सत्ता के दर्शन अथवा उसका आभास होने लग जाए तों वहाँ प्रकृतिवादी रहस्यानुभूति होती है। प्रकृति के इस रूप का वर्णन करते समय कवि दर्शन की सीमाओं को छूने लगता है। 'उर्वशी' काव्य में प्रकृति के रहस्यात्मक रूप का चित्रण यत्र-तत्र उपलब्ध होता है। 'दिनकर' जी ने इस काव्य में पुरुष और प्रकृति के अभेदत्व की स्थापना की है। परमात्मा सर्वाधिक रहस्यमय है और प्रकृति उसके निकटतम है अतः प्रकृति से हमें उसकी सत्ता के अनेक संकेत मिलते हैं। सृष्टि में विकास के पश्चात् मनुष्य ने सूर्य, चन्द्र, तारे, आदि प्रकृति के विभिन्न अंगों से ही ईश्वरीय सत्ता का अनुमान लगाया था। 'उर्वशी' में अनेक स्थलों पर प्रकृति हमें उस विराट् सत्ता की ओर संकेत करती हुई दिखाई पड़ती है। तीसरे अंक में पुरुरवा कहते हैं कि धरा, आकाश और पाताल उसी ईश्वर की इच्छा का प्रसार है तथा उसकी प्रेरणा और शक्ति के द्वारा अगणित सविता-सोम, ग्रह-नक्षत्र आदि गैड के सदृश्य आकाश में लुढ़क रहे हैं—

जिसकी इच्छा का प्रसार भूतल, पाताल, गगन है,
दौड़ रहे नभ में अनन्त कन्दुक जिसकी लीला के
अगणित सविता-सोम अपरिमित ग्रह, उडुमण्डल बन कर ;
नारी बन जो स्वयम् पुरुष को उद्वेलित करता है
और बेधता पुरुष-कांति बन हृदय-पुष्प नारी का । (पृ० ७१)

प्रकृति में रहस्य-सत्ता की उपस्थिति पुरुरवा के निम्न शब्दों से प्रकट होती है—

रक्त की उत्तप्त लहरों की परिधि के पार
कोई सत्य हो तो,
चाहता हूँ भेद उसका जान लूँ ।
पंथ हो सौंदर्य की आराधना का व्योम में यदि
शून्य की उस रेख को पहचान लूँ । (पृ० ४६)

'दिनकर' जी की 'उर्वशी' में मान्यता है कि पुरुष अन्य रूप में परमात्मा ही है वह प्रकृति को अपने में समा लेने के अनेक संकेत करता है। ये संकेत अपनी आन्तरिक भावात्मकता में बहुत कुछ पन्त के 'मौन-निमन्त्रण' की याद दिलाते हैं। 'दिनकर' जी प्रकृति में परम चेतना का आरोपण करके उस विराटत्व को प्राप्त करना चाहते हैं

जो 'प्रसाद' जी के शब्दों में 'शिवत्व' है। पुरुष की खोज बाहर करना व्यर्थ है, 'खोज' तो स्वयम् मनुष्य की प्रकृति में समाहित है—कही वह पुष्प में व्याप्त है, कहीं जल में केवल आवश्यकता पहचानने मात्र की है—

जिसे खोजता फिरता है तू, वह अरूप, अनिकेतन
किसी व्योम पर कहीं देह धर बैठा नहीं मिलेगा।

वह तो स्वयम् रहा बह अपनी ही लीला धारा में

कर्म कहीं, कहीं पंकज बन, कहीं स्वच्छ जल बनकर। (पृ० ८२)

डा० नगेन्द्र 'उर्वशी' में प्रकृति-चित्रण का एक और रूप भी प्रदर्शित करते हैं। वे उर्वशी का पक्ष प्रकृति का पक्ष मानते हैं। उर्वशी के लिए प्रकृति अर्थात् ऐन्द्रिय धरा-तल पर कामसुख ही पूर्ण सत्य है। उससे इधर-उधर अनुसन्धान अनावश्यक है। प्रकृति-आनन्द अर्थात् प्रकृति के प्रति पूर्ण आत्मार्पण ही सहज रूप में जीवन की सिद्धि है। यह सिद्धि निष्काम है। यही कारण है कि उर्वशी निष्काम-काम का सिद्धान्त स्वीकार करती है। मोक्ष का अर्थ वह प्रकृति से मोक्ष नहीं स्वीकारती। मोक्ष तो 'कामना' से 'मोक्ष-निष्काम आत्मार्पण' में है—

प्रकृति नित्य आनन्दमयी है, जब भी भूल स्वयम् को
हम निसर्ग के किसी रूप (नारी, नर या फूलों) से
एकतान हो कर खो जाते हैं समाधि निस्तल में,
खुल जाता है कमल, धार मधु की बहने लगती है,
दँहिक जग को छोड़ कहीं हम और पहुँच जाते हैं,
मानो, मायावरण एक क्षण मन से उतर गया हो।

... ...
... ...

पर खोजे क्यों मुक्ति ? प्रकृति के हम प्रसन्न अवयव हैं;

जब तक शेष प्रकृति, तब तक हम भी बहते जायेंगे
लीलामय की सहज, शांत, आनन्दमयी धारा में।

उर्वशी ईश्वर को इस प्रकृति का प्रतिपक्षी न कहकर इसी में रमा हुआ बताती है—

भ्रांति नहीं, अनुभूति ; जिसे ईश्वर हम सब कहते हैं,
शत्रु प्रकृति का नहीं, उसका प्रतियोगी, प्रतिबल है,
किसने कहा तुम्हें, परमेश्वर और प्रकृति, ये दोनों
साथ नहीं रहते,

... ...
... ...
... ...

ईश्वरीय जग भिन्न नहीं है इस गोचर जगती से;

इसी अपावन में अदृश्य वह पावन सना हुआ है।

८. वातावरण सृष्टि अथवा पृष्ठभूमि में प्रकृति-चित्रण—काव्य में प्रमुखतः प्रबन्ध काव्य में उपयुक्त वातावरण बनाने के लिए या आगे वाली घटनाओं की पृष्ठभूमि निर्मित करने के लिए प्रकृति-वर्णन का उपयोग किया जाता रहा है। इस उद्देश्य से प्रकृति-चित्रण के आरम्भ अथवा अन्त ही किया जाता है। 'उर्वशी' में इस प्रकार के चित्रणों की प्रचुरता है। प्रथम अंक में प्रकृति का आलम्बन लेकर आगे आने वाली पुरुरवा-उर्वशी की प्रेम-कथा का परिचय दे दिया गया है। प्रकृति के अवयवों को प्रेमासक्त दिखाकर पुरुरवा-उर्वशी के प्रेम की ओर इंगित किया गया है—

सारी देह समेत निबिड़ आलिंगन में भरने को
गगन खोलकर बाँह बिसुध वसुधा पर झुका हुआ है। (पृ० ६)

इसी भाँति तृतीय अंक के अन्त में कवि ने एक नवीन पादप के जन्म का उल्लेख करके आगामी अंक में उर्वशी के शिशु होने का पूर्व संकेत दिया है—

हिम-स्नात, सिक्त वल्लरी-पुजारिन को देखो,
पति को फूलों का नया हार पहनाती है,
कुंजों में जनमा है कल कोई वृक्ष कहीं,
वन की प्रसन्न विहगावलि सोहर गाती है। (पृ० १०२)

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि 'उर्वशी' में यद्यपि प्रकृति-चित्रण महाकाव्यों की भाँति अत्यधिक विस्तार से तो नहीं है किन्तु अनेक रूपों में बड़े ही मनोज्ञ और मार्मिक ढंग से किया गया है। साहित्यिक विधा की दृष्टि से गीत-नाट्य होने के कारण काव्य में प्रकृति के विविध अंगों के वर्णन पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया है जैसे ऋतु वर्णन नहीं है तथापि एक स्थान पर संकेत से शरद् का वर्णन इस प्रकार दिया गया है—

वह अम्बर जिसके जीवन का पावस उतर चुका है,
चमक रही है धुली हुई जिसमें नीलिमा शरद् की।
वह निरभ्र आकाश, जहाँ, सत्य ही, चंद्रमा-सी तुम।
तेर रही हो अपने ही शीतल प्रकाश प्लावन में।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'उर्वशी' में प्रकृति-वर्णन परम्परागत रूप में 'षड्ऋतु-वर्णन' अथवा 'बारहमासा' के रूप में नहीं हुआ है। ऐसा कोई स्वतन्त्र चित्र मुश्किल से दीख पड़ता है। किन्तु यह सत्य है कि 'उर्वशी' का प्रकृति-चित्रण, एक नये रूप में, भाव-शबलता के साथ हुआ है।

उर्वशी का काव्य-रूप

‘उर्वशी’ का वस्तु-विन्यास कुछ इस प्रकार का है कि इसके काव्य-रूप का निर्धारण कर पाना बड़े-बड़े आलोचकों के लिए अभी तक एक समस्या बनी हुई है। यही कारण है कि इस विषय पर मतैक्य नहीं है। अतः स्वमत के निर्धारण से पूर्ण दो बहुत आवश्यक तथ्यों पर विचार करना है—प्रथम, विभिन्न विद्वानों के मतों पर दृष्टिपात तथा द्वितीय विभिन्न साहित्यिक-विधाओं का सूक्ष्म विवेचन। ‘उर्वशी’ की काव्य-विधा के विषय में डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं—

“ ‘उर्वशी’ दिनकर जी का नया काव्य है। इसमें उर्वशी और पुरुषवा की प्रसिद्ध कहानी छन्दोबद्ध नाटक की शैली में लिखी गई है। यद्यपि यह १६८ पृष्ठों में फैला हुआ विस्तीर्ण-वपु काव्य है और प्रबन्ध काव्य जैसा दिखाई देता है, पर इसका मूल प्रतिपादन गीत काव्यात्मक है, बहुत कुछ ताजमहल की भाँति—गठन में महा-काव्यात्मक परन्तु मूलतः गीतकाव्य के प्राण स्वरूप सुकुमार भावों पर आधारित। कवि ने इसका पाँच अंकों में विभाजन करके नाटकीय रूप देने का प्रयत्न किया है पर तनिक विचार करने पर ही इसका रूपकीय आवरण हट जाता है।”

(दिनकर : सृष्टि और दृष्टि, पृष्ठ २१४)

अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए डा० द्विवेदी स्पष्ट करते हैं कि ‘उर्वशी’ का प्रथम अंक सूच्यांश मात्र है और अधिक से अधिक विष्कम्भ की मर्यादा का अधिकारी है। उनके मत्तानुकूल दूसरा अंक भी सूच्यांश-ही है। तृतीय अंक के विषय में आपका मत है कि यह ‘ऊर्क’ के समाधिस्थ चित्त की देन, स्वर्ग और मर्य, कल्पना-लोक और वास्तविकता, वेग और विराम के द्वन्द्व का अद्भुत गान तथा कवि के प्राणों का भेद कर उसका समग्र रस आत्मासात् करके निकली हुई काव्य-लता का सर्वाधिक कमनीय—रंगीन, मादक, शामक कुसुम है।” ✓

इससे स्पष्ट होता है कि डा० द्विवेदी तृतीय अंक की प्रशंसा भी उसके काव्य-सौष्ठव के कारण करते हैं, उसके नाट्यत्व की दृष्टि से तो वे कोई मत व्यक्त नहीं करते। चौथे और पाँचवें अंक की नाटकीयता के विषय में भी वे मौन हैं। इस सबसे

यह सार निकलता है कि वे, 'उर्वशी' को नाट्य-काव्य न मानकर गीत-काव्य ही मानते हैं।

डा० नगेन्द्र ने इस विषय पर अपना मत स्पष्ट रूप से व्यक्त नहीं किया है। किन्तु उन्होंने इसके लिए सदैव काव्य शब्द का प्रयोग किया है। उनका मत है कि उर्वशी के मूल विचार तथा उसको प्रतिफलत करने वाले वस्तु-विधान में एकान्विति नहीं है और विचार का अन्वय-भंग उसके कला-रूप का अन्विति को भंग कर देता है। इसके विपरीत नरेन्द्र शर्मा इसको पद्य-रूपक या सम्वाद-काव्य मानते हैं। उनका मत है कि उसके सफल दृश्य-काव्य होने के विषय में कुछ शंकायें हैं। उनके अनुसार 'उर्वशी' में काव्य अधिक है नाटकीयता कम है। इसके अतिरिक्त वह पांचवें अंक को नाटकीयता के माप-दण्ड से पूर्णतः असफल और अस्वाभाविक मानते हैं। डा० सावित्री सिन्हा इस काव्य को नाटक और कविता दोनों ही मानती है। उनका कथन है—

“नाटकीय विधा में नियोजित प्रबन्ध तत्व की अपनी परिसीमायें होती हैं। कवि अथवा नाटककार के प्रत्यक्ष वक्तव्य के लिए उसमें अवकाश नहीं होता। पात्रों के सम्वाद और कार्य-व्यापार ही विचारों और भावनों के व्यञ्जक होते हैं। 'उर्वशी' की विधा की इस परिसीमा के कारण कही-कही अस्वाभाविकता अनिवार्य हो गई है।”

डा० दशरथ ओझा इसे गीति-नाट्य मानते हैं किन्तु वे इसका कोई कारण नहीं देते। वह केवल इसकी संक्षिप्त कथा-वस्तु देकर इसके काव्य-वैभव की प्रशंसा कर देते हैं।

इन आलोचकों के मतों से यह ध्वनि निकलती है कि 'उर्वशी' काव्य भी है और गीत-नाट्य भी। इसमें महाकाव्य के लक्षण विद्यमान हैं, इसमें नाटक के तत्व उपलब्ध हैं तथा इसको गीत-गाट्य भी कहा जा सकता है। किन्तु किसी भी निश्चय पर पहुँचने से पहले यह आवश्यक है कि साहित्य की इन विधाओं के लक्षणों का पूर्ण विवेचन किया जाय। इसके पश्चात् यह पता लगाना आसान रहेगा कि किस विधा के सर्वाधिक लक्षण इस ग्रन्थ में उपलब्ध होते हैं।

हिन्दी-साहित्य केवल संस्कृत-काव्य-शास्त्र से ही प्रभावित नहीं हुआ है, अपितु १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पाश्चात्य काव्य-शास्त्र का भी प्रभाव हिन्दी साहित्य पर काफी गहराई से पड़ा है। परिणामस्वरूप आधुनिक-हिन्दी-साहित्य में एक ओर यदि संस्कृत काव्य-शास्त्र के नियमों का रूढ़िबद्ध पालन परिलक्षित होता है तो दूसरी ओर पाश्चात्य प्रभाव के लक्षण भी प्रचुर मात्रा में दृष्टिगोचर होते हैं। यही कारण है कि आधुनिक हिन्दी साहित्य को किसी भी कृति का काव्य-रूप विवेचित करते समय दोनों दृष्टियों से विचार करना अति अनिवार्य है।

तेरहवीं शताब्दी के संस्कृत के लब्ध-प्रतिष्ठित आचार्य विश्वनाथ ने अपने अद्-

भुत ग्रन्थ 'साहित्य दर्पण' में ज्ञानेन्द्रियों के आधार पर काव्य को दो रूपों में बांटा है—दृश्य-काव्य और श्रव्य-काव्य—

दृश्यश्रव्यत्वभेदेन पुनः काव्यं द्विधामतम् ।

दृश्यं तत्राभिनेयं तद्रूपारोपात्तु रूपकम् ॥

(साहित्य दर्पण, परिच्छेद ६, कारिका १)

श्रव्य-काव्य, जैसा नाम से विदित होता है, वह काव्य है जिसमें श्रव्य अथवा श्रवणीयता का गुण प्रधान होता है। इसको श्रव्य-काव्य इसलिए कहते हैं क्योंकि यह मुख्यतः पठनीय होता है, अर्थात् इस काव्य का मुख्य प्रयोजन कृति का पाठन अथवा वाचन के द्वारा श्रवण मात्र होता है—

श्रव्य श्रोतव्यमात्रं तत्पद्यगद्यमयं द्विधा ।

(साहित्य दर्पण, परिच्छेद ६, कारिका ३१३)

श्रव्य-काव्य तीन भागों में बांटा गया है—गद्य-गद्य-काव्य-रूप और चम्पू-काव्य, गद्य-काव्य-रूप, पद्य-काव्य-रूप ।

दृश्य-काव्य में, जैसा कि नाम से ध्वनित होता है, दृश्य-गुण विद्यमान रहते हैं। इसको दृश्य इसलिए कहते हैं क्योंकि यह मूलतः अभिनेय होता है, अर्थात् इस काव्य-भेद की रचना का प्रयोजन कृति का अभिनय करना होता है। अभिनय के लिए अभिनेता को रूप धारण करना अपरिहार्य है, अतः इसे रूपक भी कहा जाता है। दृश्य-काव्य के दस भेद किये गये हैं—

नाटक, प्रकरण भाण, व्यायोग, समवकार, उम, ईहामृग, अंक, वीथी, और प्रहसन ।

पाश्चात्य काव्य-शास्त्रियों ने काव्य के मुख्य रूप से तीन भेद किये हैं—

1. Epic (वीराख्यान काव्य या महाकाव्य)
2. Drama (नाटक)
3. Lyric (गीति)

इन काव्य-रूपों में 'उर्वशी' को किसके अन्तर्गत रखा जा सकता है, इस समस्या के समाधान के लिए हम इन रूपों का सूक्ष्म विवेचन करेंगे। ये रूप हैं—महाकाव्य-नाटक, नाट्य महाकाव्य और गीति-नाट्य। इन सम्भावित रूपों में से किसी एक रूप को स्थिर करने के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक रूप के विभिन्न पहलुओं को एक-एक कर विश्लेषण करें। सर्वप्रथम हम महाकाव्य को लेते हैं।

संस्कृत-महाकाव्य में सर्वप्रथम आचार्य भामह ने महाकाव्य के जिस विवेचन का आरम्भ किया था, उस विवेचन की पूर्णता आचार्य विश्वनाथ के ग्रन्थ 'साहित्य-दर्पण' में होती है। विश्वनाथ कविराज ने एतद्विषयक अपने पूर्ववर्ती सभी आचार्यों के मतों का समन्वय करके एक प्रकार से उनकी व्याख्या कर दी है। परवर्ती आचार्य

उसी व्याख्या को प्रायः ईषत् शब्द-भेद के द्वारा पुनरावृत्त करते रहे हैं। अतः हम केवल आचार्य विश्वनाथ के मत को ही यहाँ उद्धृत करेंगे। 'साहित्य दर्पण' में महाकाव्य के निम्न लक्षण दिये गये हैं—

सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः ।
 सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्त गुणान्वित ॥
 एक वंशभवा भूयाः कुलजा बहवोऽपि वा ।
 शृंगारवीर शान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते ।
 अंगानि सर्वेऽपी रसाः सर्वे नाटकसन्धयः ॥
 इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम् ।
 चत्वारस्तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत् ॥
 आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा ।
 क्वचिन्निदा खलादीनां सतां च गुणकीर्तनम् ।
 एक वृत्त मयः पद्यैरवसानेऽन्यद्वृत्तकैः ।
 नातिस्वल्पा नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिकाऽपि इह ।
 नाना वृत्तमयः क्वापि सर्गं कश्चन दृश्यते ।
 सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत् ॥
 सन्ध्या सूर्येन्दुरजनीप्रदोषध्वान्तवासराः ।
 प्रातर्मध्याह्नमृगयाशैलर्तुवन सागराः ।
 सम्भोगविप्रलम्भौ च मुनिस्वर्गपुराध्वराः ।
 रणप्रयाणोपयममंत्र पुत्रोदयादयः ॥
 वर्णनीया यथायोगं सांगोपांग अमी इह ।
 कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा ।
 नामास्य सर्गोपादेयकथया सर्गनाम तु ।

(साहित्य दर्पण-परिच्छेद, ६, कारिका ३१५-३२४)

इन कारिकाओं का सार इस प्रकार है—

१. महाकाव्य का नायक सुर अथवा प्रख्यात राजवंश से सम्बद्ध कोई क्षत्रिय होना चाहिए ।

२. महाकाव्य में शृंगार वीर या शान्त रस में से एक रस अंगी होना चाहिए ।

३. महाकाव्य की कथा-वस्तु ऐतिहासिक अथवा किसी महापुरुष के जीवन से सम्बद्ध कोई लोक-प्रसिद्ध वृत्त होना चाहिये, जिसमें चारों पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) का वर्णन करके नायक को किसी एक की प्राप्ति हुई हो ।

४. महाकाव्य के प्रारम्भ में मंगलाचरण या वस्तु-निर्देशक हो । कहीं-कहीं दुष्टों की निन्दा और सज्जनों की स्तुति होनी चाहिए ।

५. महाकाव्य में कम से कम आठ सर्ग होने चाहिए जो न तो बहुत बड़े हों और न बहुत छोटे। एक सर्ग में एक ही छन्द का प्रयोग होना चाहिए और सर्गान्त में वह छन्द परिवर्तित कर देना चाहिए। एक सर्ग ही में अनेक छन्द भी हो सकते हैं। सर्ग के अन्त में भावी कथा का संकेत होना चाहिए।

६. महाकाव्य में सन्ध्या, सूर्य, चन्द्र, रात्रि, प्रदेश, अन्धकार, दिन, प्रातः काल, मध्याह्न, मृगया, पर्वत, ऋतु, वन-उपवन, समुद्र, सम्भोग, विप्रलम्भ, मुनि, स्वर्ग, नगर, यज्ञ, संग्राम, यात्रा, विवाह, पुत्र-जन्म, आदि का वर्णन होना चाहिए।

७. महाकाव्य का नाम कवि, वर्ण्य-विषय, नायक अथवा अन्य किसी आधार पर होना चाहिए।

८. महाकाव्य के सर्ग का नाम उस सर्ग में वर्णित विषय के आधार पर होना चाहिए।

विश्वनाथ कविराज के द्वारा बताई गई इन विशेषताओं को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—स्थायी और अस्थायी ! स्थायी विशेषतायें वे हैं जिनका निर्वाह करना प्रत्येक महाकाव्यकार के लिए आवश्यक है। इसके विपरीत अस्थायी विशेषताओं का पालन करना अनिवार्य नहीं है। नायक, रस तथा कथावस्तु किसी भी महाकाव्य की स्थायी विशेषताएँ हैं और शेष अस्थायी। अतः हम इन तीन की व्याख्या यहाँ करेंगे।

यहाँ तक नायक का प्रश्न है समस्त संस्कृत आचार्यों ने यह स्वीकार किया है कि महाकाव्य का नायक उदात्त व्यक्ति होना चाहिए। इसके लिए भामह का मत है कि नायक में कुल बल और शास्त्राध्ययन आदि के गुण होने चाहिए। दण्डी के अनुसार वह चतुर और उदात्त होना चाहिए। पाश्चात्य काव्य-शास्त्रियों ने भी महाकाव्य के नायक के विषय में इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं। अरस्तु का मत है कि महाकाव्य के पात्र भद्र, वैभवशाली, यशस्वी तथा कुलीन होने चाहिए। यहाँ पात्र शब्द में नायक भी सम्मिलित है। इससे यह परिणाम निकला कि महाकाव्य का नायक निश्चयपूर्वक एक उदात्त व्यक्ति होना चाहिए, चाहे वह दिव्य हो, अदिव्य हो, अथवा दिव्यादिव्य हो। इस नायक का प्रभाव समस्त समाज पर पड़ता है।

रस को काव्य के लिए अति आवश्यक माना गया है। आचार्य भामह ने किसी एक रस का उल्लेख न कर 'रसैश्च सकलैः पृथक्' कह कर सभी रसों को महाकाव्य के योग्य बताया है। यह शायद इस कारण से है कि उस समय तक संस्कृत-काव्य-शास्त्र में अंगीरस का प्रश्न ही नहीं उठा था। दण्डी ने भी 'रसभावनिरन्तरम्' कह कर रस की व्यापकता को तो स्वीकारा है, परन्तु अंगीरस का प्रश्न उन्होंने भी नहीं उठाया है। आचार्य विश्वनाथ ही ऐसे संस्कृत आचार्य हैं जिन्होंने यह स्पष्ट किया है कि महाकाव्य का अंगीरस शृंगार वीर या शान्त में से एक होना चाहिए। पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में रस का विवेचन नहीं किया गया है।

जिस प्रकार महाकाव्य का नायक उदात्त होना आवश्यक है, उसी भाँति इसकी कथा-वस्तु भी उदात्त होनी चाहिए। इस उदात्तता के दो स्रोत हैं—कथा इतिहास से ली गई हो, या कथा किसी प्रख्यात महापुरुष के जीवन पर आधृत हो। महाकाव्य की कथावस्तु को प्रभावशाली बनाए रखने के लिए आचार्यों ने अनेक नियमों का प्रतिपादन किया है। नायक और रस की समुचित योजना भी इसी दिशा में एक सुझाव है। इसके अतिरिक्त प्रभाव को अधिक ग्राह्य बनाने के लिए इसमें नाट्य-सन्धियों की नियोजना, चतुर्वर्ग की प्राप्ति का विधान, सर्ग और छन्दों का नियमन आदि किया गया है।

पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में महाकाव्य की कथा-वस्तु की गरिमा को स्वीकार किया गया है। अरस्तु अपने प्रसिद्ध काव्य-शास्त्र 'Poetics' में लिखते हैं—

Epic poetry differs from tragedy in the scale on which it is constructed, and in its meter.....
.....

Epic poetry has, however, a great—a special—capacity for enlarging its dimensions..... But in Epic poetry, owing to the narrative form, many events simultaneously transacted can be presented; and these, it relevant to the subject, add mass and dignity to the poem. The epic has here an advantage, and one that conduces to grandeur of effect, to diverting the mind of the hearer, and relieving the story with varying episodes.

(Aristotle's Theory of poetry and Fine Arts—S. H. Butcher, pp.91-92)

एक दूसरे पाश्चात्य विद्वान C. M. Bowra लिखते हैं—

“महाकाव्य बृहदाकार कथात्मक काव्य-रूप है जिसमें कुछ महत्वपूर्ण और गरिमायुक्त घटनाओं का वर्णन होता है और जिसमें कुछ चरित्रों के क्रियाशील और भयंकर कार्यों से भरे जीवन की कथा होती है। उसके पढ़ने से हमें एक विशेष प्रकार का आनन्द प्राप्त होता है, क्योंकि घटनायें और पात्र हमारे भीतर मनुष्य की महत्ता, गौरव और उपलब्धियों के प्रति दृढ़ आस्था उत्पन्न करते हैं।”

महाकाव्य के इन लक्षणों को ध्यान में रख कर यदि 'उर्वशी' का अध्ययन किया जाये तो स्पष्ट होता है कि इस ग्रन्थ में महाकाव्य के अनेक स्थायी तथा अस्थायी तत्व विद्यमान हैं। सर्वप्रथम नायक का विवेचन करने पर विदित होता है कि इसका नायक पुरुषवा एक उदात्त नायक है। वह राजवंशी है। वह सुन्दर और वीर है। उसके अमित सौन्दर्य तथा अपार शौर्य पर मोहित होकर उर्वशी अपना

सर्वस्व उसके प्रति समर्पित कर देती है। सहजन्त्या रम्भा के समक्ष राजा के सौन्दर्य का वर्णन इस प्रकार करती है—

और परम सुन्दर भी।

ऐसा मनोमुग्धकारी तो होता नहीं अमर भी।

(प्रथम अंक, पृ १३)

महाराज पुरुरवा केवल सुन्दर ही नहीं हैं अपितु परम पराक्रमी वीर भी हैं। ये दोनों गुण धीरोदात्त नायक के लिए अति आवश्यक है। वह स्वयम् अपने विषय में कहता है—

यह शिला-सा वक्ष, ये चट्टान-सी मेरी भुजायें,
सूर्य के आलोक से दीपित, समुन्नत भाल,
मेरे प्राण का सागर अगम, उत्ताल उच्छल है।
सामने टिकते नहीं वनराज, पर्वत डोलते हैं,
काँपता है कुण्डली मारे समय का व्याल,
मेरी बाँह में मारुत, गरुड़, गजराज का बल है।
मर्त्य मानव की विजय का तूर्य हूँ मैं।
उर्वशी ! अपने समय का सूर्य हूँ मैं।
अन्ध तम के भाल पर पावक जलाता हूँ,
बादलों के सीस पर स्पन्दन चलाता हूँ

(उर्वशी पृ० ५३)

अतः यह कहा जा सकता है कि इस काव्य का नायक धीरोदात्त है। इसी भाँति इसकी नायिका भी कोई साधारण—स्त्री नहीं है। वह परम सुन्दरी, 'विश्वप्रिया' इन्द्रपुरी की अप्सरा है।

जहाँ तक इसकी कथा का प्रश्न है, यह एक विख्यात प्रागैतिहासिक घटना है। यह कथा इतनी पुरानी है जितनी भारतीय संस्कृति तथा जितने पुराने वेद हैं। वेद, पुराणों के अतिरिक्त इसका वर्णन काफी मात्रा में संस्कृत-साहित्य में रहा है। संस्कृत के सबसे बड़े कवि कालिदास ने भी इस कथा पर आधृत एक नाटक लिखा है। यह कथा अधिकारिक है।

इस कथा का अंगीरस शृंगार है, जो महाकाव्य के अंगीरस के लिए स्वीकृत है। वैसे शृंगार रस-राज माना गया है। इसके अतिरिक्त करुण-रस, वीर-रस तथा बात्सल्य रस का भी पुट इस काव्य में उपलब्ध है। इस कथा का फल काम है, यद्यपि पुरुरवा के सन्यास-ग्रहण का संकेत करके कवि ने मोक्ष की ओर भी इशारा किया है।

इन स्थायी लक्षणों के अतिरिक्त 'उर्वशी' में महाकाव्य के अनेक स्थायी

लक्षणों का भी परिपालन किया गया है। जैसे प्रकृति-वर्णन वृत्तों का वैविध्य, पर्वत, ऋतु, मुनि स्वर्ग, यज्ञ, विवाह, पुत्र-जन्म आदि। प्रकृति वर्णन तो किसी भी महाकाव्य की अपेक्षा इसमें कम नहीं है। उदाहरण के लिए चन्द्रिका का वर्णन कितना सुन्दर और मनोहारी है—

नीचे पृथ्वी पर वसन्त की कुसुम-विभा छायी है,
ऊपर है चन्द्रमा द्वादशी का निर्मल गगन में।
खुली नीलिमा पर विकीर्ण तारे यों दीप रहे हैं,
चमक रहे हों नील चीर पर बूटे ज्यों चाँदी के,
या प्रशान्त निस्सीम जलधि में जसे चरण-२ पर,
नील वारि को फोड़ ज्योति के द्वीप निकल आये हों।

(उर्वशी', पृ० ५)

इसी प्रकार गन्धमादन पर्वत का भी बड़ा सुन्दर वर्णन दिया गया है।

किन्तु इन सब लक्षणों के उपलब्ध होने पर भी 'उर्वशी' को महाकाव्य की संज्ञा नहीं दी जा सकती। इसके प्रमुख कारण इस प्रकार है—

'उर्वशी' की कथा सर्गों के स्थान पर अंकों में विभाजित है। महाकाव्य को किसी भी साहित्य में अंकों में विभाजित नहीं किया जाता है। भविष्य में भी ऐसा कुछ होने की सम्भावना नहीं है, क्योंकि अंकों की परम्परा नाटकों के लिये सर्वमान्य हो चुकी है। इसके अतिरिक्त इसकी कथा इतनी व्यापकता तथा विविधता लिये हुए नहीं है जितनी एक महाकाव्य की कथा होनी चाहिए। इसमें जीवन के एक पहलू, केवल काम, का ही प्रमुखता से वर्णन किया गया है। ऐसा अनुभव होता है कि 'दिन-कर' जी का उद्देश्य कामाध्यात्म का सविस्तार विवेचन ही इस काव्य की रचना के पीछे रहा है। प्रथम दो अंकों में अधिकारिक कथा सूच्य है। इसका परिणाम यह है कि घटनाओं का उचित अभिनिवेश न होने के कारण प्रभावान्वित शिथिल हो जाती है। इसके अतिरिक्त प्रासांगिक कथा भी सूच्य है। प्रासंगिक कथा के नायक च्यवन ऋषि तो स्वयं कही उपस्थित नहीं होते हैं। उनके विचार और उनसे सम्बन्धित समस्त घटनाओं का वर्णन अन्य पात्रों के माध्यम से हुआ है। 'कुरुक्षेत्र' की भाँति इस रचना में भी घटनाओं की अपेक्षा चिन्तन का प्राधान्य है। यही कारण है कि महाकाव्योचित चरित्रों का निर्माण नहीं हो पाया है। इसके अतिरिक्त समस्त काव्य सम्वादात्मक शैली में लिखा गया है। इसलिए भी यह महाकाव्य का रूप धारण नहीं कर पाया। अतः यह कहा जा सकता है कि 'उर्वशी' में महाकाव्य के अनेक तत्व उपलब्ध होने पर भी इसको महाकाव्य की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता।

शैली की दृष्टि से यह रचना दृश्य या रूपक काव्य है। यह काव्य नाटक शैली पर रचित है। प्रसिद्ध ग्रन्थ नाट्यशास्त्र में नाटक के लक्षण भरत मुनि ने इस प्रकार दिये हैं—

प्रख्यातवस्तु विषये प्रख्यातोदात्तनायकं चैव ।
 राजषिवंश चरितं तथैः दिव्याश्रयोपेतम् ॥
 नाना विभूतिसंयुतमृद्धिविलासादिभिर्गुणैश्चैव ।
 अंक प्रवेशकाव्यं भवति हि तन्नाटक नाम ॥
 नृपतीनां यच्चरितं नानारसभावसंभूतं बहुधा ।
 सुखदुःखोत्पत्तिकृतं भवति हि तन्नाटक नाम ॥

(नाटशास्त्र, अध्याय^{१८}, श्लोक १०-१२)

(‘नाटक वह काव्य है जिसमें किसी राजकुलोत्पन्न अथवा दिव्य धीरोदात्तादि गुणों से युक्त प्रख्यात नायक के जीवन की प्रख्यात कथा नाना विभूति एवं श्रद्धियों सहित अंको में वर्णित हो अथवा नाना रस एवं भावों से संभूत सुख-दुखों से पूर्ण चित्रित राजाओं का चरित्र नाटक है ।’)

दशरूपक कार नृत्य, नाट्य में भेद स्थापित करते हुए कहते हैं, ‘नृत ताल-लय के आश्रित होता है, नृत्य भावाश्रित होता है, नाट्य रसाश्रित होता है—

अन्यद्भावाश्रयम् नृत्यं, नृतं ताल लयाश्रयम् अवस्थानुकृति । नाट्यम् दशधैव रसाश्रयम् ।

महिम भट्ट के अनुसार ‘अनुभाव विभावादि के वर्णन से जब आनन्दोपलब्धि होती है तो रचना काव्य कहलाती है और जब गीतादि से रंजित नटों द्वारा उसका प्रयोग होता है तो नाटक बन जाता है ।’

‘अनुभाव विभावानां वर्णना काव्यमुच्चयते,
 तेषामेव प्रयोगस्तु नाट्यम् गीतादि रंजितम् ॥’

किन्तु कविराज विश्वनाथ ने नाटक की व्याख्या काफी विस्तार से की है । वह लिखते हैं—

नाटकं ख्यातकृतं स्यात् पंचसन्धिसमन्वितम् ।
 विलासद्वयादिगुणवद्युक्तं नानाविभूतिभिः ॥
 सुखदुःखसमुद्भूति नानारसनिरन्तरम् ।
 पंचादिका दशपरास्तत्राङ्काः परिकीर्त्तिताः
 प्रख्यातवंशो राजविधीरोदात्तः प्रतापवान् ।
 दिव्योऽथ दिव्यादिव्यो वा गुणवान्तायको मतः ॥
 एक एव भवदंगीशृंगारो वीर एव वा ॥
 अंगयन्ये रसा सर्वे कार्यो निवेष्टोऽद्भुतः ।
 चत्वारः पंच वा मुख्याः कार्याव्यापृतपुरुषाः
 गोपुच्छाग्रसमाग्रं तु बन्धनं तस्य कीर्तितम् ॥

(साहित्यदर्पण शष्ठ, परिच्छेद कारिका ७-११)

(‘नाटक वह काव्य है जिसका वृत्त प्रख्यात (इतिहासादि प्रसिद्ध) हो, जिसमें विशाल

समृद्धि आदि गुण तथा अनेक विध ऐश्वर्यों का वर्णन हो, सुख-दुख की उत्पत्ति एवं नाना रसों का चित्रण हो, पाँच से लेकर दस अंक तक हों, प्रसिद्ध वंश-जात धीरोदात्तादि गुणों से युक्त प्रतापशाली कोई राजर्षि, दिव्य या दिव्यादिव्य पुरुष नायक हो, जिसमें शृंगार या वीर में से कोई एक रस प्रधान हो तथा अन्य रस उसके अंगभूत हों और जिसमें चार या पाँच पुरुष प्रधान कार्य के साधन में व्यापृत हों तथा गौ के पुच्छाग्र के समान जिसकी रचना हो।”

किन्तु इससे भी अधिक विस्तृत वर्णन धनंजय ने दिया है। उनके द्वारा दिये गए नाटक के स्वरूप का सारांश इस प्रकार है—

“जिस कथावस्तु का नायक उत्कृष्ट कोटि के सेवन करने योग्य गुणों से युक्त हो, धीरोदात्त हो, प्रतापशाली हो, कीर्ति की इच्छा करने वाला हो और बड़ा ही उत्साही हो, वेदत्रयी की रक्षा करने वाला हो और प्रसिद्ध वंश वाला या तो कोई राजर्षि हो या दिव्य हो; ऐसे ही नायक वाली प्रख्यात कथावस्तु को अधिकारिक वृत्त बनाना चाहिये।

“इस कथावस्तु को पाँच भागों में विभाजित कर लेना चाहिए। इन पाँचों भागों में पाँचों सन्धियों की योजना करनी चाहिए।

“यदि कथानक के अनुसंधान के लिए वस्तु का विस्तार अपेक्षित तो हो, किन्तु नीरस समझ कर उसका परित्याग आवश्यक समझा जाए तो उस नीरस वस्तु की सूचना देने के लिए विषकम्भक का प्रयोग करना चाहिए। यदि प्रारम्भ से ही सरस कथा हो तो विषकम्भक की कोई आवश्यकता नहीं होती। ऐसी दशा में आमुख का आश्रय लेकर अंक को ही प्रारम्भ कर देना चाहिए।

“रस के बहुत अधिक विस्तार के द्वारा वस्तु को बहुत अधिक विच्छिन्न नहीं करना चाहिए।

“शृंगार और वीर दोनों रसों में से एक रस को अंगी बनाना चाहिए। शेष सारे रस अंग होने चाहिए। निर्वहण सन्धि में अद्भुत रस का समावेश होना चाहिए।

“दूर का मार्ग, वध, युद्ध, विप्लव, सुरत, अनुलेपन, वस्त्र का पकड़ना आदि ~~उत्तेजक दृश्य वर्जित हैं। इस रूप में यूनानी नाटक और भारतीय नाटक-परम्परा में साम्य है।~~

“एक ही दिन में एक ही प्रयोजन से किए गए कार्यों को एक अंक में दिखलाना चाहिए। एक अंक में तीन या चार पात्र होने चाहिए और अंक के अन्त में इन पात्रों को निकल जाना चाहिये।”

इन समस्त परिभाषाओं तथा विवेचनाओं का सार इस प्रकार है—

“नाटक की कथावस्तु प्रख्यात होनी चाहिए। इसका नायक धीरोदात्त होना चाहिए तथा इसमें शृंगार या वीर रस में से एक अंगीरस होना चाहिए। नाटक में उत्तेजक दृश्य वर्जित हैं। इस रूप में यूनानी नाटक और भारतीय नाटक-परम्परा में साम्य है।

इन नियमों में से प्रथम तीन—कथा वस्तु, नायक, अंगीरस—स्थिर नियम हैं तथा शेष अस्थिर । हम स्थिर नियमों की व्याख्या पहले करेंगे और तत्पश्चात् उनके आधार पर 'उर्वशी' की नाटक कला को विवेचन किया जाएगा ।

महाकाव्य की भाँति नाटक की कथावस्तु भी या तो ऐतिहासिक या प्रागैतिहासिक या किसी प्रसिद्ध पुरुष से सम्बन्धित होनी आवश्यक है । रचना की दृष्टि से प्रभावान्विति के लिए इसको पाँच अंकों तथा पाँच सन्धियों—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, अवमर्श तथा निर्वहण—में विभाजित किया जाता है । नाटक की कथावस्तु के विभाजन के तीन प्रमुख आधार होते हैं—

१. प्रभावान्विति की दृष्टि से
२. समर्पण की दृष्टि से
३. नाट्यधर्म की दृष्टि से

प्रभावान्विति की दृष्टि से इसके पुनः दो भेद होते हैं—अधिकारिक और प्रासंगिक । मुख्य कथा अधिकारिक कहलाती है तथा उसकी अंगभूत गौण कथा प्रासंगिक कहलाती है । इसी प्रकार समर्पण की दृष्टि से भी उसके दो भेद होते हैं—सूच्य और दृश्य । जो वस्तु रसहीन होती है, वह सूचित होनी चाहिए, क्योंकि उसका अभिनय कथावस्तु की प्रभावान्विति में बाधक होगा । इसके विपरीत अभिनेय कथावस्तु दृश्य कहलाती है ।

नाट्यधर्म की दृष्टि से इसको तीन प्रकार से विभाजित किया जा सकता है—सर्वश्राव्य, नियतश्राव्य तथा अश्राव्य । जो सबको सुनाया जा सके वह सर्वश्राव्य है; जिसे कुछ निश्चित पात्रों को सुनाना अभीष्ट हो वह नियत श्राव्य है, तथा जिसे किसी भी पात्र को सुनाना अभीष्ट न हो वह अश्राव्य कथावस्तु कहलाती है ।

अभिनय भी नाटक की कथावस्तु का अभिन्न अंग है । अभिनय चार प्रकार का होता है—आंगिक (अंग द्वारा सम्पादित), वाचिक (वाणी द्वारा सम्पादित), आहार्य (वेशभूषा द्वारा सम्पादित) और सात्विक (मनोभावों द्वारा सम्पादित) ।

नाटक की कथावस्तु की परिणति फल में होनी चाहिए । यह फल—धर्म,

नाटक का दूसरा महत्वपूर्ण अंग नायक है । महाकाव्य की भाँति नाटक का नायक भी उदात्त गुणों वाला होना आवश्यक है । वह धीरोदात्त होना चाहिए तथा वह वीर, कीर्ति की इच्छा रखने वाला, उत्साही, वेदत्रयी का रक्षक, प्रसिद्ध वंश वाला राजर्षि अथवा दिव्य होना चाहिए । धनंजय नाटक के नायक के विषय में लिखते हैं—

नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियम्बदः ।

रक्त लोकःशुचिर्गमी रुढवंशः स्थिरो युवा ॥

बुद्धयुत्साह स्मृति प्रज्ञाकलामान समन्वितः ।

शूरो दृढश्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुरश्च धार्मिकः ॥

“नाटक का नायक विनीत, मधुर, त्यागी, दक्ष, प्रियभाषी, लोकप्रिय, शुचि, वाग्मी, रूढ़वश, स्थिर, युवा, बुद्धिमान्, उत्साही, स्मृतिवान्, प्रज्ञावान्, कला-समन्वित, मानी, शूर, दृढ़, तेजस्वी, शास्त्रविद् और धार्मिक होना चाहिये।”

इनके अतिरिक्त नायक में आठ अन्य सात्विक गुण—शोभा, विलास, माधुर्य, गाम्भीर्य, स्थिरता, ललित और औदार्य—भी होने चाहिए।

नायक चार प्रकार के होते हैं—धीरोदात्त, धीर ललित, धीर प्रशान्त तथा धीरोद्धत। जो नायक बहुत तेजस्वी, अत्यन्त गम्भीर, सहनशील, मितभाषी, स्थिर, निरहंकारी, तथा दृढ़प्रतिज्ञ होता है उसे धीरोदात्त कहते हैं। जो नायक निश्चिन्त, कलाओं में आसक्त, सुखी तथा कोमल होता है उसे धीर ललित कहते हैं। साधारण गुणों से युक्त द्विज आदि को धीरप्रशान्त नायक कहते हैं। जिस नायक में दर्प तथा मात्सर्य बहुत अधिक हो, और जो माया औ छद्म में संलग्न हो, जो अहंकारी, चंचल, उग्र तथा वाचाल हो उसे धीरोद्धत कहते हैं।

शृंगार-सम्बन्धी नायक के तीन प्रकार होते हैं—दक्षिण, शठ तथा धृष्ट। दक्षिण नायक वह है जो अन्य नायिका द्वारा अपहृत-हृदय होने पर भी प्रथम नायिका से सहृदयता का व्यवहार करता है। शठ नायक पूर्वनायिका का चुपके-चुपके अपकार करता है, तथा धृष्ट नायक वह है जिसके अंग व्यक्त रूप से विकृत हो।

जहां तक रस का प्रश्न है यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि महाकाव्य की भाँति नाटक का अगीरस शृंगार या वीररस होना चाहिए।

नाटक के लक्षणों के इस विवेचन के पश्चात् यदि ‘उर्वशी’ को हम इनके आधार पर परखें तो विदित होता है कि इसमें अनेक नाटकीय तत्वों की प्राप्ति होती है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि इसकी कथावस्तु प्रख्यात है। इसका नायक राजा पुरुरवा वेद-पुराणादि में प्रसिद्ध एक प्रतापशाली राजर्षि है। वह सभी गुणों से सम्पन्न है और धीरोदात्त नायक की श्रेणी में आता है। इसी प्रकार इसकी नायिका उर्वशी भी समस्त अपेक्षित गुणों से युक्त है। इसमें राजा एवं उर्वशी-विषयक अनेक ऐश्वर्यों का वर्णन भी है।

नाटक की भाँति इसमें सम्पूर्ण कथानक का निर्वहण कथनोपकथन द्वारा ही हुआ है। श्रव्य और दृश्यकाव्य के कथनोपकथन में भिन्नता होती है। दृश्यकाव्य में स्वराघात या बलाघात अधिक होता है, क्योंकि अभिनय में चेष्टाओं के साथ इसकी भी आवश्यकता होती है। यदि ऐसा नहीं होता तो भावोद्दीपन में बाधा पड़ जाती है या विलम्ब हो सकता है। परन्तु श्रव्यकाव्य में इसकी प्रतिपद पर आवश्यकता नहीं है। ‘उर्वशी’ पूर्णरूपेण नाटक नहीं है, अतः इसमें कथनोपकथन का निर्वहण काफी कठिन कार्य था। किन्तु ‘दिनकर’ जी ने यहाँ पूर्ण सफलता प्राप्त की है। इसके कथनोपकथनों में एक विशेषता यह है कि कथा का तारतम्य बना रहता है। यही नहीं बल्कि भाषा के मंदिर प्रवाह, शब्दों की सुन्दर योजना तथा रसानुकूल वाक्या-

वलियों के कारण इन कथनोपकथनों में एक मुखरता, विचित्र चित्ताकर्षकता एवं सजीवता आ गई है।

इसमें एक ही रस अंगीरस है—शृंगार। 'उर्वशी' में इस रस में चाँदनी की भाँति आकर्षण है, मधु की भाँति मधुरता, मदिरा-सी मादकता है। निम्न पंक्तियों को पढ़कर कौन पाठक शृंगार रस में सराबोर नहीं हो जाएगा—

महाराज ने देख उर्वशी को अधीर अकुला कर,
बाँहों में भर लिया दौड़ उसे गोदी में उठाकर।
समा गई उर-बीच अप्सरा सुख-संभार-नता-सी,
पर्वत के पंखों में सिमटी गिरिमल्लिका-लता-सी ॥

(उर्वशी, पृ० ३१)

इसी प्रकार तृतीय अंक में उर्वशी पुरुरवा को सम्बोधन करके कहती है—

आ मेरे प्यारे तृषित ! श्रान्त ! अन्तःसर में मज्जित करके,
हर लूंगी मन की तपन चाँदनी, फूलों से सज्जित करके।
रसमयी मेघमाला बनकर मैं तुझे घेर छा जाऊँगी,
फूलों की छाँह-तले अपने अधरों की सुधा पिलाऊँगी ॥

(उर्वशी, पृ० ५७)

इसके अतिरिक्त इस काव्य काव्यविभाजन अंको में हुआ है जिसमें यत्र-तत्र नाटकीय संकेत भी है। संस्कृत नाट्य-शास्त्र के अनुसार पाँच अंकों वाला नाटक छोटा नाटक होता है। कारण, जीवन विस्तृत है और एक अंक में एक ही फल-प्राप्ति का प्रयत्न व्यंजित होता है। इसलिए इसको हम एक लघु-नाटक कह सकते हैं। अंक दृश्यों में विभाजित किए गए हैं। इस विभाजन के लिए कवि ने नवीन पद्धति अपनायी है। कवि दृश्य-परिवर्तन की सूचना काल-स्थान आदि के द्वारा देता है। सम्पूर्ण तृतीयांक इसका स्पष्ट उदाहरण है। परम्परागत रूप से सूत्राधार नटी द्वारा मंगलाचरण एवं प्रस्तावना है। यथास्थान रंग संकेत दे दिये गए हैं। कोष्ठकों में आवश्यकतानुसार आगमन और प्रस्थान-संकेत भी प्राप्य है। प्रत्येक अंक से पूर्व उसमें चित्रित दृश्य के स्थान, वातावरण तथा पात्रों का निर्देश किया गया है। अंको के मध्य में भी पात्रों के

नपथ्य से बोलते दिखाकर 'दिनकर' जी ने अपनी ओर से भी यह स्पष्ट कर दिया है कि उनको इस कृति का अभिनय किया जाना इष्ट है। समस्त रचना रंगमंच की दृष्टि से की गई प्रतीत होती है। पृष्ठभूमि परम्परागत भारतीय आनन्दवादी दृष्टि-

कोण से प्रस्तुत की गई है, जहाँ संघर्ष फल-प्राप्ति का साधन है, साध्य नहीं। यही नहीं परम्परानुकूल इसमें भरत वाक्य का भी समावेश किया गया है। भरत-वाक्य औशीनरी के मुख से कहलाया गया है—

कितना मधुर स्वप्न ! कैसी कल्पना चान्द्र महिमा की,
नारी का स्वर्णिम भविष्य, जाने, वह अभी वहाँ है।
हम तो चलीं भोग उसको जो सुख-दुख हमें बदा था,
मिले अधिक उज्ज्वल, उदार युग आगे की ललना को।

(उर्वशी, पृ० १६५)

और सबसे अधिक देखने योग्य बात है कि समस्त कथावस्तु में 'दिनकर' जी अपनी ओर से भावाभिव्यक्ति के लिए कही भी हस्तक्षेप नहीं करते—घटनायें चाहे प्रत्यक्ष घटित हो रही हों अथवा सूचित की जा रही हों, वे विविध पात्रों के कथोपकथनों या कार्यकलापों के माध्यम से ही घटित या सूचित होती है।

किन्तु यह सब होते हुए भी 'उर्वशी' को नाटक की संज्ञा नहीं दी जा सकती। इसके अनेक कारण हैं। नाटक में कथावस्तु की विविधता और विशदता अपेक्षित होती है। उर्वशी की कथा में इन दोनों तत्वों का अभाव है। जीवन के वैविध्य के स्थान पर जीवन की केवल एक समस्या-काम—को ही इस काव्य में प्रस्तुत किया गया है। दुर्भाग्य से समाधान इस समस्या का भी नहीं हुआ है। इसके अतिरिक्त इसमें चितन की गम्भीरता अधिक है जिसमें कथा का प्रवाह टूट गया है। नाटक में इस प्रकार के गहन चिन्तन की आवश्यकता नहीं होती है।

किन्तु इसकी अभिनेयता में सबसे अधिक बाधक तत्व यह है कि पाँचवें अंक को छोड़कर कार्य-व्यापार नाम-मात्र को ही है। घटनायें घटित होने के स्थान पर सूचित अधिक की गई है। फिर कथोपकथन केवल लम्बे ही नहीं अपितु भाषण जैसे हो गए हैं। रंगमंच के लिए वर्जित (चुम्बन, सम्भोग आदि) दृश्यों के अतिरिक्त ऐसे दृश्यों की भी योजना है जिनका रंगमंचीकरण लगभग असम्भव है। उदाहरण के तौर पर प्रथम अंक के आरम्भ में सूत्रधार और नटी बसन्त ऋतु की शुक्ल द्वादशी की चन्द्रोज्ज्वल प्रभा में उपवन की जिस प्राकृतिक सुषमा का वर्णन करते हैं तथा उसमें अप्सरायें जिस तरह से आकाश से अवतरित होती और उड़कर जाती हैं, इन सबका रंगमंच पर दिखाना अत्यधिक कठिन कार्य है। हाँ, इनको सिनेमाघरों में फिल्म के रूप में बहुत प्रभावशाली ढंग से दिखाया जा सकता है। कार्य-व्यापार की दृष्टि से प्रस्तावना के रूप में लिखे गए इस अंक में अप्सराओं के स्वर्ग और भू-लोक तथा अप्सरा और मानवी की उत्कृष्टता आदि से सम्बन्धित विवाद के अतिरिक्त केवल यह एक सूचना प्राप्त होती है कि उर्वशी जिसको पुरुरवा एक दैत्य से छुड़ाया था राजा की याद में प्राण त्यागने को तैयार है। इसीलिए चित्रलेखा उसे राजा के उपवन में छिपा आई है और वहीं रानी औशीनरी चन्द्राराधना को आई है। 'उर्वशी' और

कालिदास के नाटक 'विक्रमोर्वशी' में यह अन्तर है कि कालिदास के नाटक में इन सब घटनाओं को घटित होते दिखाया गया है, किन्तु 'दिनकर' जी ने उनको सूच्य बनाकर उनकी प्राणवत्ता ही समाप्त कर दी है।

दूसरा अंक भी व्यापार-शून्य है, तथा उसमें औशीनरी का अपनी सखियों से पुरुष मनोविज्ञान पर वाद-विवाद और कुलवधुओं की हीन स्थिति का रोना ही चलता रहता है। प्रेक्षकों को एक शिकायत रहती है कि वे 'रूप-राशि उर्वशी' और निपुणिका के शब्दों में 'कार्तिकेयसम शूर', 'देव-गुरु सम-ज्ञानी', 'रवि-सम तेजवन्त', 'इन्द्र-सम प्रतापी-मानी' और 'कुसुमायुध से अनुरागी' पुरूरवा की एक झलक तक नहीं प्राप्त कर पाते। उन्हें यह सुनकर ही संतोष करना पड़ता है कि राजा उर्वशी के समक्ष अपने विरह-काल की मर्मव्यथायें व्यक्त कर रहे हैं।

तीसरा अंक काव्य-गुणों की दृष्टि से अद्वितीय है, किन्तु नाटकीय दृष्टि से इस अंक के लम्बे-लम्बे सम्वाद तथा परिरम्भण एवं सम्भोग आदि के दृश्य इसे अभिनेयता ही प्रदान करते हैं। इसी भाँति उर्वशी और पुरूरवा का गम्भीर दार्शनिक चिन्तन भी इसकी नाटकीयता में बाधक है। चौथे अंक में भी कार्य या क्रिया के स्थान पर प्रतिक्रियाओं के उल्लेख की प्रधानता है। महर्षि-च्यवन को कही भी रंगमंच पर नहीं दिखाया जाता है यद्यपि उनके माध्यम से स्त्रियों के आकर्षण की दुर्निवार शक्ति का प्रतिपादन कराया जाता है। आजकल की विकसित फिल्मों की टेक्नीक के माध्यम से तो ऐसी दृश्य-योजना की जा सकती है, जिसमें च्यवन और सुकन्या का प्रसंग घटित होते हुए भी दिखाया जा रहा हो और साथ ही वह चित्रलेखा, को उस विगत प्रसंग का वर्णन सुना रही हो। किन्तु नाटक की दृष्टि से यह उपयुक्त नहीं है। इसके विपरीत चित्रलेखा, सुकन्या और उर्वशी का परस्पर ध्वंग-विनोद, उर्वशी का पति और पुत्र में से एक को चुनने सम्बन्धी मानसिक अन्तर्द्वन्द्व तथा आयु को खिलाते हुए उसके भावी जीवन-सम्बन्धी उर्वशी और सुकन्या की कल्पनायें, चौथे अंक को पहले तीन अंकों की अपेक्षा अभिनय की दृष्टि से अधिक उपयोगी बना देती है।

पाँचवें अंक के पूर्वार्द्ध में नाटकीयता के अनेक तत्व विद्यमान हैं। इसमें पात्रों की बहुलता है और कार्य-व्यापार की क्षिप्रता भी। उर्वशी की विह्वलता का अभिनय, जब पुरूरवा अपने स्वप्न-वृत्तान्त को सुनाता है, विशेष रूप से दर्शकों को आकृष्ट कर सकता है। यद्यपि नरेश शर्मा का मत भिन्न है—

“उस दशा में ध्यान बस इस बात का रखना होगा कि शाप की परिणति से घबराई उर्वशी कहीं थोड़ी-थोड़ी देर पर कवि के निर्देशानुसार तीन बार पानी न माँग बैठे। सतही भावुकता का अभिनय कभी-कभी रूलाने की जगह हँसाने का साधन बन जाता है।”

पुरुषवा का स्वर्ग पर आक्रमण करने का प्रस्ताव, उनके प्रारब्ध द्वारा उन्हें आकाशवाणी के समान प्रबोधित करना आदि घटनायें भी नाटकीय दृष्टि से उपयुक्त हैं। किन्तु इस अंक के उत्तरार्द्ध में पुनः क्रिया-कलापो के स्थान पर चिन्तन की प्रधानता है।

अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि नाटक के अनेक तत्व उपलब्ध होने पर भी उर्वशी को सफल नाटक नहीं कहा जा सकता। 'दिनकर' जी ने 'उर्वशी' को नाटक का रूप देने का प्रयत्न किया है, यद्यपि इसमें उन्हें आशिक सफलता ही मिली है।

अब देखना यह है कि 'उर्वशी' गीति-नाट्य के रूप में सफल रचना है या नहीं, क्योंकि कुछ आलोचक इसे गीति-नाट्य मानते हैं। इसके लिए यह आवश्यक है कि पहले यह देख लिया जाये कि गीति-नाट्य से साहित्य में क्या तात्पर्य है। 'हिन्दी-साहित्य-कोष' के अनुसार "गीति-नाट्य के आधुनिक रूप का जिसकी भाषा गीतात्मक होती है सर्व-प्रथम १९५४ में जन्म हुआ जबकि रियूसिनी-लिखित 'डेफने' को यूनानी दुःखान्त नाटकों को पुनरुज्जीवित करने के उद्देश्य से रंगमंच पर प्रस्तुत किया गया था। इन गीति-नाट्यों में संगीत, चित्रकारी, गीत-रचना, नृत्याभिनय, मंच-प्ररचना इत्यादि कलाओं के संयोजन से प्रेक्षकों पर मोहक प्रभाव-सृष्टि की जाती थी। फ्रांस में गीति-नाट्यों की बड़ी उन्नति हुई। वहाँ इनमें यथार्थवादी प्रवृत्तियों का समावेश हुआ तथा इनके अनेक रूप प्रचलित हुए। इनमें सुखान्त, भावात्मक एवं यथार्थवादी सभी प्रकार के विषय उठाये गये हैं।" (हिन्दी-साहित्य-कोष, भाग १, पृ० २६६)

गीति-नाट्य की प्रमुख विशेषतायें निम्नलिखित हैं—

१. इनमें संगीत, चित्रकारी, गीति-रचना, नृत्याभिनय और मंच-प्ररचना की कलाओं का सम्मिश्रण होता है।

२. इनके लिए सुखान्त या दुःखान्त, भावात्मक अथवा यथार्थवादी आदि किसी भी प्रकार के विषय लिए जा सकते हैं।

३. इनके कथ्य को प्रस्तावना, सवाद, गीति और नृत्य द्वारा अभिव्यजित किया जाता है। इसमें समस्त कथा गीतों के माध्यम से प्रस्तुत की जाती है।

४. इनके मूक अभिनयात्मक एवं संवादात्मक दो प्रभेद होते हैं।

५. मूक-अभिनयात्मक गीति-नाट्यों में वाद्ययन्त्रों, ध्वनियों के अनुरूप ही मूकाभिनय करके भावाभिव्यक्ति की जाती है।

६. संवादात्मक गीति-नाट्यों में पात्रों के काव्यात्मक सवादों में जो कथा-भाग अवर्णित रह जाता है, उसकी सूचना या तो गायक-मण्डली के द्वारा दी जाती है, अथवा नट या नटी के भावाभिनय द्वारा। अतः इनके प्रदर्शन-विधान में तीन दलों का होना आवश्यक है—(i) अभिनेता-अभिनेत्री, (ii) भाव-नट या भाव-नटी, तथा (iii) गायक-वादक मण्डली के दो दल। गायकों में से एक पात्र प्रतिनिधि गायक होता है जब कि

अन्य समवेत स्वर में गाने वाले । यह सब यूनानी-नाटकों में कोरस (chorus) का ही दूसरा स्वरूप प्रतीत होता है ।

कुल मिलाकर गीति-नाट्य के निम्न तत्व होते हैं—

१. इसमें भावों का प्राधान्य होता है ।
२. कथा के सौन्दर्य को कम महत्व दिया जाता है और इसके विपरीत भावाभिव्यञ्जना का अधिक महत्व है ।
३. कठोर तथा पक्ष घटनाओं एवं रसों का बहिष्कार किया जाता है ।
४. जीवन के कोमल, सूक्ष्म तथा भावात्मक चित्रण प्रमुखतः दिये जाते हैं ।
५. बाह्य-चेष्टाओं का अभाव होता है । तथा मनोभावों के चित्रण पर बल दिया जाता है ।
६. अन्तर्द्वन्द्व की प्रधानता होती है ।
७. प्रकृति के रम्य रूप का चित्रण प्रमुखतः किया जाता है ।
८. गीति-नाट्य में पात्रों की संख्या सीमित होती है ।
९. इसमें यत्र-तत्र नाटकीय संकेत प्राप्त होते हैं ।
१०. कुल मिलाकर चार या पाँच दृश्य होते हैं ।
११. इसमें अभिनेयता आवश्यक नहीं होती ।
१२. इसमें संगीतात्मकता की प्रधानता होती है ।

डा० दशरथ ओभा अपनी पुस्तक 'हिन्दी नाटक उद्भव और विकास' में गीति-नाट्य को आठ सौ वर्ष से निरन्तर चली आ रही रास शैली से विकसित एक नाट्य-शैली मानते हैं । नाटक और गीति-नाट्य में अनेक गुण समान होने पर भी आधार-भूत अन्तर है तथा मौलिक भेद है—नाटक में बाह्य-संघर्ष का आयोजन आन्तरिक-संघर्ष के उद्दीपनार्थ होता है, जब कि गीति-नाट्य में बाह्य-संघर्ष की अपेक्षा आन्तरिक संघर्ष ही प्रमुखतः प्रदर्शित किया जाता है । गीतिनाट्य का समस्त कथानक गेय-गुण से सम्पन्न होता है और संगीतात्मक अभिनय से परिपूरित होता है । इसीलिए सभी नाटक लक्षणों से युक्त इस काव्य-रूप को आन्तरिक अन्तर्द्वन्द्व आतिशय्य तथा गीतात्मक गुणाधिक्य के कारण नाटक कहना न तो समीचीन ही है और न उपयुक्त ही । अतः इस प्रकार के काव्य-रूप को गीति-नाट्य कहना सर्वथा सार्थक तथा उचित है ।

'उर्वशी' के अध्ययन से विदित होता है कि इसमें गीति-नाट्य के लगभग सभी तत्व पूर्णतया मिलते हैं । 'कुरुक्षेत्र', 'रश्मिरथी' आदि की भाँति यह भी भाव-प्रधान रचना है । ऐसा अनुभव होता है कि 'दिनकर' जी इस काव्य के रूप में कामाध्यात्म पर एक शोध-प्रबन्ध लिख रहे हों । कथानक का अभाव है, कार्य-व्यापार जैसा पहले कहा जा चुका है, नगण्य है । इसी प्रकार जीवन की कठोर, कलुषित, द्वेषात्मक आदि घटनाओं का इसमें वर्णन नहीं है । सम्पूर्ण काव्य में प्रेम की नितान्त कोमल

अनुभूति को बहुत ही आकर्षक और सुन्दर भाषा में व्यक्त किया गया है । क्योंकि यह भाव-प्रधान रचना है । अतः यहाँ बाह्य चेष्टाओं को बहुत कम दिखाया गया है । मनोभावों के चित्रण पर ही ध्यान केन्द्रित किया गया है । परिणामस्वरूप, पात्रों में अन्तर्द्वन्द्व की प्रधानता है । क्योंकि जीवन के कोमल पहलुओं के चित्रण ने ही मुख्यतः यहाँ स्थान पाया है अतः बाह्य संघर्ष का प्रश्न नहीं उठता । 'उर्वशी' का नायक पुरूरवा स्वयं अन्तर्द्वन्द्व का शिकार है । उदाहरण के लिए वह उर्वशी से कहता है—

रूप का रसमय निमन्त्रण

या कि मेरे ही रुधिर की वह्नि
मुझको शान्ति से जीने न देती ।

हर घड़ी कहती, उठो,

इस चन्द्रमा को हाथ से धर कर निचोड़ो,

पान कर लो यह सुधा, मैं शान्त हूँगी,

अब नहीं आगे कभी उद्भ्रांत हूँगी ।

किन्तु, रस के पात्र पर ज्यों ही लगाता हूँ अधर को,

घूंट या दो घूंट पीते ही

न जाने, किस अतल से नाद यह आता,

“अभी तक भी न समझा ?

दृष्टि का जो पेय है, वह रक्त का भोजन नहीं है ।

रूप की आराधना का मार्ग आलिंगन नहीं है ।”

टूट गिरती हैं उमंगें,

बाहुओं का पाश हो जाता शिथिल है ।

अप्रतिभ मैं फिर उसी दुर्गम जलधि में डूब जाता,

फिर वही उद्विग्न चिन्तन,

फिर वही पृच्छा चिरन्तन,

‘रूप की आराधना का मार्ग

आलिंगन नहीं तो और क्या है ?

स्नेह का सौंदर्य को उपहार

रस चुम्बन नहीं तो और क्या है ?

(उर्वशी, पृ० ४८, ४९)

गीति-काव्य का एक और प्रमुख तत्व है प्रकृति के रम्य रूप का चित्रण । यह पहले ही दिखाया जा चुका है कि 'उर्वशी' में 'दिनकर' जी ने प्रकृति के कोमल स्वरूप का बड़ा ही मनोहारी चित्रण किया है । पहले अंक में चन्द्रिका चारों ओर फैली है, अप्सरायें स्वर्ग से उतर रही हैं, सुन्दर ध्वनि चारों ओर व्याप्त है । इसी प्रकार अनेक सुन्दर प्राकृतिक वर्णन 'उर्वशी' में उपलब्ध होते हैं । उनके उदाहरण यहाँ देने की आवश्यकता नहीं है । इसी प्रकार एक गीति-नाट्य की भाँति 'उर्वशी' में भी पात्रों

की संख्या सीमित है। यथार्थ में मुख्य रूप से तो दो ही पात्र हैं—पुरूरवा और उर्वशी। अन्य पात्र गौण हैं। किन्तु इन सबकी भी संख्या अधिक नहीं है। गीति-नाट्य के अन्य तत्व जैसे नाटकीय संकेत का होना, चार या पाँच अंकों का होना आदि भी इस रचना में प्राप्त होते हैं। जहाँ तक संगीतात्मकता का प्रश्न है कई स्थानों पर समवेत गानों का समावेश अत्यधिक आकर्षक बन पड़ा है।

पुनः जैसे 'उर्वशी' न पूर्णरूपेण महाकाव्य है, न नाटक, इसी भाँति हम इसे पूर्णतः गीति-नाट्य भी नहीं कह सकते। इसका प्रथम कारण है कि इसमें मंच-प्ररचना का निर्देश नहीं मिलता है और द्वितीय संगीत और नृत्याभिनय को प्रथम अंक के अतिरिक्त अन्यत्र समुचित स्थान नहीं मिला है। प्रथम दो अंकों के तुकान्त तथा बाद के अंकों के अतुकान्त सवादों को पद्य या काव्य की कोटि में रखा जा सकता है किन्तु गीतों की में नहीं। अतः इसे गीति-नाट्य के स्थान पर संवादात्मक-पद्य-नाटक कहना उचित होगा। वास्तविकता यह है कि संवादात्मक गीति-नाट्यों के भी भावनट या भावनटी, तथा गायक-वादक मण्डली को 'उर्वशी' में कोई स्थान नहीं मिला है। यही कारण है कि मुख्य पात्रों द्वारा अवर्णित घटनाओं की कोई भी सूचना भावाभिनय या गीतों द्वारा नहीं मिल पायी है। अतः श्री सुमित्रानन्दन पन्त के शब्दों में—“अपने काव्य-रूपको को मैं नाटक न कहकर कथोपकथन-प्रधान श्रव्य-काव्य ही की संज्ञा दूँगा।” 'उर्वशी' को कथोपकथन-प्रधान श्रव्य-काव्य ही कहना उचित होगा।

जहाँ तक इसकी अभिनेयता-अनभिनेयता का प्रश्न है कोई एक मत निर्धारित नहीं किया जा सकता है। इस समस्या के समाधान के लिए सबसे उपयुक्त कार्य प्रसिद्ध रग-शिल्पी श्री बीरेन्द्र नारायण की 'उर्वशी' की अभिनेयता-सम्बन्धी मान्यतायें उद्धृत करना होगा। उनका मत है कि 'उर्वशी' के रंगमंचीकरण के लिए यह आवश्यक है कि उसकी कथावस्तु में कुछ परिवर्तन किया जाय। उनके अनुसार एक परिवर्तन यह होना चाहिए कि च्यवन की कथा को निकाल दिया जाये। वह लिखते हैं—“पुरूरवा, उर्वशी, एलवंशी, आयु उसका जन्म, लालन-पालन, राज्याभिषेक और अन्ततः औशीनरी का आयु के रूप में पुत्र पाकर राजमाता बनना मेरे नाट्य-प्रदर्शन का कथानक सूत्र है। इसलिए नाटक का अन्त भी मैंने वही कर दिया है जहाँ औशीनरी आयु को छाती से लगा लेती है।” श्री नारायण प्रथम अंक में चित्रित अप्सराओं के स्वर्गावतरण के समय के समूह-गान, पुरुष की वेदना, नारी के विभिन्न रूप और उनके महत्त्व का वर्णन आदि स्थलों को भी निकाल देना चाहते हैं। उनकी योजना यह है कि अप्सराओं के वार्तालाप में उर्वशी और पुरूरवा सम्बन्धी लम्बे वार्तालाप के पश्चात् वे द्वितीय अंक के उस प्रसंग के स्थान पर जिसमें औशीनरी और सखियाँ पुरुष-मनोविज्ञान के सम्बन्ध में वार्तालाप करती हैं, तीसरे अंक के उस दृश्य को दिखाना चाहते हैं जिसमें प्रेमी-प्रेमिका विलास-मग्न हैं, और पुरूरवा के इस कथन—“आग के बदले मुझे सन्तोष बोलो कौन देगा?” को पहले स्वगतभाषण की तरह कहलवा कर, उसे फिर दर्शकों से तथा

उसके पश्चात् उर्वशी के प्रति कहलवाना चाहते हैं। उनका मत है कि इस दृश्य का अन्त पुरुरवा द्वारा उर्वशी की ओर यह कहते हुए बढ़ने—“मैं तुम्हारे वक्ष पर धर सीस मरना चाहता हूँ” तथा उर्वशी की आश्वासन-भरी पंक्तियों के साथ होना चाहिए।

तृतीय अंक के इस दृश्य के मध्य में वे द्वितीय अंक को बहुत काट-छाँटकर इस रूप में प्रस्तुत करना अच्छा समझते हैं, जिसमें व्यथामयी औशीनरी और पुरुरवा का ध्यान सन्तान-कामना की ओर जाता है। इसी प्रकार वे तीसरे अंक (जिसको वे तीन दृश्यों में बाँटना उपयुक्त समझते हैं) के द्वितीय दृश्य में उर्वशी और पुरुरवा के प्रेम के प्रगाढ़ होने, तथा तीसरे दृश्य में उनके मानस के ऊर्ध्व-गमन विषयक प्रसंगों को दिखाना उपयुक्त समझते हैं। उनका मत है कि तीसरे अंक की घटनाओं के अभिनय तथा निर्देशन के लिए अत्यधिक जागरूकता की आवश्यकता है। दूसरा कारण है कि घटनास्थल और वर्तमान की कुण्ठाओं में इतनी विषमता है कि इस दृश्य को जैसे का तैसा दिखाने में तो इसके अशोभन बन जाने की सम्भावना है, अथवा उसको तोड़-मोड़ कर दिखाने में उसकी मूल भावना ही नष्ट हो जायेगी। वे कहते हैं—“इस अंक का निर्देशन तलवार की धार है।” चौथे और पाँचवें अंक के सम्बन्ध में उनका विचार है कि चौथे में से च्यवन के आख्यान को तथा पाँचवें में से औशीनरी द्वारा आयु को छाती से लगाने के बाद के प्रसंग को निकालने के अतिरिक्त वे कोई परिवर्तन नहीं करना चाहते।

इस विवेचन से स्पष्ट होता है कि ‘उर्वशी’ जिस रूप में यह है। सफलतापूर्वक रंगमंच के योग्य नहीं है। हाँ, यदि प्रथम अंक की भाँति अन्य अंकों में भी समवेत गानादि की योजना के साथ-साथ छोटे-छोटे कथोपकथन होते तो इस रचना को ‘रेडियो रूपक’ के रूप में अच्छी प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता था। वर्तमान रूप में यह ‘रेडियो-रूपक’ की कोटि में भी सफलता से नहीं रखा जा सकता, क्योंकि उसके मुख्य-तया तृतीय एवं सामान्यतया सभी अंकों में लम्बे-लम्बे कथोपकथन हैं, तथा आगे के अंकों में श्रोताओं के लिए मनोरंजन के लिए संगीत का समुचित पुट नहीं है, तथा समस्त रचना भी ‘रेडियो-रूपक’ के आकार के लिए बड़ी है। ‘दिनकर’ जी ने डा० रणवीर राँगा से एक भेंट-वार्ता में स्वयं स्वीकार किया कि उन्होंने ‘उर्वशी’ की रचना का प्रारम्भ ‘रेडियो-रूपक’ के रूप में किया था। किन्तु प्रथम अंक समाप्त कर देने के पश्चात् उन्हें अनुभव हुआ कि रचना को ‘रेडियो-रूपक’ का रूप नहीं दिया जा सकेगा। यही कारण है कि उन्होंने इसे ‘सम्वाद-काव्य’ का रूप दे दिया। उन्होंने डा० राँगा से यह कहा—

✓ “शायद आपका यह सोचना ठीक हो कि अंकबद्ध होने के बदले काव्य यदि सर्गबद्ध हुआ होता तो मुझे स्वतन्त्रता अधिक रहती।” ✓

(सृजन की मनोभूमि, पृ० १११)

काश 'दिनकर' जी ने समस्त काव्य को सर्गबद्ध किया होता ! इससे उनको भावाभिव्यक्ति की अधिक स्वतन्त्रता मिलती और ऐसी हालत में 'उर्वशी' के तीसरे अंक के उर्वशी और पुरुरवा के आठ-आठ और उससे भी अधिक पृष्ठों तक चलने वाले लम्बे सम्वादों के विषय में डा० देवीशंकर अवस्थी को यह आक्षेप लगाने की आवश्यकता न होती—

“पढ़ते-पढ़ते ऐसा लगता है कि सामने माइक्रोफोन जरूर रखा है और आमने-सामने दो चोटियों पर उर्वशी और पुरुरवा खड़े होकर अपने ध्वनि-विस्तारक यन्त्रों पर धारा-प्रवाह बोलते चले जा रहे हैं और आवश्यकता पड़ जाती तो कामाध्यात्म पर ही नहीं देशभक्ति और राष्ट्रीय संकट पर भी इसी गति से बोल जाते ।” ✓

(‘कल्पना’ जनवरी १९६२, पृ० ६८)

इस प्रकार विभिन्न आलोचकों के मतों का अध्ययन करने के पश्चात् तथा विभिन्न साहित्य-विधाओं के आवश्यक तत्वों के आधार पर 'उर्वशी' के विवेचन के पश्चात् यह मत निर्धारित करने में कठिनाई नहीं होती है कि 'उर्वशी' काव्य या गीति-नाट्य तो है, किन्तु यथार्थ में यह न सफल काव्य है और न सफल गीति-नाट्य और न सफल नाटक । हाँ, यह सत्य है कि इसमें श्रव्य और दृश्य दोनों ही काव्य विधाओं के तत्वों का असन्तुलित सम्मिश्रण है ।

‘उर्वशी’ काव्य में चरित्र-चित्रण

भारतीय साहित्याचार्यों के अनुसार चरित्र-चित्रण ही नाटक का सर्वप्रधान और स्थायी तत्व है। यद्यपि पाश्चात्य आलोचक, जैसे अरस्तू, कथावस्तु को चरित्र-चित्रण से अधिक महत्व प्रदान करते हैं। उनके अनुसार कथावस्तु ही नाटक की आत्मा है। इस विचार में न उलझकर हम यह मानते हैं कि ‘उर्वशी’ एक गीति-नाट्य है और इसमें चरित्र-चित्रण परमावश्यक एवं महत्वपूर्ण अंग है। अतः यह आवश्यक ही है कि ‘उर्वशी’ में अंकित पात्रों के चरित्र पर दृष्टिपात किया जाय।

यों तो ‘उर्वशी’ में कई पुरुष और स्त्री पात्रों का उल्लेख किया गया है, किन्तु उनमें केवल पाँच ही प्रमुख हैं। ये हैं—पुरूरवा, उर्वशी, औशीनरी, च्यवन और सुकन्या। अन्य पात्र जैसे रम्भा, सहजन्त्या, मेनका, चित्रलेखा, मदनिका, निपुणिका और आयु अपेक्षाकृत गौण हैं। अतः उनका उल्लेख यहाँ आवश्यक प्रतीत नहीं होता।

‘उर्वशी’ के नायक पुरूरवा हैं। वे ऐलवंशीय थे तथा प्रतिष्ठानपुर के अधिपति थे। डा० विमलकुमार जैन के अनुसार वे धीरललित नायक हैं। कवि ‘दिनकर’ ने पुरूरवा को परम्परानुकूल परम पराक्रमी, सुन्दर एवम् ज्ञानी चित्रित किया है। औशीनरी और निपुणिका के वार्तालाप में पुरूरवा का परिचय निम्न प्रकार से दिया गया है—

कार्तिकेय-सम शूर, देवताओं के गुरु-सम ज्ञानी,
रवि-सम तेजवन्त, सुरपति के सदृश, प्रतापी, मानी;
धनद-सदृश संगृही, व्योमवत् मुक्त, जलद-निभ त्यागी
कुसुम-सदृश मधुमय, मनोज्ञ, कुसुमायुद्ध से अनुरागी ॥

(पृ० ३६)

निपुणिका के इस कथन से स्पष्ट होता है कि पुरूरवा कार्तिकेय के समान शूरवीर, बृहस्पति के समान ज्ञानी, रवि के सदृश तेजोमय, इन्द्र के समान प्रतापी, कुबेर सदृश सम्पन्न, व्योमवत् स्वतन्त्र, बादल के समान त्यागी, पुष्प के समान सरस एवं

मनोज्ञ तथा कामदेव के समान अनुरागी थे । वे शरीर से अत्यधिक सुन्दर थे । उनका शरीर ऐसा सुन्दर एवं सुडौल था कि वे देखने वालों को सजीव कनक-प्रतिमासा प्रतीत होता था, जिसमें से एक विभा-सी फूट रही थी । तृतीय अंक में उर्वशी राजा के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए कहती है—

यह ज्योतिर्मय रूप ? प्रकृति ने किसी कनक पर्वत से,
काट पुरुष-प्रतिमा विराट् निज मन के आकारों की,
महाप्राण से भर उसको, फिर भू पर गिरा दिया है;
स्यात्, स्वर्ग की सुन्दरियों, परियों को ललचाने को ॥ (पृ० ७६)

राजा केवल सुन्दर ही नहीं अपितु अद्भुत बलशाली भी थे । अपने अतुल पराक्रम के कारण ही उन्होंने उर्वशी को अपहर्ता दैत्य से मुक्ति दिलाई थी; और परिणामस्वरूप वह उन पर मुग्ध हो गई थी । सहजन्या रम्भा को राजा के इस पराक्रम का परिचय इस प्रकार देती है—

पुकार हमारी सुनी एक राजा, ने,
दौड़ पड़ वे सद्य उर्वशी को अविलम्ब बचाने ।
और उन्हीं नरवीर नृपति के पौरुष से, भुजबल से,
मुक्त हुई उर्वशी हमारी उस दिन काल-कवल से । (पृ० १२)

‘दिनकर’ जी ने पुरुरवा का यह रूप पौराणिक आधार पर चित्रित किया है । ब्रह्म, ब्रह्माण्ड एवं हरिवंश आदि पुराणों में पुरुरवा को प्रायः इन्हीं गुणों से परिपूरित दिखाया गया है । हरिवंश पुराण में लिखा है—

बुधस्य तु महाराज विद्वान् पुत्रः पुरुरवाः ।
तेजस्वी दानशीलश्च यज्वा विपुलदक्षिणः ॥
ब्रह्मवादी पराक्रान्तः शत्रुभिर्युधि दुर्जयः ।
आहर्ता चाग्निहोत्रस्य यज्ञानां च महोपतिः ॥
सत्यवादी पुण्यमतिः काम्यः संवृत मंथुनः ।
अतीव त्रिषु लोकेषु यशसा प्रतिमस्तदा ॥

(अ० २६, श्लोक १-३)

(महाराज ! बुध के विद्वान् पुत्र पुरुरवा हुए, जो तेजस्वी, दानशील, यज्ञकर्त्ता, बहुत-सी दक्षिणा देने वाले ब्रह्मवादी, युद्ध में पराक्रम दिखाने वाले और शत्रुओं से दुर्जय थे । वे राजा अग्निहोत्र और यज्ञों के अनुष्ठान करने वाले थे । राजा पुरुरवा सत्य-भाषी और पवित्र विचार वाले थे । उनका रूप बड़ा सुन्दर था और वे संवृत से सहवास करने वाले थे । वे अपने समय में तीनों लोकों में अनुपम यशस्वी थे ।)

राजा पुरुरवा अत्यधिक पराक्रमी होने पर भी अन्य राजाओं के स्वातन्त्र्य का अपहरण करने में विश्वास नहीं करते थे । उनके पुण्य प्रताप एवम् पराक्रम के कारण

उनके राज्य की सीमाएँ उत्तरोत्तर विस्तृत होती जाती थी। उनको प्रत्येक सुख, सुयश, विजय एवम् सिद्धि अनायास ही प्राप्त हो जाती थी—

नहीं बढ़ाया कभी हाथ, पर के स्वाधीन मुकुट पर,
न तो किया संघर्ष कभी, पर की वसुधा हरने को।
तब भी प्रतिष्ठानपुर वन्दित है सहस्र मुकुटों से,
और राज्य-सीमा दिन-दिन विस्तृत होती जाती है।
इसी भाँति, प्रत्येक सुयश, सुख, विजय, सिद्धि जीवन की
अनायास, स्वयमेव प्राप्त मुझको होती आयी है।

(तृतीय अंक पृ० ४६)

राजा के सर्वगुण सम्पन्न होने के कारण, उर्वशी अनायास ही उनके प्रेम-पाश में आबद्ध हो गई। वे विवाहित थे, औशीनरी उनकी पत्नी थी। किन्तु इस पर ध्यान न देकर उन्होंने उर्वशी से प्रेम किया। परिणामस्वरूप उनमें धीरोदात्त नायक के गुण उपलब्ध नहीं होते हैं। चित्रलेखा उनको साधारण राजाओं की कोटि में रखते हुए उनके इस रूप का वर्णन इस प्रकार करती है—

एक घाट पर किस राजा का रहता बंधा प्रणय है ?
नया बोध श्रीमन्त प्रेम का करते ही रहते हैं,
नित्य नई सुन्दरताओं पर मरते ही रहते हैं।
सहर्षमिणी गेह में आती कुल पोषण करने को,
पति को नहीं नित्य नूतन मादकता से भरने को।

(प्रथम अंक पृ० २२)

काव्य अध्ययन करने से ऐसा प्रतीत होता है कि ‘दिनकर’ जी का पुरूरवा एक राजा और वीर ही नहीं, अपितु एक कवि और प्रेमी अधिक है। उसको उर्वशी के प्रेम में क्षुब्ध प्रगाढता से निमग्न दिखाया गया है कि उनके संयोग और वियोग के दोनों ही पक्षों में अत्यधिक उत्कण्ठा, विकलता, आतुरता, उन्मत्तता तथा आसक्ति दृष्टि-गोचर होती है। प्रारम्भ से अन्त तक उनका प्रेमी रूप ही प्रमुखता लिये हुए है। जब उर्वशी पहले-पहल उनसे मिलने उद्यान में आई तो वे मिलने के लिए व्याकुल हो उठे। वे उसी समय से विकल थे, जब से उन्होंने उर्वशी को दैत्य से स्वतन्त्र कराया था। हर क्षण उन्हें उर्वशी का अनुपम सौन्दर्य स्मरण हो आता था तथा उसे प्राप्त करने को वे असाधारण रूप से उत्कण्ठित थे—

नक्षत्रों के बीज प्राण के नभ में बोलने वाली !
ओ रसमयी वेदनाओं में मुझे डुबोलने वाली !
स्वर्गलोक की सुधे! अरी, ओ, आभा नन्दन वन की।
किस प्रकार तुझ तक पहुँचाऊँ पीड़ा, मैं निज मन की ?

(अंक १, पृष्ठ २४)

सम्पूर्ण काव्य उनके प्रेम की प्रगाढ़ता को लेकर चलता है। संयोग और वियोग—दोनों ही पक्षों के चित्र अत्यन्त मार्मिक रूप में दिये गये हैं। वियोग के विकल भावावेश में राजा यहाँ तक कह देते हैं—

मेरे अश्रु ओस बनकर कल्पद्रुम पर छायेँगे,
पारिजात-वन के प्रसून आहों से कुम्हलायेँगे।
मेरी मर्म-पुकार मोहनी ! वृथा नहीं जायेगी,
आज न तो कल तुझे इन्द्रपुर में वह तड़पायेगी। (पृ० २५)

संयोग के समय भी राजा की अवस्था विचित्र है। जब उद्यान में आई हुई उर्वशी से सम्मोहक चांदनी रात्रि में राजा मिलते हैं तो वह सब मर्यादायें भूल जाते हैं। उन्होंने अधीर होकर उर्वशी को अपने बाहु-पाश में भर लिया और प्रेमातुर हो इस प्रकार कहने लगे—

.....क्या उपचार करूँ मैं ?
सुख को इस मादक तरंग को कहाँ समेट धरूँ मैं ?
गहा चाहता सिन्धु प्राण का कौन अदृश्य किनारा ?
छुआ चाहती किसे हृदय को फोड़ रक्त की धारा ? (पृ० ३१)

अपने हृदय की व्याकुलता को व्यक्त करते हुये वे उर्वशी से कहते हैं—“ऐ मनोज्ञ मोहिनी ! तुम्हारे दुरन्त विरह में मैंने अनेक दुस्सह वेदनाओं को सहा। दिवा-रात्रि तेरे ही ध्यान में मैंने अनेक आतप, वर्षा एवं शीत की ऋतुओं को सतत रो-रोकर बिता दिया। आदि, आदि।” इससे राजा की आतुरता, स्मृति-विकलता, भ्रान्ति एवं उन्मत्तता आदि चित्त-विकार व्यंजित होते हैं। इसी प्रकार की वे अनेक चेष्टाएँ करते थे जिनसे उनकी कामुकता परिलक्षित होती थी। उद्यान में वे उर्वशी के पीछे-पीछे घूमते थे, उस पर हर क्षण दृष्टि गढ़ाये रखते और किसलय, पुष्प एवं पराग से उसका अंग-अंग सज्जित करते थे। राजा की इन समस्त चेष्टाओं का वर्णन निपुणिका औशी-नरी से निम्न शब्दों में व्यक्त करती है।

पर, कैसी है कृपा भाग्य की इस गणिका के ऊपर !
बरस रहा है, महाराज का सारा प्रेम उमड़ कर।
जिधर-जिधर उर्वशी घूमती, देव उधर चलते हैं,
तनिक श्रान्त यदि हुई, व्यजन पल्लव-दल से झलते हैं। (पृ० ३३)

गन्धमादन पर उर्वशी के साथ अभिसार करते समय तो उनकी स्थिति बहुत ही विचित्र हो गई थी। गन्धमादन के लावण्य-प्रफुल्ल-कानन में वह विस्मय में डूब गए थे। वह स्वयं अपनी स्थिति का वर्णन करते हुए कहते हैं—

जब से हम-तुम मिले, रूप के अगम, फुल्ल कानन में,
अनिमिष मेरी दृष्टि किसी विस्मय में डूब गयी है,

अर्थ नहीं सूझता मुझे अपनी ही विकल गिरा का;
शब्दों से बनती हैं जो मूर्तियाँ, तुम्हारे दुःख से
उठने वाले क्षीर-ज्वार में गल कर खो जाती हैं। (पृ० ४३)

किन्तु शीघ्र ही पुरूरवा के मन में कामोपभोग को लेकर द्वन्द्व उठता है। जब आलिंगन द्वारा वह रूप की आराधना करने अथवा सौन्दर्य को स्नेह का उपहार ‘रस-चुम्बन’ प्रदान करने की चेष्टा करते हैं, तभी उनके अन्तर्मन से यह आवाज उठती है—

किन्तु, रस के पात्र पर ज्यों ही लगाता हूँ अधर को,
घूँट या दो घूँट पीते ही
न जानें, किस अतल से नाद यह आता,
“अभी तक भी न समझा ?
दृष्टि का जो पेय है, वह रक्त का भोजन नहीं है।
रूप की आराधना का मार्ग आलिंगन नहीं है। (पृ० ४६)

किन्तु शीघ्र ही वे हृदय में एक दूसरी आवाज सुनते हैं—

“रूप की आराधना का मार्ग
आलिंगन नहीं तो और क्या है ?
स्नेह का सौन्दर्य को उपहार
रस-चुम्बन नहीं तो और क्या है ?” (पृ० ४६)

प्रत्येक मानव के समान पुरूरवा का भी दुर्भाग्य यही है कि उन्हें अपनी इस विचिकित्सा का उचित सामाधान नहीं मिल पाता कि ऐन्द्रियभोग ग्राह्य है अथवा त्याज्य—

पर जहाँ तक भी उड़ूँ, इस प्रश्न का उत्तर नहीं है।

...

...

..

इस व्यथा को भेलता
आकाश की निस्सीमता में
घूमता फिरता विकल, विभ्रान्त
पर, कुछ भी न पाता।
प्रश्न जो कड़ता,
गगन की शून्यता में गूँज कर सब ओर
मेरे ही श्रवण में लौट आता (पृ० ४६-५०)

अपनी जिज्ञासा का उचित परिशमन न होने पर जब वे सतृष्ण नेत्रों से इतस्ततः दृष्टि-पात करते हैं तो उन्हें अपने चतुर्दिक् मिट्टी का राग—ऐन्द्रियोपभोगों का सहजा-कर्षण—ही अधिक दिखाई पड़ता है। उनके हृदय में एक द्वन्द्व उठता है कि वह कामोपभोगों से पलायन क्यों कर रहे हैं :

यह तुम्हारी कल्पना है, प्यार कर लो ।
 रूपसी नारी प्रकृति का चित्र है सबसे मनोहर ।
 ओ गगनचारी ! यहाँ मधुमास छाया है ।
 भूमि पर उतरो,
 कमल, कर्पूर, कुंकुम से, कुटज से
 इस अतुल सौन्दर्य का शृंगार कर लो ।

(पृ० ५०)

रक्त की यह उष्णता उनको इतना काम-विवश कर देती है कि उसके समक्ष वे सर्वथा विवश-निरुपाय हो जाते हैं । वे यह समझ पाने में असमर्थ हैं कि “जिसमें सिन्धु-जैसा उद्दाम दुर्दमनीय बल है, जिसकी अपार शक्ति का चारों ओर जय-जयकार होता रहता है, जिसका वक्षःस्थल और भुजायें शिलाओं जैसी दृढ़ हैं, जिसका मस्तक सूर्य के समान देदीप्यमान रहता है, जिसके मन-प्राण सागर के समान अगम, उत्ताल और उज्ज्वल हैं, जिसके असीम बल का सामना मृगराज भी नहीं कर पाते, जिसकी अप्रति-हृत गति के समक्ष पर्वत भी कम्पायमान होकर डगमगा जाते हैं, कालसर्प की गति भी जिसके भय से रुक जाती है, जिसकी भुजाओं में पवन, गरुड़ और गजराज-जैसा बल है, जो मानव की विजय का तूर्यनाद करता है, जो अपने समय का सूर्य होकर अन्ध-तमस को विदीर्ण करता हुआ प्रकाश विकीर्ण करता है, जिसके रथ का वेग मेघों के है, जिसमें इन्द्र के वज्र को भी सहन करने की शक्ति है—वही मैं नारी-कुसुम के आगे ऊपर भी अप्रतिहत रहता असहाय अवश क्यों हो उठता हूँ ? उसके बंकिम दृक्पात एवं मधुर मुस्कान मात्र काभी सामना क्यों नहीं कर पाता ?”

कुछ तो उर्वशी के उपदेश और अशतः अपने ऊर्ध्वचेता मन के कारण पुरुरवा इस परिणाम पर पहुँचते हैं—

दाह मात्र ही नहीं, प्रेम होता है, अमृत-शिखा भी,
 नारी जब देखती पुरुष को इच्छा-भरे नयन से,
 नहीं जगाती है केवल उद्वेलन, अनल रुधिर में,
 मन में किसी कान्त कवि को भी जन्म दिया करती है ।

(पृ० ६१)

पुरुरवा प्रेम को अमृत-शिखा इस कारण समझते हैं कि प्रेमी का मन प्रेमिका के स्थूल शरीर मात्र में ही अनुबद्ध नहीं रहता, अपितु इसके अतिरिक्त सौन्दर्य की भी झलक पाने की चेष्टा करता हुआ, अन्ततः अदृश्य—असीम शक्ति को देखने में भी समर्थ होता है—

कवि, प्रेमी एक ही तत्व हैं, तन की सुन्दरता से
 दोनों मुग्ध, देह से दोनों बहुत दूर जाते हैं,
 उस अनन्त में जो अमूर्त धागों से बँधा रहा है,
 सभी दृश्य सुषमाओं की अविगत, अदृश्य सत्ता से ।

(पृ० ६२)

राजा, प्रेयसी-प्रेम की इन्द्रियोत्तर दशा में यह अनुमति करने लगता है कि वह नर-नारी न होकर उस मूल सत्ता की ही परछाइयाँ हैं जो नर-नारी अथवा देह-बुद्धि के लौकिक भावों से परे हैं ।

वह निरभ्र आकाश, जहाँ की निर्विकल्प शुषमा में,
न तो पुरुष मैं पुरुष, न तुम नारी केवल नारी हो;
दोनों हैं प्रतिमान किसी एक ही मूल सत्ता के,
देह बुद्धि से परे, नहीं जो नर अथवा नारी है ।
ऊपर जो द्युतिमान, मनोमय जीवन झलक रहा है ।

उसे प्राप्त हम कर सकते हैं तन के अतिक्रमण से । (पृ० ६३)

‘दिनकर’ जी ने पुरुरवा को एक चिन्तक के रूप में चित्रित किया है जिन्हें पौरस्त्य और पाश्चात्य दर्शनों का ज्ञान है, जो नारी शरीर और सेज को स्वर्ग का प्रतिरूप मानते हैं । वे पाश्चात्य लेखक डी० एच० लॉरेंस की भाँति ऐन्द्रिय-भोगो को हेय-त्याज्य न मानकर ईशाराधना स्वीकार करते हैं । वे ऐन्द्रिय-भोगो में निष्काम-काम तुष्टि के सिद्धान्त का मिश्रण करके, इस ओर से निश्चिन्त हो जाते हैं, कि उनका उर्वशी के साथ साहचर्य एवं सम्भोग उस अदृश्य निराकार मूल सत्ता की पूजाराधना ही है । पुरुरवा, अंग्रेज कवि रॉबर्ट ब्राउनिंग की भाँति सोचते हैं कि प्रेम जन्म-जन्मान्तरों की साध का फल होता है—

.....जो अनेक कल्पों के अधियाले में ।

तुम्हें खोजता फिरा तैर कर बारम्बार मरण को,
जन्मों के अनेक कुंजों, वीथियों, प्रार्थनाओं में,
पर, तुम मिलीं एक दिन सहसा जिसे शुभ्र मेघों पर
एक पुष्प में अमित युगों के स्वप्नों की आभा-सी ।

(पृ० ७४)

पुरुरवा के हृदय में पुत्रव्रण की भावना बड़ी प्रबल है । गन्धमादन पर्वत पर उर्वशी के साथ विहार करते समय उन्होंने औशीनरी को जो सन्देश भेजा, उसमें उनके पुत्रहीन होने की अन्तर्व्यथा का स्पष्ट उल्लेख है—

बहुत मग्न, अतिशय प्रसन्न हूँ मैं तो इस मधुवन में,
किंतु, यहाँ भी कसक रही है वही वेदना मन में ।
प्रतिष्ठानपुर में भू का स्वर्गीय तेज जगता है,
एक वंशधर बिना, किंतु, सब कुछ सूना लगता है ।
पुत्र ! पुत्र ! अपने गृह में क्या दीपक नहीं जलेगा ?
देवि ! विद्य यह ऐलवंश क्या आगे नहीं चलेगा ?

(पृ० ३६-४०)

यही कारण है कि जब उन्हें सुकन्या के साथ आये युवक के सम्बन्ध में यह ज्ञात होता है कि वह उर्वशी से उत्पन्न उनका ही पुत्र है, तो उनके हर्षातिरेक की सीमा नहीं रहती । इस खुशी के अवसर पर वे अपना सब कुछ लुटा देने को तत्पर है—

पुत्र ! अरे, मैं पुत्रवान् हूँ, घोषित करो नगर में,
जो हो जहाँ, वहीं से मेरे निकट उसे आने दो ।
द्वार खोल दो कोष-भवन का, कह दो पौर जनो से,
जितना भी चाहें, सुवर्ण आकर ले जा सकते हैं ।
ऐलवंश के महा मंच पर नया सूर्य निकला है
पुत्र-प्राप्ति का लग्न, आज अनुपम, अबाध उत्सव है । (पृ० १४१)

राजा इस अन्धविश्वास के शिकार हैं कि 'पुं'नाम नरकात् त्रायते इति पुत्रः' अतः स्वयम् के 'पु' नामक नरक से त्राता पुत्र को पाकर हर्षोन्माद के कारण संज्ञा-शून्य-से हो उठते हैं—

पुत्र ! देवि ! मैं पुत्रवान् हूँ ? यह अपत्य मेरा है ?
जनम चुका है मेरा भी त्राता पुं नाम के नरक से ?
... ..

पुत्र ! अरे, कोई तो सँभाल रखो मेरी संज्ञा को,
न तो, हर्ष से अभी विकल-विक्षिप्त हुआ जाता हूँ । (पृ० १४१)

पितृ-हृदय का समस्त ममत्व, कातरता, अर्धर्य एव हर्ष पुरुरवा की इस मार्मिक उक्ति से प्रकट हो जाता है—

पुत्र ! अरे, ओ अमृत-स्पर्श ! आनन्द-कंद नयनों के !

प्राणों के आलोक ! हाय ! तुम अब तक छिपे कहाँ थे ? (पृ० १४२)

किन्तु यही पुरुरवा शीघ्र ही पुत्र को भूल कर स्व-प्रेयसी की प्राप्ति के लिए रौद्र-रूप धारण कर लेते हैं और उस पुत्र के ममत्व को भुलाकर उसी दिन प्रवज्या ग्रहण कर लेते हैं । उर्वशी के अन्तर्धान होने के विषय में सुकन्या से यह सुनकर कि उसे भरत-शाप के कारण स्वर्ग लौटना पड़ा, पुरुरवा का क्षत्रियत्व एवं पौरुष जाग उठता है । वह उसी समय आज्ञा देते हैं कि स्वर्ग पर आक्रमण करने के लिए उनका स्यन्दन सजाया जाय, क्योंकि वे स्वर्गवासियों को यह दिखाना चाहते हैं कि भरत के शाप और उनके वाणों में से किसका ताप बढ़ कर है—

लाओ मेरा धनुष, सजाओ गगन-जयी स्यन्दन को,

सखा नहीं, बन शत्रु स्वर्गपुर मुझे आज जाना है ।

और दिखाना है, दाहकता किसकी अधिक प्रबल है,

भरत-शाप की या पुरुरवा के प्रचंड बाणों की । (पृ० १४५)

युद्धोन्माद तथा क्रोधावेश में वे यहाँ तक बढ़ जाते हैं कि वे कहते हैं कि उन्हें स्वर्ग पर आक्रमण करने के लिए रथ सजा कर जाने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वे पृथ्वी पर से अपने प्रखर-प्रज्ज्वलित बन्धिमय तीव्र बाणों से देवों के वन में आग लगाकर घमण्डी इन्द्र को उनसे द्रोह करने का परिणाम दिखा देंगे—

लाओ मेरा धनुष, यहीं से बाण साध अम्बर में
अभी देवताओं के वन में आग लगा देता हूँ।

फेंक प्रखर, प्रज्ज्वलित, बल्लिमय विशिख दृप्त मधवा को
देता हूँ नंबेछ मनुजता के विरुद्ध संगर का।

(पृ० १४५)

वे स्पष्ट घोषणा करते हैं कि यदि देवता उर्वशी को उसके जन्मस्थल समुद्र में छिपा देंगे तो भी वे सागर का मंथन करके उसे पुनः प्राप्त करके ही छोड़ेंगे। इससे वे यह सिद्ध कर देंगे कि उर्वशी का जन्म चाहे जहाँ भी हुआ हो, वह देवों की अप्सरा न होकर उनकी प्रेयसी है—

और सिंधु में कहीं उर्वशी को फिर छिपा दिया हो,
तो साजो बिकराल संन्य, हम आज महासागर को
मथकर देंगे हिला, सिंधु फिर पराभूत उगलेगा।

... ..

और मान लेंगे यह भी, उर्वशी कहीं जनमी हो,
देवों की अप्सरा नहीं, वह मेरी प्राण प्रिया है।

(पृ० १४६)

महाराज का महामात्य उन्हें देवों से युद्ध करने से रोकने का प्रयास करता है, किन्तु पुरुरवा इस समय पूर्ण क्षत्रियोन्माद में है, अतः महामात्य की हँसी उड़ाते हुए वे कहते हैं—

कायरता की बात तुम्हारे मन को सता रही है
भीत इंद्र के निठुर वज्र की, देवों की माया की;
किंतु, उसे तुम छिपा रहे हो सचिव ! ओढ़ ऊपर से
मिथ्या वसन दनुज-संगति-कल्पना-जन्य दूषण का।

(पृ० १४७)

पुरुरवा को यह आत्मविश्वास है कि देवों को परास्त करने के लिए उनको दनुजों की सहायता लेने की आवश्यकता ही क्या है, क्योंकि मनुष्य ही अपने प्रलय आह्वानों द्वारा स्वर्ग को तोड़कर भू पर गिरा सकते हैं—

जब मनुष्य चीखता, व्योम का हृदय दरक जाता है,
सहम-सहम उठते सुरेन्द्र उसके तप की ज्वाला से,
और कहीं हो क्रुद्ध मनुज कर वे आह्वान प्रलय का,
स्वर्ग, सत्य ही, टूट गगन से भू पर आ जाएगा।

क्यों लेंगे साहाय्य दनुज का ? हम मनुष्य क्या कम हैं ? (पृ० १४७)

किन्तु शनैः-शनैः उनका कोप शान्त होने लगता है, और अन्त में उन्हें यह आत्मबोध हो जाता है कि त्रिया तो मनोज छलना मात्र होती है, अतः पुरुष को उसको सम्प्राप्ति पर आल्हादित होने की जगह रो उठना चाहिए—

विपद्ब्याधिनी भी जीवन में तुमको कहीं मिली थी ?

पूछा जब तू ने भविष्य, उसने क्या बतलाया था ?

त्रिया ! हाय, छलना मनोज्ञ वह ! पुरुष मग्न हँसता है;

जब चाहिए उसे रो उठना कंठ फाड़, चिल्लाकर । (पृ० १५०)

इसी समय उनके मन में रुदन करती वह स्मृति भी सजग हो उठती है जो उन्हें उर्वशी के साथ भोगलपित रहने के समय परेशान करती थी—ये सब विक्रम-विलास मिथ्या है और मोह और माया के स्वर्णिम आचरण से आवृत होने के कारण ही दैहिक सिद्धियाँ, कामोपभोग आदि, अच्छी लगती हैं—

मृषा बंध विक्रम-विलास का, मृषा मोह माया का;

इन दैहिक सिद्धियों, कीर्तियों के कंचनावरण में,

भीतर ही भीतर, विषण्ण मैं कितना रिक्त रहा हूँ ।

अन्तरतम के रुदन, अभावों की अव्यक्त गिरा को

कितनी बार श्रवण करके भी मैंने नहीं सुना है । (पृ० १५१)

परिणामस्वरूप वे प्रवज्या ग्रहण कर लेते हैं—

पर, अब और नहीं, अवहेलना और नहीं इस स्वर की,

ठहरो आवाहन अनन्त के ! सूक निन्द प्राणों के ।

पंख खोलकर अभी तुम्हारे साथ हुआ जाता हूँ । (पृ० १५१)

प्रवज्या ग्रहण करके जीवन-रगमंच से हटने से पहले, वे अपने विनीत एवं ओजस्वी चरित्र की मधुर तेजस्वी भाकी अवश्य प्रदर्शित कर जाते हैं । जब उन्हें यह सूचना मिलती है कि वन से सुकन्या नामक तापसी और एक ब्रह्मचारी उनसे मिलना चाहते हैं तो वे गद्गद् होकर कहते हैं—

सती सुकन्या ! कीर्तिमयी भामिनी महर्षि च्यवन की ?

सादर लाओ उन्हें, स्वप्न अब फलित हुआ लगता है ।

पुण्योदय के बिना सन्त कब मिलते हैं राजा को ? (पृ० १४०)

सुकन्या के प्रति अत्यधिक आदर-भाव दिखाते हुए वे आदर्श राजाओं की भाँति महर्षि च्यवन की निर्विघ्न तपस्या चलते रहने के विषय में पूछना नहीं भूलते—

इलापुत्र मैं पुरु पदों में नमस्कार करता हूँ ।

देवि ! तपस्या तो महर्षिसत्तम की वर्धमती है ?

आश्रम-वास अविघ्न, कुशल तो है अरण्य गुरुकुल में ? (पृ० १४०)

‘विक्रमोर्वशीयम्’ में भी राजा ‘अम्ब ! अभिवादये’ कहकर अभिवादन तो करते हैं किन्तु उपर्युक्त अन्य दो प्रश्न नहीं पूछते । उर्वशी में ये दोनों प्रश्न अभिज्ञानशाकुंतलम् की निम्न पक्तियों के आधार पर ही उल्लिखित हुए हैं । जब ऋषि लोग शकुन्तला को राजा दुष्यन्त के यहाँ पहुँचाने जाते हैं तो राजा कहते हैं—

सर्वानभिवादये ।

... ..

अपि निर्विघ्न तपसो मुनयः ?

... ..

अर्थवाम्बलु में राजशब्दः । अथ भगवाँल्लोकानुग्रहाय कुशली कण्वः ।

(अंक ५, श्लोक १४ के पूर्व व पश्चात्)

(मैं आप लोगों को प्रणाम करता हूँ । कहिए ऋषियों की तपस्या में कोई विघ्न तो नहीं डाल रहा है ? आज मेरा राजा कहलाना सफल हुआ । अच्छा, यह तो बताइए कि संसार का कल्याण करने वाले भगवान कण्व तो कुशल है न !)

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम पुरुरवा के चरित्र को इन शब्दों में चित्रित कर सकते हैं—

“वे ऐसे पुरुषों के प्रतिनिधि पात्र सिद्ध हैं जो उच्च-कुल-जन्मा और प्रतिष्ठित है, जिनमें अपार शारीरिक बल, पौरुष एवं विद्या-बुद्धि के गुण हैं, काम-सम्बन्धों के विषय में जिनकी सन्तुष्टि पत्नी के शुष्क, नीरस निश्चेष्ट सहवास से नहीं होती, अपितु जिन्हें प्रेयसीसहवास ऐन्द्रियोत्तर अनुभूतियों का जनक प्रतीत होता है । वे उसे कुछ काल तक ईश्वर की आराधना का पर्याय समझने के भ्रम में भी ग्रस्त रहते हैं, किन्तु अन्ततः जिनकी आँखें खुल जाती हैं और उनकी यह धारणा बन जाती है कि रमणी-सम्प्राप्ति हँसने के स्थान पर रुदन का विषय होती है, और अपने समक्ष सांसारिक मायाजाल की गुत्थी को सुलझाने का कोई निश्चित निभ्रात समाधान न पाकर, जो जगत् से ही भाग खड़े होते हैं ।”

इससे निष्कर्ष निकलता है कि पुरुरवा का चरित्र दो विपरीत ध्रुवों का स्पर्श करता है—एक ओर उन्हें प्रेयसी-संसर्ग और कामाराधना ही जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य प्रतीत होता है, और दूसरी ओर इस लक्ष्य में निराश हो जाने पर सांसारिक जीवन के सुखों का परित्याग करना उन्हें रुचिकर है । शायद पुरुरवा के चरित्र का नर्माण करते समय ‘दिनकर’ जी की दृष्टि में कविराज विश्वनाथ द्वारा रचित निम्न श्लोक था—

“त्यागी कृती कुलीनः सुश्री को रूपयौवनोत्साही ।

दक्षोऽनुरक्त लोकस्तेजोवैदग्ध्यशीलवान्नेता ।”

(साहित्यदर्पण, तृतीय परि०, श्लोक ३०)

अर्थात् नेता को त्यागी या दानी (मेघवत्) कृती (कार्तिकेयवत्), लक्ष्मीवान् (धनद सदृश), रूप-यौवन युक्त (कुसुम व कुसुमायुधवत्), उत्साही (सुरेश सदृश), विदग्ध दक्ष (सुरगुरु सदृश), ‘अनुरक्त लोकः’ अर्थात् लोगों के अनुराग का पात्र (कुसुमायुधवत्), तेजवान् (सूर्यवत्), कुलीन एवं सुशील होना चाहिए ।

सारांश में कहा जा सकता है कि पुरुरवा का चरित्र दिनकर-काव्य की एक विशिष्ट देन है। सम्राट् होकर भी उनका धनुष—जो शौर्य और क्षत्रियत्व का प्रतीक है—पृष्ठभूमि में रहता है और इस प्रकार वह रूप मुख्य प्रतिपाद्य में बाधक नहीं बन पाता। इस रूप में वह अद्वितीय है। पाश्चात्य काव्य में शेक्सपीयर के रिचार्ड द्वितीय से उसकी तुलना की जा सकती है। किन्तु यह तुलना केवल चरित्रांकन की भव्यता तक ही सीमित है। वैसे, दोनों विचार-धाराओं में विरोध है। जहाँ पाश्चात्य धारा-एक व्यक्ति में कवि-गुण उसके सम्राट्-गुणों का व्यतिक्रम करते हैं, वहीं पौरस्त्य विचारधारा इसको प्रोत्साहित करती है। कालिदास के इसी पक्ष से प्रेरित होकर 'दिनकर' जी ने पुरुरवा की रचना की है।

उर्वशी

उर्वशी 'दिनकर' जी की इस रचना की नायिका है। यद्यपि पुरुरवा की परिणीता रानी औशीनरी है, किन्तु इस काव्य की रचना उर्वशी को लक्ष्य करके की गई है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की दृष्टि में, "कवि का अभिप्रेत विषय उर्वशी है, उद्दाम मानसवेग।" उर्वशी नाद का प्रतिनिधित्व करती है, पुरुरवा क्रिया का और औशीनरी प्रतिक्रिया का। "नाद ही इच्छा है। 'एकोऽहम् बहुस्याम' को कामना को ही प्रतीक उर्वशी है। वह अभिसारिका नायिका है और पुरुरवा के गुणों पर मुग्ध होकर वह पृथ्वी पर अभिसार करने आयी है। कविराज विश्वनाथ अभिसारिका के लक्षण निम्न प्रकार से देते हैं—

अभिसारयते कान्तं वा मन्मथवशांवदा ।

स्वयम् वाभिसरत्येषा धीरंरुवत्ताभिसारिका ।

(साहित्यदर्पण परि० ३, कारिका ७६)

'जो कामासक्त होकर स्वयं कान्त के समीप जाये या कान्त को बुलाये वह अभिसारिका कहलाती है।

उर्वशी कामवशगता है और वह स्वयं राजा के पास आई थी। राजा की निम्न उक्ति से भी उनके अभिसार की पुष्टि होती है—

जबसे हम-तुम मिले, न जाने, कितने अभिसारों में

रजनी कश्चुंगार सितासित नभ में घूम चुकी है (पृ० ४३)

उर्वशी अप्सरा थी अतः अयोनिजा थी। श्रीमद्भागवत में अप्सराओं की उत्पत्ति समुद्र-मन्थन से बताई गई है—

ततश्चाप्सरसो जाता निष्ककण्ठः सुवाससः ।

रमण्यः स्वर्गिणां बल्लुगतिलीलावलोकनैः ॥

(श्रीमद्भागवत, स्कन्ध ८, अ० ८, श्लोक ७)

अर्थात् कल्पवृक्ष के अनन्तर अप्सरायें उत्पन्न हुईं जो सुन्दर वस्त्रों से सज्जित थी तथा कण्ठ में स्वर्णहार धारण किये हुए थी। वे अपनी सुरम्यगति एवं मनोहर चित्त-वनों से देवों को अत्यन्त सुखकर हुई।

‘उर्वशी’ की भूमिका में ‘दिनकर’ जी इस सम्बन्ध में निम्न मत व्यक्त करते हैं—

“उर्वशी की उत्पत्ति के विषय में दो अनुमान हैं। एक तो यह कि जब अमृत-मन्थन के समय समुद्र से अप्सराओं का जन्म हुआ, तब उर्वशी भी उनके साथ जन्मी थी। दूसरा यह कि नारायण ऋषि की तपस्या में विघ्न डालने के निमित्त जब इन्द्र ने उसके पास अनेक अप्सरायें भेजी, तब ऋषि ने अपने ऊरु को ठोक कर उसमें से एक ऐसी नारी उत्पन्न कर दी जो उन सभी अप्सराओं से अधिक रूपमती थी। यही नारी उर्वशी हुई और उर्वशी नाम उसका इसलिए पड़ा कि वह ऊरु से जन्मी थी।

“भागीरथ की जाँघ पर बैठने के कारण गंगा का भी एक नाम उर्वशी है। देवी भागवत के अनुसार, बदरीधाम में जो देवी-पीठ है, उसे उर्वशी-तीर्थ कहते हैं। नर-नारायण की तपस्या-भूमि बदरी धाम में ही थी। संभव है, उर्वशी-तीर्थ उसी का स्मारक हो।”

(भूमिका, पृ० ‘क’)

कालिदास ने ‘विक्रमोर्वशी’ में उर्वशी की उत्पत्ति के विषय में इस प्रकार लिखा है—

“ऊरुद्भवा नरसखस्य मुनेः सुरस्त्री...” (अंक १, श्लोक ४)

(नर के मित्र नारायण की जाँघ से उर्वशी नाम की जो अप्सरा उत्पन्न हुई थी।)

‘उर्वशी’ काव्य में ‘दिनकर’ जी उर्वशी की उत्पत्ति दोनों ही प्रकार से मानते हैं। उर्वशी स्वयं कहती है—

मैं अदेह कल्पना, मुझे तुम देह मान बैठो हो;

मैं अवृक्ष्य, तुम दृश्य देखकर, मुझको समझ रहे हो

सागर की आत्मजा, मानसिक तनया नारायण की। (पृ० ६३)

उर्वशी की रहस्यमयी कथा को अनेक स्थानों पर इस काव्य में इंगित किया गया है। पुरुरवा अपनी और उर्वशी की जन्म-कथा के विषय में कहते हैं—

कहते हैं, मैं स्वयम् विश्व में आया बिना पिता के;

तो क्या तुम भी, उसी भाँति, सचमुच, उत्पन्न हुई थीं

माता बिना, मात्र नारायण ऋषि की कामेच्छा से,

तपःपूत नर के समस्त संचित तप की आभा-सी? (पृ० ८६)

एक और किंवदन्ती के अनुसार उर्वशी सुर और असुरों के युग-व्यापी

आह्वानों से द्रवित होकर सागर से स्वयं ही निकली थी। पुरुरवा इसके विषय में कहते हैं—

या समुद्र जब अन्तरग्नि से आकुल तप्त विकल था,
तुम प्रसून-सी स्वयं फूट निकलीं उस व्याकुलता से,
ज्यों अम्बुधि को अन्तरग्नि से अन्य रत्न बनते हैं ?
और सुरासुर के अभंग, युग-व्यापी आह्वानों से
दया-द्रवित हो एक प्रातः, निकलीं अप्रतिम शिखा-सी। (पृ० ८६)

उर्वशी का जन्म यदि रहस्यमय था तो उसका सौन्दर्य भी अनिर्वचनीय एवं अद्वितीय था। उस जैसा सौन्दर्य सुर-किन्नर और गन्धर्व लोक में भी दृष्टिगोचर नहीं होता। यही कारण है कि पुरुरवा उसकी जन्म-कथा में दिव्यता का पुट होना अवश्यम्भावी मानते हैं—

यह रहस्यमय रूप कहीं त्रिभुवन में और नहीं है,
सुर-किन्नर-गन्धर्व-लोक में अथवा मर्त्य-भुवन में।
तुम कैसे, तब कहो, भला, उस भाँति जनम सकती हो
जैसे जग में अन्य, अपर सौन्दर्य जन्म लेते हैं ? (पृ० ९२)

उर्वशी परम सुन्दरी है। उसकी रूप-माधुरी में अग-जग को मोहित करने की शक्ति है। 'चाहे कोई जठर-सिद्ध वैरागी हो, अथवा शमित काम-वहिन देवता, उसे देखकर सभी के रक्त में काम-ज्वर संक्रमित होने लगता है। कारण यह है कि वह सौन्दर्य में रति और रमा की प्रतिमूर्ति है, और कामदेव की आरती-शिखा के समान सभी को काम-भाव में लीन कर देने वाली है।' इस काव्य में सर्वप्रथम सहजन्मा उसके रूप-सौन्दर्य का वर्णन इस प्रकार करती है—

“इसीलिये तो सखी उर्वशी, ऊषा नन्दन वन की,
सुरपुर की कौमुदी, कलित कामना इन्द्र के मन की,
सिद्ध विरागी की समाधि में राग जगाने वाली,
देवों के शोणित में मधुमय आग लगाने वाली,
रति की मूर्ति, रमा की प्रतिमा, तूषा विश्वमय नर की,
विधु की प्राणेश्वरी, आरती-शिखा काम के कर की।” (पृ० १३)

उर्वशी के रूप का चित्रण अत्यन्त ही बारीक कविता का उदाहरण है। इसके कहने की आवश्यकता नहीं कि 'दिनकर' जी ने अपनी सम्पूर्ण कल्पना-शक्ति और काव्य-प्रतिभा इस काव्य के रचने में प्रयुक्त की है। उर्वशी का रूप-वर्णन निश्छल एवं निष्कलुष है। जो विशेषण 'दिनकर' जी द्वारा प्रयुक्त किये गये हैं, उनमें किसी भी प्रकार की वासना की गन्ध नहीं है, वरन् वे बिम्बों के साथ मिलकर आभ्यान्तरिक रहस्यों का उद्घाटन करते हैं। उर्वशी के अनुपम सौन्दर्य से पुरुरवा इतने प्रभावित हुए थे

कि उसके कपोलों की लालिमा, कुन्द एवं जूहीकली-सी अधरों की हँसी तथा पुष्पाभरण से श्लथ चंपक-यष्टि या कला के स्वप्न साँचे में ढली स्वर्ण-प्रतिमा-सी देह उन्हें हर क्षण आलिंगन के लिए निमन्त्रण देती थी—

इन कपोलों की ललाई देखते हो ?
 और अधरों की हँसी यह कुन्द-सी, जुही-कली-सी ?
 गौर चंपक-यष्टि-सी यह देह श्लथ पुष्पाभरण से,
 स्वर्ण की प्रतिमा कला के स्वप्न-साँचे में ढली-सी ?
 यह तुम्हारी कल्पना है, प्यार कर लो ।
 रूपसी नारी प्रकृति का चित्र है सबसे मनोहर ।
 ओ गगनचारी । यहाँ मधुमास छाया है ।
 भूमि पर उतरो,
 कमल, कर्पूर, कुंकुम से, कुटज से
 इस अतुल सौन्दर्य का श्रृंगार कर लो ।”

(पृ० ५०)

उर्वशी के लिए प्रयुक्त विशेषण कवि-प्रतिभा के निष्कर्ष है । रूपसी का सामान्य परिचय होते हुए भी, ये पंक्तियाँ कवित्व की स्वच्छता का प्रतिमान है । कवि उपमा देने में असमर्थ है, क्योंकि कोई भी तो लाली रमणी के कपोलों की लाली के सदृश नहीं हैं । कुन्द और जूही पवित्रता के प्रतीक हैं । देह स्वर्णिम है, चम्पकयष्टि-सी । ‘श्लथ’ व्यंजक है देह के शैथिल्य का । उर्वशी की पवित्रता तथा कल्मषहीनता के ही कारण पुरूरवा उसे देखकर विस्मृति में डूब जाते हैं—

। और तब सहसा
 न जाने, ध्यान खो जाता कहाँ पर ।
 सत्य ही, रहता नहीं यह ज्ञान,
 । तुम कबिता, कुसुम या कामिनी हो ।

परिणामस्वरूप पुरूरवा भी उर्वशीमय हो जाते हैं । उर्वशी में चम्पकयष्टि जैसे मृदुल-आकर्षक तथा कान्तिमान शरीरागों पर पारदर्शी भीने-भीने वस्त्रों का सौन्दर्य वशीकरण मन्त्र का साक्षात् रूप प्रतीत होता है । उर्वशी को देखकर ऐसा आभास होता है, मानो त्रिलोक का नारी-सौन्दर्य उसके रूप में पंजीकृत हो उठा है—

प्रकटी जब उर्वशी चाँदनी में द्रुम की छाया से,
 लगा, सर्प के मुख से जैसे मणि बाहर निकली हो,
 याकि स्वयम् चाँदनी स्वर्ण-प्रतिमा में आन ढली हो;
 उतरी हो धर देह स्वप्न की विभा प्रमद-उपवन की,
 उदित हुई हो याकि समन्वित नारी श्री त्रिभुवन की ।
 कुसुम-कलेवर में प्रदीप्त आभा ज्वालाभय मन की,

चमक रही थी नग्न कान्ति वसनों से छन कर तन की ।
हिमकण-सिक्त-कृमुम-सम उज्ज्वल अंग-अंग भलमल था ।
मानो, अभी-अभी जल से निकला उत्फुल्ल कमल था । (पृ ३०)

उर्वशी देश-काल से परे चिरन्तन नारी है, आत्मतन्त्र यौवन की नित्य नवीन प्रभा है
तथा चिरयुवती सुकुमारी है । उर्वशी ने स्वीय रूप का वर्णन इस प्रकार किया है—

ओ शून्य पवन में मुझे देख चुम्बन अर्पित करने वालो !
सम्पूर्ण निशा मेरी छवि का उन्निद्र ध्यान धरने वालो !
मे देश-काल से परे चिरन्तन नारी हूँ ।
मैं आत्मतन्त्र यौवन की नित्य नवीन प्रभा,
रूपसी अमर मैं चिर-युवती सुकुमारी हूँ ।
तुम त्रिभुवन में अथवा त्रिकाल में जहाँ कहीं भी हो,
अन्तर में धैर्य धरो ।
सरिता, समुद्र, गिरि वन मेरे व्यवधान नहीं ।
मैं भूत, भविष्यत, वर्तमान की कृत्रिम बाधा से विमुक्त,
मैं विश्वप्रिया । (पृ० ६६-१००)

‘दिनकर’ जी के काव्य में उर्वशी का रूप-सौन्दर्य लोकातिशायी रूप में वर्णित हुआ है । उर्वशी के इस रूप-वर्णन का आधार पूर्व आर्य-साहित्य ही है । “श्रीमद्भागवत में समीपागत उर्वशी से राजा पुरुरवा ने कहा—

अहो रूपमहो भावो नरलोक विमोहनम् ।
को न सेवेत मनुजो देवीं त्वां स्वयमागताम् ॥

(श्रीमद्भागवत, स्कन्ध ६, अ० १४, श्लोक २३)

(अहा ! नरलोक-विमोहक तुम्हारा रूप धन्य है, तुम्हारा भाव भी धन्य है ।
कौन मनुष्य है जो स्वयं आगत तुम्हारा उपभोग न करे ।)

विष्णुपुराण में उर्वशी की प्रशंसा इस प्रकार की गई है—

सोऽपि च तामंतिशयितसकललोकस्त्रीकान्तिसौकुमार्यलावण्यगतिविलासहासादि
गुणामवलोक्य तदायत्तचित्तवृत्तिर्बभूव ।

(विष्णुपुराण, अश ४, अध्याय ६, श्लोक ३७)

(राजा पुरुरवा सकल लोकातिशायी कान्ति, सौकुमार्य, लावण्य, गतिविलास एवं
हास आदि गुणों से युक्त उर्वशी को देखकर उस पर मुग्ध हो गया ।)

उर्वशी का यही रूप उससे वह सब कुछ पुरुरवा को प्रदान करा देता है जो
औशीनरी नहीं दे पाती । यही कारण है कि उर्वशी की अप्सरा औशीनरी की सती
को परास्त कर सकी है । पुरुष स्त्री में निहित इसी अप्सरा से प्रेम करता है । उर्वशी
में यह सत्ता प्रबल है, मादक है, ग्रन्थिरहित है । पुरुरवा में इससे पावक उत्पन्न

होता है। इन सभी कारणों से उर्वशी का चरित्र पुरुरवा को उर्वशीमय बना देता है।

काम के कर की आरती-शिखा होने पर भी उर्वशी काम के दुर्निवार प्रहार से नहीं बच पाती, और पुरुरवा के अनिर्वचनीय सौन्दर्य तथा अपार बल-साहस को देखकर उन पर आसक्त हो जाती है। सहजन्त्या उसकी दशा को निम्न प्रकार से चित्रित करती है—

जिसके चरणों पर चढ़ने को विकल-व्यग्र जन-जन है,
जिस सुषमा के मंदिर ध्यान में मग्न-मुग्ध त्रिभुवन है,
पुरुषरत्न को देख न ज्वह रह सकी आप अपने में,
डूब गई सुरपुर की शोभा मिट्टी के सपने में। (पृ० १३)

उर्वशी स्वच्छन्द प्रकृति की नारी है, अतः वह लोक-नीति-भीति की अधिक चिन्ता नहीं करती। प्रतीक्षा करते रहने पर भी जब पुरुरवा की ओर से उसे प्राप्त करने का कोई प्रयत्न नहीं किया जाता तो वह स्वयं ही उससे मिलने हेतु चली आती है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि वह इस तथ्य से अवगत है कि उसका यह आचरण नार्योचित मर्यादा के अनुकूल नहीं है—

काम-द्रुम-तल पड़ी तड़पती रही तप्त फूलों पर;
पर, तुम आये नहीं कभी छिपकर भी सुध लेने को।
निष्ठुर बन निश्चित भोगते बँठे रहे महल में
सुख प्रताप का, यश का, जय का, कलियों का, फूलों का।
मिले, अन्त में तब, जब ललना की मर्याद गँवा कर
स्वर्ग-लोक को छोड़ भूमि पर स्वयं चली मैं आयी। (पृ० ४४)

उर्वशी स्वर्ग के शमित-वह्नि देवों की निष्क्रिय काम-चेष्टाओं से तंग होकर अबाध काम-तुष्टि की कामना से धरा पर अवतरित हुई थी। तृतीय अंक में राजा के संयोग में उसकी मद-विह्वलता का बड़ा ही मनोरम चित्रण है। वह इस अखण्ड प्रेम में पुरुष की अनासक्ति को असह्य समझती है। उसका अभिसारिका रूप उसमें सदैव आलिंगन, चुम्बन, दर्शन-स्पर्शन आदि की अभिलाषा जागरित किए रहता है। जब वह देखती है कि उसके प्रियतम पुरुरवा में भी देवों-जैसे चिन्तन के कीटाणु विद्यमान हैं, तो उसने लज्जा त्याग कर उनसे स्पष्ट शब्दों में कह दिया—

अनासक्ति तुम कहो, किन्तु, इस द्विधा-ग्रस्त मानव की
भाँकी तुममें देख मुझे, जाने क्यों, भय लगता है।

॥ तन से मुझ को कसे हुए अपने दृढ़ आलिंगन में,
मन से, किन्तु, विषण्ण दूर तुम कहाँ चले जाते हो ? (पृ० ४७)

उसका विश्वास है कि पुरुष और प्रकृति में कोई भेद नहीं है तथा पुरुष प्रकृति का अंग है। वह सोचती है कि मनुष्य भगवान् है और उससे प्रेम करना भगवान् से प्रेम

करना है। यही उदात्त प्रेम मनुष्य के जीवन को उच्चता की ओर अग्रसर करता है। डा० विमल कुमार जैन को नर-नारी के पारस्परिक उदात्त प्रेम का स्वरूप निरूपित करती हुई वह दार्शनिक के रूप में दिखाई पड़ती है—

“इस नर-नारी के पारस्परिक उदात्त प्रेम का स्वरूप निरूपित करती हुई वह हमें दार्शनिका के रूप में दृष्टिगोचर होती है। उसका कथन है कि मनुष्य को विधि-निषेध से परे निष्काम कर्म करना चाहिए। ईश्वर तो सर्वत्र व्याप्त है अतः कर्म का उदात्तीकरण ईश्वर की ओर उन्मुख होना है।”

(महाकवि दिनकर : उर्वशी तथा अन्य कृतियाँ, पृ० २७७)

इस प्रकार वे निरासक्त अर्थात् फल की आसक्ति से रहित होकर प्रेम करने के पक्ष में हैं। उसका विश्वास है कि केवल इसी प्रकार के प्रेम में प्रेमियों को स्वर्गीय आनन्द की अनुभूति होती है। प्रेम-तरंगों में निमग्न होना ऊपर उठ जाना है। इसमें भी सहजानन्द की अनुभूति है। इस प्रकार के प्रेम में ओत-प्रोत होने के कारण वह प्रकृति के प्रेम में रंगी दिखाई देती है। गंधमादन पर्वत की प्राकृतिक सुषमा और शोभा उसमें एक मादकता भर देती है। उसका यह प्रकृति-प्रेम उस समय भी दृष्टिगोचर होता है जब वह सुकन्या से कहती है कि शाप-वश जब वह प्रिय से विमुक्त होकर स्वर्ग चली जायेगी तब गन्धमादन की पृथ्वी, गगन, मृगों से भरी अटवी प्रसून, वृक्ष, सरित्सलिल, निकुञ्ज-पुञ्जों में कलरव करते विहग तथा चन्द्रकान्त यामिनी ये सभी उसे रह-रहकर स्मरण आयेगे।

उर्वशी में, इसके अतिरिक्त, कतिपय विशेषताएँ और दिखाई देती हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में वह नर में विक्रम की प्रशंसिका है तथा अप्सरा होते हुए भी मातृत्व के वात्सल्य से परिपूर्ण है। अस्तुतः वह एक प्रेयसी तथा रमणी है; अनिद्य रूपसी है, रूपगविता भी है। वह हमें ‘प्रसाद’ जी की ‘कमला’ की याद दिलाती है। प्रेयसी के रूप में वह प्रचण्ड भ्रम है। उसका कथन है कि पुरुष में जब तक शक्ति है, विक्रम है तभी तक संसार उसके समक्ष नतमस्तक है—अपार रत्नाकर भी समादर करता है, सिंह मार्ग नहीं रोकता, सघन वनाली सुगम्य हो जाती है, गगनचुम्बी पर्वत सिर झुकाते हैं और इन्द्र भी आगे बढ़कर स्वागत करता है तथा अप्सरायें स्वर्ग से आकर अपने अधरो का रस-पान कराती हैं।

इससे स्पष्ट होता है कि उर्वशी पुरुष के पौरुष की परम प्रशंसिका है। दूसरी विशेषता यह है कि वह अप्सरा होती हुई भी माता के रूप में वात्सल्य-भाव से ओत-प्रोत है। उसका मातृत्व चतुर्थ अंक में वृद्धि पाता है और यहाँ वह व्यष्टि नारी होती है। महाकाव्यात्मक उदात्तता भी उसे चतुर्थ और पंचम अंक में ही प्राप्त होती है। मातृत्व का बोध उसे शमित-वह्नि बना देता है। इसका संक्रामक सन्तोष ही उसकी महिमा है। मेनका के निम्न शब्द उस पर पूर्णतः सत्य प्रतीत होते हैं—

पर, रम्भे ! क्या कभी बात यह भी मन में आती है,
 माँ बनते ही त्रिया कहां से कहां पहुँच जाती है ?
 गलती है हिमशिला, सत्य है, गठन वेह की खोकर,
 पर, हो जाती वह असीम कितनी पयस्विनी होकर ? (पृ० १६)

वह गर्भस्थ बालक को सुन्दर, तेजस्वी, विक्रमी तथा प्रजापालक बनाने के हेतु नित्य प्रति कामना किया करती है और सदैव यही सोचती रहती है कि जब वह राजा होगा तो पृथ्वी धन-धान्यवती हो जायेगी, रोग-शोक पाप-परिताप सभी घट जायेंगे, संसार में सभी सुखी एवं चिरायु होंगे। पुत्रोत्पत्ति के पश्चात् वह बच्चे को शाप के कारण च्यवन ऋषि के आश्रम में छोड़ आती है। किन्तु प्रायः वह बालक को देखने हेतु आश्रम में आती है। शापवश वियोग को अवश्यम्भावी जानकर जब वह बालक को मुकन्या के संरक्षण में छोड़ आती है तब वह पुत्र की उन्नति के लिए बड़े ही मार्मिक शब्दों में कहती है—

मैं क्या कहूँ, वंश से बिछुड़ा कब तक आयु रहेगा।
 यहाँ धर्म की शरण, तुम्हारे अंचल की छाया में !
 किन्तु, पिता गृह तो, अवश्य ही, उसे कभी जाना है;
 वह हो आज या कि कुछ दिन में या यौवन आने पर।
 अपना सुख तृणवत् नगण्य है, उसे छोड़ सकती हूँ।

किन्तु, पुत्र का भाग्य भूमि पर रह कैसे फोड़ूंगी ? (पृ० १२५)

उर्वशी के व्यक्ति में अन्तर्द्वन्द्व व्याप्त है। अन्तर्द्वन्द्व से प्राप्त व्यक्तित्व के निखार में भी एक संघर्ष है। भरत-शाप वश वह पति और पुत्र में से किसी एक को प्राप्त कर सकती है। समस्या बहुत जटिल है—किसे चुने और किसे त्यागे ? वह जानती है कि अन्त में उसे खाली हाथ रहना है।

हाय ! अंत में, मुझ अभागिनी शाप-ग्रस्त नारी को,

न तो प्राणप्रिय पुत्र, न तो प्रियतम मिलने वाले हैं। (पृ० १२८)

इस प्रकार हम देखते हैं कि उर्वशी एक परम सुन्दरी, प्रेयसी, विदुषी नारी एवं वात्सल्य-पूर्ण माता के रूप में चित्रित की गई है।

औशीनरी चरित्र-चित्रण

औशीनरी महाराज पुरुरवा की परिणीता भार्या थीं, किन्तु महाराज के उर्वशी के प्रेम-पाश में आबद्ध हो जाने के कारण वे प्रेम से वंचित रह गई थी। वे उन परम्परागत पतिव्रता स्त्रियों का प्रतिनिधित्व करती हैं, जो पति को परमेश्वर समझ उसकी समस्त उचितानुचित आज्ञाओं को शिरोधार्य करती हैं और उसके कल्याण के लिए सदैव प्रार्थना करते रहना ही अपने जीवन का प्रमुख ध्येय मानती हैं। यही कारण है कि औशीनरी अपने पति को अपनी ओर से हटते हुए देखकर उसका प्रेम जीतने हेतु चन्द्राराधना (चन्द्रायण-व्रत) करती हैं। चित्रलेखा सहजन्मा से कहती है—

कैसे समझे नहीं ! प्रेम छिपता है कभी छिपाये ?

कुल-वामा क्या करे, किन्तु, जब यह विपत्ति आ जाए ?

प्रिय की प्रीति हेतु रानी कोई व्रत साध रही हैं,

मुना, आजकल चन्द्र-देवता को आराध रही हैं । (पृ० २५)

रानी की यह व्रत-साधना कालिदास के नाटक विक्रमोर्वशी का अनुकरण प्रतीत होता है । कालिदास के नाटक की निम्न पंक्तियाँ दर्शनीय है—

राजा—किं नामधेयमेतद्देव्या व्रतम् ।

(देवी निपुणिकामुखमवेक्षते ।)

निपुणिका—भट्टा पिआणुप्पसादण णाम । (भर्तः प्रियानुप्रसादनं नाम)

...

...

...

देवी—(राज्ञः पूजाभिनीय, प्राञ्जलिः प्रणम्य) एसा अहं देवदा मिहुणं रोहिणीमिअताच्छणं सक्खीकरिय अज्जउत्तं अणुप्पसादेमि... (एषाहं देवतामिथुनं रोहिणीमृगलाञ्छनं साक्षीकृत्यार्यपुत्रमनुप्रसादयामि...)

[राजा—आप कौन-सा व्रत कर रही हैं ?

(देवी निपुणिका का मुँह देखती है ।)

निपुणिका—महाराज ! इसे प्रिय को प्रसन्न करने वाला व्रत कहते हैं ।

...

...

...

देवी—(राजा की पूजा का नाट्य करके और हाथ जोड़कर) आज मैं रोहिणी और चन्द्रमा के दैवी जोड़े को साक्षी बनाकर आर्यपुत्र को प्रसन्न कर रही हूँ ।]

औशीनरी बड़ी धैर्यशील तथा सहिष्णु नारी है । उनका यह दुर्भाग्य है कि जिस रात वह चन्द्राराधना करके और यह विश्वास लेकर अपने महल को लौटती है कि महाराज की उनके प्रति प्रीति, चन्द्र की रोहिणी के प्रति प्रीति के समान अटल रहेगी, उसी रात राजा उर्वशी के प्रेम-पाश में निबद्ध हो जाते हैं । जब निपुणिका महारानी को महाराज के समीप उर्वशी के आगमन की सूचना देने में कुछ भिन्नकती है तो वे कहती हैं—

/पगली ! कौन व्यथा है जिसको नारी नहीं सहेगी ?

कहती जा सब कथा, अग्नि की रेखा को चलने दे,

जलता है यदि हृदय अभागिन का, उसको जलने दे । (पृ० २६-३०)

ये पंक्तियाँ मैथिलीशरण गुप्त की रचना 'यशोधरा' की याद दिलाती हैं । इससे विदित होता है कि औशीनरी में ईर्ष्या का भाव जागृत हो गया था तथा वह अपने को भाग्यहीन समझने लगी थी । अतिशय व्यथित वह कह उठती है—

आजीवन वे साथ रहेंगे ? तो अब क्या करना है ?

जीते जी यह मरण भेलने से अच्छा मरना है । (पृ० २५)

किन्तु जब उन्हें अपने पति की यह इच्छा ज्ञात होती है कि वे लौटकर पुत्रोष्टि यज्ञ करेंगे, और उनकी यह आज्ञा है कि रानी धर्म-साधना करती रहें, तो पतिव्रता स्त्री की भाँति वे पति की इच्छा को ही प्रमुखता प्रदान करती हैं और मरण का विचार त्याग देती हैं, किन्तु वह बड़ी कटुता के साथ कहती है—

हाँ, अनोखी साधना है,
अप्सरा के संग रमना ईश की आराधना है !
पुत्र पाने के लिए विहरा करें वे कुंज-वन में,
और मैं आराधना करती रहूँ सूने भवन में !
कितना विलक्षण न्याय है !
कोई न पास उपाय है !

अवलम्ब है सबको, मगर, नारी बहुत असहाय है । (पृ० ४०)

इन शब्दों से रानी की मर्म-वेदना, असूया तथा विवशता आदि व्यंजित हो रही है । औशीनरी की समझ में ही नहीं आता कि प्रवंचिका गणिकाएँ गृहणियों के हृदय को इतना सन्ताप, और वह भी केवल अपनी प्रेम-क्रीड़ा के लिए क्यों पहुँचाती है । वह स्वयम् त्याग की मूर्ति हैं । उन्होंने पति के चरणों पर सर्वस्व समर्पित कर दिया था । जब निपुणिका महाराज के गुण सुनाकर कहती है कि उन जैसे नर-पुगव के लिए स्त्री क्या कुछ नहीं करती, तो वह कहती हैं ।—

अरी, कौन है कृत्य जिसे मैं अब तक कर न सकी हूँ !
कौन पुष्प है जिसे प्रणय-वेदी पर धर न सकी हूँ !
प्रभु को दिया नहीं, ऐसा तो पास न कोई धन है ।

न्योछावर आराध्य-चरण पर सखि ! तन, मन, जीवन है । (पृ० ३७)

यह उनका दुर्भाग्य ही था कि जब कभी वह महाराज की आँखों में भाँकती थीं, उन्हें पति की आँखों में प्रेम की झलक दिखाई नहीं देती थी । इससे स्पष्ट होता है कि वह पूर्णतया असहाय और निराश्रित थीं ।

पति-प्रेम से वंचित तथा परम विवश होती हुई भी वह उदारता की मूर्ति है । उन्हें गन्धमादन पर्वत से महाराज का सन्देश मिलता है कि वहाँ पर वह पूर्णतः सुखी हैं परन्तु एक सन्तान के बिना सब सब कुछ नीरस प्रतीत होता है अतः ईश्वर-साधना में कोई त्रुटि नहीं होनी चाहिए । औशीनरी इस आदेश को विचित्र मानती हैं, किन्तु फिर भी इसे सहर्ष स्वीकार करती है और पति के लिए मंगल-कामना करती हैं—

तब भी मरुत अनुकूल हों ।

मुझ को मिलें, जो शूल हों

प्रियतम जहाँ भी हों, बिछे सर्वत्र पथ में में फूल हों । (पृ० ४०)

महारानी औशीनरी की भव्यता तथा उदारता का उच्चरूप उस समय और

भी अधिक स्पष्ट होता है जब पुरुरवा संन्यास ग्रहण करते हैं। वह मातृ-पितृ-विहीन आयु को राजमाता के रूप में स्वीकार कर उसे हृदय से लगा लेती हैं, उसे वह प्रेरणा देती हैं, और आश्वसन देकर शासन-भार के उद्वहन के लिए प्रोत्साहित करती हैं। यहाँ उनके करुणा, विषाद, उत्साह, वात्सल्य, धैर्य एवं साहस आदि भावों की उद्भूति बड़ी ही विचित्र एवं मार्मिक है। पति-प्रेम से वंचित रहने के साथ-साथ उसका यह दुर्भाग्य था कि उसकी कोख भी सूनी थी। परिणामस्वरूप उसके हृदय का समस्त वात्सल्य-भाव उर्वशी के पुत्र आयु पर उमड़ पड़ता है। वह कहती हैं—

पिता गये वन, किन्तु, अरे माता तो यहीं खड़ी है।
बेटा ! अब भी तो अनाथ नरनाथ नहीं ऐलों का।
तुझे प्यास वात्सल्य-सुधा की, मैं भी उसी अमृत से
बिना लुटाए कोष हाय ! आजीवन भरी रही हूँ !
फला न कोई शस्य, प्रकृति से जो भी अमृत मिला था,
लहर मारता रहा टहनियों में, सूनी डालों में।
किन्तु, प्राप्त कर तुझे आज, बस, यही भान होता है,
शस्य-भार से मेरी सब डालियाँ झुकी जाती हों।
हाय, पुत्र ! मैं भी जीवन भर बहुत-बहुत प्यासी थी,
शीतल जल का पात्र अधर से पहले-पहल लगा है। (पृ० १५४)

महाराज के संन्यास ग्रहण करने के पश्चात् उसका हृदय वेदना से फूट पड़ता है। वह समझ नहीं पाती कि राजा यह कैसे भूल गए कि इस नीरव, निमृत्त निलय में कोई अखण्ड व्रतमयी उन्हीं के समाराधान में बैठी है। वह इस बात से दुखी है कि महाराज जाते समय उसे सूचित भी नहीं कर गए, कम-से-कम जाते-जाते अपने चरणों की धूलि तो उसे अन्तिम बार ले लेने देते। उसकी यह वेदनापूर्ण उक्ति बहुत ही कारुणिक है। इससे उसकी प्रेम-निष्ठा अभिव्यक्त होती है। वह इस सबका दोष स्वयं को देती है और पश्चात्ताप करती है कि वह भी उस अप्सरा की भाँति निःसंकोच रूप से दयित के साथ क्यों न रही। उसके निम्न शब्द बहुत ही हृदय-विदारक हैं—

देवि ! प्रेम के जिस तट पर अप्सरा स्नान करती है,
गयी नहीं क्यों मैं तरंग-आकुल उस रसित पुलिन पर !
पछताती हूँ हाय, रक्त आवरण फाड़ ब्रीड़ा का।
व्यंजित होने दिया नहीं क्यों मैंने उस प्रमदा को।
जो केवल अप्सरा नहीं, मुझ में भी छिपी हुयी थी ?
बसी नहीं क्यों कुसुम-दाम बन उन विशाल बाहों में ?
लगी फिरी क्यों नहीं पुष्प-स्रज बन उदग्र गीवा से ?
बेध रहे थे उठा शरासन जब वे वक्ष तिमिर का,
बनी न क्यों शिंजनी, हाय, तब मैं उस महाधनुष की ! (पृ० ५६)

और अन्त में वह सुकन्या से प्रबोधित हो धैर्य धारण कर भावी ललनाओं के लिए स्वर्णिम भविष्य की शुभ कामना करती हुई आयु को छाती से लगा लेती है और आँसू पोंछ देती है ।

प्रो० विजेन्द्रनारायण सिंह ने अपने ग्रन्थ ‘उर्वशी : उपलब्धि और सीमा’ में औशीनरी को हिन्दी-काव्य का सम्भवतः प्रथम द्रैजिक पात्र माना है । उनके अनुसार प्रसाद जी की कायायनी में द्रैजिडी नहीं लाई जा सकी तथा गुप्त जी की यशोधरा द्रैजिक पात्र नहीं बन पाई, क्योंकि उसमें आत्म-विश्लेषण के गुण विद्यमान थे; औशीनरी में आत्म-विश्लेषण की शक्ति समाप्त हो जाती है—वह उसे तभी उपलब्ध होती है जब उसके लिए अनुताप के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर पाती ।

कुछ आलोचकों ने औशीनरी के अन्तिम रूप की कटु आलोचना की है । उन्होंने पुरुरवा के संन्यास लेने के पश्चात् औशीनरी के उपस्थित रहने पर औचित्यानाचित्य का प्रश्न उठाया है । ऐसे आलोचक औशीनरी के द्रैजिक पक्ष को नहीं समझ पाये हैं, और उर्वशी के चरित्र से इतने प्रभावित हुए हैं कि औशीनरी के चरित्र को पहचानने में असमर्थ रहे हैं । उनकी दृष्टि में परम्परागत भारतीय-परिवार की कल्पना ही थी, वास्तव में उसे समझ नहीं पाए हैं । वस्तुतः ‘दिनकर’ जी की औशीनरी हमारे पारिवारिक जीवन की द्रैजिडी है । यही उसकी मौलिकता है । यही उसकी विशेषता है ।

पुरुरवा, उर्वशी और औशीनरी के अतिरिक्त पात्रों का इस काव्य में महत्त्व नगण्य है । यही कारण है कि उनके विकास में ‘दिनकर’ जी ने कोई विशेष रुचि नहीं दिखाई है । च्यवन ऋषि भारतीय ऋषि-परम्परा के प्रतीक मात्र हैं । कोपशील होने पर भी वह अपनी सहृदयता के कारण सुकन्या को क्षमा ही नहीं कर देते अपितु, उसे वरण भी कर लेते हैं । उनका चरित्र अधिकतर पौराणिक तथ्यों पर आधारित है । उनकी महती विशेषता नारी-विषयक दृष्टि है । उर्वशी की दशा देखकर वह एकदम कह उठते हैं—

शुभे ! त्रिया का जन्म ग्रहण करने में बड़ा सुयश है,

चन्द्राहत कर विजय प्राप्त कर लेना वीर नरों पर,

बड़ी शक्ति है, शुचिस्मिते ! शूरता इसे कहता हूँ । (पृ० ११५)

नारी के प्रति ही नहीं शिशु के प्रति भी उनका स्नेह-भाव है । शिशु को वे ईश्वर का स्वरूप ही मानते हैं जो नारी द्वारा सृष्टि के समस्त यज्ञ पूर्ण करने पर शिशु-रूप में जन्म लेकर दृश्य और अदृश्य संसार के तार जोड़ देते हैं । इस रूप में वह अंग्रेज कवि वर्ड्सवर्थ के काफी समीप दिखाई देते हैं ।

सुकन्या का चरित्र परम्परागत ऋषि-पत्नी का रूपायन मात्र है । वह पतिव्रता, मधुपूर्ण हृदया तथा विनम्र नारी है । वह राजा की पुत्री थी, किन्तु जिज्ञासावश ऋषि च्यवन की तपस्या भंग करने का अपराध कर बैठी । च्यवन उसे अपने तप की सिद्धि जानकर वरण कर लेते हैं—

डरो नहीं, यह तगोभंग च्युति नहीं, सिद्धि मेरी है ।
 पहले भी जब हुआ पूर्ण कटु तप महर्षि कर्दम का,
 स्वर्ग नहीं ऋषि ने वर में नारी मनोज्ञ मांगी थी ।
 सो तुम सम्मुख खड़ी तपस्या के फल की आभा-सी ।
 अब होगा क्या अपर स्वर्ग जिसका सन्धान करूँ मैं !
 हरि प्रसन्न यदि नहीं, सिद्धि बनकर तुम क्यों आई हो, (पृ० ११२)

च्यवन की इन उक्तियों के कारण सुकन्या उन पर गर्व करती है । वह अपने पतिव्रत की व्याख्या करती हुई कहती है—

एक चरिणी मैं क्या जानूँ स्वाद विविध भोगों का !
 मेरे तो आनन्द-धाम केवल महर्षि भर्ता हैं ।
 योग-भोग का भेद अप्सरा की अबन्ध क्रीड़ा है,
 गृहिणी के तो परम देव आराध्य एक होते हैं,
 जिससे मिलता भोग, योग भी वही हमें देता है ।
 क्या कुछ मिला नहीं मुझको दयिता महर्षि की होकर ! (पृ० १०८)

सुकन्या अपनी सुन्दरता पर मोहित युवराजों का वरण न कर तपश्चरण की ज्योति से मज्जित ऋषि का ही वरण करती है । वह स्नेह, करुणा और वात्सल्य की मूर्ति है । गर्भवती उर्वशी को वह आश्रम में स्थान ही नहीं देती अपितु, उसके पुत्र का लालन-पालन भी माता के समान करती है । वह अत्यधिक गम्भीर है । उसकी गम्भीरता का परिचय कवि ने उर्वशी के अन्तर्धान होने के बाद पुरुरवा-औशीनरी के साथ हुए वार्त्तालाप में दिया है । वह नारी को पुरुष की छाया मानती है । वह सब प्रकार से आदर्श भारतीय नारी की प्रतीक है ।

उर्वशी में भाषा-सौष्ठव एवं शिल्प

दिनकर जी की रचनाओं में 'उर्वशी' भाषा की प्रौढ़ता, लाक्षणिकता तथा अर्थ-सौरम्य की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ है। इस दृष्टि से इस काव्य को हिन्दी-साहित्य में सदैव उच्च स्थान मिलेगा। 'इलस्ट्रेड वीकली आफ इण्डिया' के १५ अक्टूबर सन् १९६१ के अंक में इसके विषय में अपना मत व्यक्त करते हुए श्री आर० के० कपूर लिखते हैं—

"The recently published urvashi by Ramdhari Singh Dinkar is a long dramatic poem. It is not only the last of the series but also the best so far, and unlikely to be surpassed for a long time. This is not surprising because the poem is the product of eight years of thought and meditation, reflecting the poet's extraordinary mastery over the language".

'उर्वशी' काव्य का आद्योपान्त अध्ययन के पश्चात् प्रत्येक सुधी पाठक यह अनुभव करता है कि दिनकर जी का हिन्दी-भाषा पर स्तुत्य अधिकार है। 'उर्वशी' में उन्होंने परम परिमार्जित तथा सर्वसम्मत शिष्ट भाषा का प्रयोग किया है। जहाँ तक हो सका है उन्होंने अशिष्ट, आक्षेप पूर्ण तथा अग्राह्य शब्दावली को काव्य-कलेवर से दूर ही रखा है। फिर भी कतिपय प्रकरणों से ऐसे शब्द प्रयुक्त हुए हैं जो ऊपर पढ़ने पर अशिष्ट तथा अनावश्यक प्रतीत होते हैं। किन्तु जब उनका अध्ययन प्रसंग-परिप्रेक्ष्य में किया जाता है, उनका विवेचन वातावरण के सन्दर्भ में करते हैं और वक्ता की मानसिक अवस्था का अनुशीलन करते हैं, तथा उन्हें जब अवसरानुकूलता या अवसरोपयुक्तता के निकर्ष पर देखते हैं तो स्पष्ट विदित होता है कि ये शब्द-प्रयोग प्रसंगानुकूल हैं, वातावरणानुसार हैं, वक्ता की मनःस्थिति के द्योतक हैं और सर्वथा अवसरोपयुक्त हैं। कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

जाने इस गणिका का मैंने कब क्या अहित किया था ।

...

...

...

छीन ले गयी अधम पापिनी मुझसे मेरे पति को ।

...

...

...

- किंतु बाण इन व्याधिनियों के किसे कष्ट देते हैं ।

ये पंक्तियाँ औशीनरी, राजा पुरुरवा की महारानी, के मुख से निःसृत हुई हैं । यह प्रसंग उस समय का है जब रानी को निपुणिका द्वारा यह ज्ञात होता है कि महाराज उर्वशी के जाल में फँस चुके हैं, उसके इंगितों पर नाचते हैं तथा उसके प्रेम में उन्मत्त है । भारतीय पतिव्रता नारी के लिए उसका पति ही सर्वस्व होता है । अतः जब उसे यह पता चलता है कि उसका 'सर्वस्व' किसी अन्य स्त्री का दास बन गया है तब उसका हृदय वेदना से भर जाता है और सौतिया डाह से वह ऊपर से नीचे तक आपूरित हो जाती है । अतः यह कहा जा सकता है कि उक्त शब्द सहजोद्भूत हैं, परिस्थिव्यानुरूप है, तथा वक्ता की मनोदशा के परिचायक हैं । इसी प्रकार का एक और उदाहरण चतुर्थ अंक में मिलता है जबकि सुकन्या कहती है—

महाकूर कर्मा कोविद ये भरत बड़े दारुण हैं ।

सुकन्या का यह कथन भरत मुनि के लिए प्रयुक्त किया गया है, क्योंकि उन्होंने उर्वशी को शाप दे दिया था । यहाँ भी सुकन्या उर्वशी के भावी दुःख से सन्तप्त होकर उक्त शब्दों का प्रयोग करती है और ये उसकी मानसिक पीड़ा के द्योतक हैं ।

समस्त काव्यान्तर्गत रसानुरूप भाषा का प्रयोग किया गया है । इसी का परिणाम है कि रसनिरूपण बड़ा ही सहज, स्वाभाविक तथा मर्मस्पर्शी रूप में विद्यमान है । प्रत्येक स्थान पर रस के अनुकूल भाषा गुण ग्रहण करती हुई रस-सम्बर्धन में सहायक सिद्ध हुई है तथा रसानुगत अनुभूतियों को अनुपमता प्रदान करने में समर्थ है । नीचे दिए गये कुछ उदाहरणों में भाषा की रसानुरूपता द्रष्टव्य है—

पर, मैं बाधक नहीं, जहाँ भी रहो, भूमि या नभ में,
वक्षःस्थल पर, इसी भाँति, मेरा कपोल रहने दो ।
कसे रहो, बस, इसी भाँति, उर-पीड़क आलिंगन में
और जलाते रहो अधर-पुट को कठोर चुम्बन से ।
किन्तु, आह ! यों नहीं, तनिक तो शिथिल करो बाँहों को
निष्पेषित मत करो, यद्यपि, इस मधु निष्पेषण में भी
मर्मन्तिक है शान्ति और आनन्द एक दारुण है ।
तुम पर्वत, मैं लता, तुम्हारी बलवत्तर बाँहों में
बिह्वल, रस-आकुलित, क्षात्र में मूर्च्छित हो जाऊँगी । (पृ० ६५)

उपरोक्त पंक्तियों में वर्णों की लघुता, व्यंजनों की सानुस्वारता, 'र' आदि कोमल-कांत वर्णों का अत्यन्त उत्तम और चित्ताकर्षक प्रयोग किया गया है। यही कारण है कि माधुर्य गुण की संयोजना समुचित रूप में हुई है। यहाँ यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इन पंक्तियों में संयोग शृंगार सम्बन्धी अनन्त आकांक्षाएँ सजीव एवं साकार हो उठी हैं। दूसरी ओर पौरुष को प्रदर्शित करने के लिए दिनकर जी उसके शब्दों का चयन करते हैं। उदाहरणार्थ—

लाओ मेरा धनुष, सजाओ गगन-जयी स्यन्दन को,
सखा नहीं, बन शत्रु स्वर्ग-पुर मुझे आज जाना है।
और दिखाना है, दाहकता किसकी अधिक प्रबल है,
भरत-शाप की या पुरुरवा के प्रचण्ड बाणों की।
कहाँ छिपा रखेंगे सुर मेरी प्रेयसी प्रिया को ?
रत्न सानु की कनक-कन्दरा में ? तो उस पर्वत को
स्वर्ण-धूलि बन वसुन्धरा पर आज बरस जाना है
छिन्न-भिन्न होकर मनुष्य के प्रलय-दीप्त बाणों से। (पृ० १४५)

पुरुरवा पुनः कहते हैं—

कायरता की बात तुम्हारे मन को सता रही है
भीति इन्द्र के निठुर वज्र की, देवों की माया की;
किन्तु, उसे तुम छिपा रहे हो सचिव ! ओढ़ ऊपर से
मिथ्या वसन दनुज-संगति-कल्पना-जन्य दूषण का।
जब मनुष्य चीखता, व्योम का हृदय दरक जाता है,
सहम-सहम उठते सुरेंद्र उसके तप की ज्वाला से।
और कहीं हो क्रुद्ध मनुज करवे आह्वान प्रलय का,
स्वर्ग, सत्य ही, टूट गगन से भू पर आ जायेगा।
क्यों लेंगे साहाय्य दनुज का ? हम मनुष्य क्या कम हैं ?

(पृ० १४७)

उपरोक्त दोनों अवतरणों में भाषा ओज-गुण-प्रधान है। ओज वर्णों का बाहुल्य तथा संयुक्त-अक्षरों का आधिक्य पौरुषपूर्ण प्रसंग की अनुमति कराने में असाधारण रूप से सफल है।

‘उर्वशी’ की भाषा उतनी ही रमणीयता पूर्ण है जितनी ओजपूर्ण। महाकवि माघ ने रमणीयता के स्वरूप पर अपना मत व्यक्त करते हुए लिखा है—“क्षण-क्षणं यन्नवनामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः” अर्थात् “क्षण-प्रतिक्षण और पल-प्रतिपल नवनूतन प्रतीत होना ही रमणीयता है। इसी रमणीयता को इतर शब्दों में हम सौन्दर्य कह सकते हैं। लौजाइनस इसको भावोत्कर्ष का एक प्रमुख लक्षण मानते हैं। कविवर

बिहारी लाल इसके परिवर्तनशील प्रकृति के स्वरूप पर इस प्रकार प्रकाश डालते हैं—

लिखन बैठि जाकी सबी, गहि-गहि गरब गरूर ।

भएन केते जगत के चतुर, चितेरे कूर ॥

‘उर्वशी’ की भाषारसानुरूप होने के कारण स्वतः ही पर्याप्त रूप में रमणीय है। इस भाषागत रमणीयता के कुछ उदाहरण भी अध्येय हैं जिनमें समयानुकूल शब्द के माध्यम से मनोनुकूल मर्माभिव्यक्ति को सहज रूप से साकारण किया गया है। चौथे अंक में उर्वशी अपने पुत्र आयु को देखकर चित्रलेखा से कहती है—

अरी, देखती नहीं लाल की नन्ही-सो आँखों में

अब भी तो सुस्पष्ट स्वर्ग के सपने झलक रहे हैं ?

टुकुर-टुकुर सन्तुष्ट भाव से कंसे ताक रहा है ?

मानो, हो सर्वज्ञ, सर्व-दर्शी समर्थ देवों-सा ।

टुकुर-टुकुर शब्द की सहजता, स्वाभाविकता, सजीवता तथा मर्मस्पर्शिता केवल अनुभव्य है और इसका शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सकता। इसकी रमणीयता प्रत्येक सहृदय को आकर्षित करने में समर्थ है। उद्धरण की अन्तिम पंक्ति अग्नेज कवि वर्ड्सवर्थ की प्रसिद्ध कविता ‘Ode on Intimations of Immortality’ की निम्न पंक्तियों की याद दिलाती है—

Thou best philosopher...

... ..

Mighty prophet seer blest .

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि वर्ड्सवर्थ की ये पंक्तियाँ भी बच्चे के विषय में लिखी गई हैं। इसी प्रकार उर्वशी के निम्न कथन में प्रयुक्त भाषा की रमणीयता अपने में अपूर्व है—

यह धरती, यह गगन, मृगों से भरी, हरी अटवी यह,

ये प्रसून, ये वृक्ष स्वर्ग में बहुत याद आयेगे ।

झलमल-झलमल सरित्सलिल वह ऊषा की लाली से,

शस्त्रों पर बिछली-बिछली आभा वह रजत-किरण की,

चहक-चहक उठना वह विहगों का निकुंज-पुंजों में,

स्वर्गवासिनी में, श्रद्धा से, नमस्कार करती हूँ

अविनश्वर, सौन्दर्यपूर्ण नश्वर इस महामहो को । (पृ० १२५)

इन पंक्तियों में झलमल-झलमल, सरित्सलिल, बिछली-बिछली, शब्दों में प्रस्फुटित रमणीयता बहुत ही आकर्षक है।

अभिव्यक्ति के अनेक साधन हैं। इनमें भाषा को सर्वोत्तम साधन माना गया है। इसका कारण की पर्याप्तता, सक्षमता तथा भावानुसार प्रभावोत्पादन की सामर्थ्य।

दिनकरजी के इस काव्य में भाषा की प्रभावोत्पादकता सर्वत्र दर्शनीय है। रमणीयता आकर्षकता की जननी है। अतः भाषा की रमणीयता और आकर्षकता के कारण यह प्रचुर रूप में प्रभावोत्पादक बन गयी है उदाहरण के लिए पुरुरवा की निम्न पंक्तियाँ उद्धृत की जा सकती हैं—

सिंधु-सा उद्दाम, अपरम्पार मेरा बल कहाँ है ?
 गूँजता जिस शक्ति का सर्वत्र जय जयकार,
 उस अटल संकल्प का संबल कहाँ है ?
 यह शिला-सा वक्ष, ये चट्टान-सी मेरी भुजायें,
 सूर्य के आलोक से दीपित, समुन्नत भाल,
 मेरे प्राण का सागर अगम, उत्ताल, उच्छल है ।
 मर्त्य मानव की विजय का तूर्य हूँ मैं,
 उर्वशी ! अपने समय का सूर्य हूँ मैं ।
 अंध तम के भाल पर पावक जलाता हूँ,
 बादलों के सीस पर स्यंदन चलाता हूँ ।

(पृ० ५३)

इन पंक्तियों में प्रयुक्त ओजपूर्ण शब्द तथा इसकी पौरुषपूर्ण अभिव्यक्ति केवल पुरुष के ही बाहुबल को दिग्दर्शित नहीं कराती, अपितु समस्त वातावरण को ही पौरुष-प्रभाव से ओत-प्रोत कर देती है। यह भाषा की प्रभावोत्पादकता केवल पौरुषपूर्ण प्रसंग के वर्णन के में ही दिखाई नहीं देती अपितु प्रेम-प्रसंगों में भी उसी प्रकार से द्रष्टव्य है। उदाहरण के लिए पुरुरवा अपने प्रेमी-रूप का वर्णन करते हुए कहता है—

कौन है अकुंश, इसे मैं भी नहीं पहचानता हूँ ।
 पर सरोवर के किनारे कंठ में जो जल रही है,
 उस तृषा, उस वेदना को जानता हूँ ।
 आग है कोई नहीं जो शान्त होती,
 और खुलकर खेलने से भी निरन्तर भागती है ।
 रूप का रसमय निमन्त्रण
 या कि मेरे ही रुधिर की वह्नि
 मुझको शान्ति से जीने न देती ।
 हर घड़ी कहती, उठो,
 इस चन्द्रमा को हाथ से धर कर निचोड़ो,
 पान कर लो यह सुधा, मैं शान्त हूँगी,
 अब नहीं आगे कभी उद्भ्रान्त हूँगी ।

(पृ० ६८)

इसी प्रकार रूपसी नारी के असीम आकर्षण से पराजित नर का वर्णन करते हुए पुरुरवा कहता है—

पर, न जाने, बात क्या है ।

इन्द्र का आयुध पुरुष जो भेल सकता है,

सिंह से बाहें मिलाकर खेल सकता है,

फूल के आगे वही असहाय हो जाता,

शक्ति के रहते हुए निरुपाय हो जाता ।

विद्ध हो जाता सहज बंकिम नयन के बाण से

जीत लेती रूपसी नारी उसे मुसकान से ।

में तुम्हारे बाण का, बौंघा हुआ खग,

वक्ष पर धर सीस मरना चाहता हूँ ।

में तुम्हारे हाथ का लीला-कमल हूँ,

प्राण के सर में उतरना चाहता हूँ ।

(पृ० ५३-५४)

उपरोक्त पंक्तियों में दिनकरजी ने सौन्दर्य की सवाकता का, रूप-रमणीयता का, प्रेम-प्रभाव की प्रगाढ़ता का अत्यन्त आकर्षक एवं प्रभावोत्पादक वर्णन किया है । वास्तविकता यह है कि काव्य-रूप में की दृष्टि से 'उर्वशी' गीति-नाट्य परम्परा के सबसे अधिक समीप है । इस कारण भाषा का प्रभावोत्पादक होना स्वाभाविक ही है । यदि भाषा का यह गुण गीति-नाट्य में अनुपस्थित हो तो नाटक अपने रसाभिव्यक्ति रूप प्रयोजन की पूर्ति नहीं कर सकता और ऐसी दशा में नाटक निष्प्रभ और निष्प्राण हो जायेगा । अतः 'उर्वशी' में गीति-नाट्य की दृष्टि से प्रभावोत्पादक भाषा की अती-वावश्यकता थी । दिनकर जी ने इस दुरूह कौशल तथा प्रतिभा-प्रभाव का पूरा-पूरा उपयोग किया है और भाषा को सम्पूर्ण काव्य में सशक्त तथा प्रभावशाली ढंग से प्रयुक्त किया है । कही भी भाषा लेशमात्र भी शिथिल नहीं हो पायी है ।

गीति-नाट्य में जैसा पहिले दिखाया जा चुका है, कथानक के विकास के लिए सम्भाषणों का विशेष स्थान रहता है । यह कहने की आवश्यकता नहीं कि सम्भाषण भाषा-माध्यम से ही सम्पादित होते हैं । सफल तथा प्रभावशाली सम्भाषण के लिए यह आवश्यक होता है कि सम्भाषण-विषयक भाषा अवसरोपयुक्त हो, वह पात्रों के मानसिक स्तर के अनुरूप हो तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धों को मर्यादापूर्ण पद्धति से निर्वहण करने में समर्थ हो । इन दृष्टियों से 'उर्वशी' के सम्भाषणों का विवेचन स्पष्ट करता है कि वे अवसरानुकूल तथा पूर्ण मर्यादित हैं, और शिष्टाचार के प्रतीक हैं । एक प्रेमिका के रूप में उर्वशी पुरूरवा से किस प्रकार अपना प्रेम-निवेदन करती है—

आ मेरे प्यारे तृषित ! श्रान्त ! अन्तःसर में मज्जित करके,

हर लूंगी मन की तपन चाँदनी, फूलों से सज्जित करके ।

रसमयी मेघमाला बनकर मैं तुझे घेर छा जाऊँगी,

फूलों की छाँह-तले अपने अधरों की सुधा पिलाऊँगी । (पृ० ५७)

समवयस्क सखियों के पारस्परिक सम्भाषणों में प्रयुक्त एक-दूसरे के लिए सम्बोधन सुमधुर, सहज, स्वाभाविक, तथा आत्मीय हैं। उनमें शिष्टता तथा नैकट्य का पूरा-पूरा बोध होता है। उदाहरण के लिए मेनका रम्भा से कहती है—

पर, तुम भूल रही हो रम्भे ! नश्वरता के वर को,

भू को जो आनन्द सुलभ है, नहीं प्राप्त अम्बर को। (पृ० १०)

रम्भा के स्थान पर रम्भे का प्रयोग न केवल निकटता तथा आत्मीयता दिखाता है, अपितु इससे सम्बोधन की मधुरता भी प्रकट होती है। इसी प्रकार सहजन्या मेनका को सम्बोधन करती हुई कहती है—

साधु ! साधु ! मेनके ! तुम्हारा भी मन कहीं फँसा है ?

मिट्टी का मोहन कोई अंतर में आन बसा है ? (पृ० ११)

रम्भा का सहजन्या के प्रति सम्बोधन—

अरी, ठीक, तूने सहजन्ये ! अच्छी याद दिलायी,

आज हमारे साथ यहाँ उर्वशी नहीं क्यों आयी ? (पृ० ११)

मेनका चित्रलेखा को सम्बोधन करके कहती है—

चित्रे ! पर, क्या, इसी भाँति, नृप को पहचान चुकी हो ?

(पृ० २३)

इसी प्रकार उर्वशी महर्षि च्यवन की पत्नी सुकन्या को सम्बोधित करती हुई कहती है—

हाय, सुकन्ये ! कल से मैं, जाने किस भाँति जिऊँगी। (पृ० १२०)

महारानी औशीनरी उन अभागी पत्नियों में से हैं जिन्हें उनके पति त्याग देते हैं। किन्तु फिर भी औशीनरी राजा पुरुरवा को सम्बोधन करते समय कभी यह नहीं भूलती कि वह उसके पति है, और राजा भी है। उदाहरण के लिए अपने दुख को व्यक्त करते हुए वह निपुणिका से पति के प्रति अपने भावों को इस प्रकार व्यक्त करती है—

अरी, कौन है कृत्य जिसे मैं अब तक कर न सकी हूँ !

कौन पुष्प है जिसे प्रणय-वेदी पर धर न सकी हूँ !

प्रभु को दिया नहीं, ऐसा तो पास न कोई धन है।

न्योछावर आराध्य-चरण पर सखि ! तन, मन, जीवन है।

तब भी तो भिक्षुणी-सदृश जोहा करती हूँ मुख को,

सदा हेरती रहती प्रिय की आँखों में निज सुख को।

पर, वह मिलता नहीं, चमक जाने, खो गयी कहाँ पर।

जानें, प्रभु के मधुर प्रेम की श्री सो गई कहाँ पर।

(पृ० ३६-३७)

इन शब्दों में मर्यादा, प्रतिष्ठा, सम्मान, आदर भाव एवं अनन्यता विद्यमान हैं। पत्नी के रूप में मर्यादा और त्याग की पराकाष्ठा उस समय दृष्टिगोचर होती है जब औशी-नरी राजा के उर्वशी के साथ चले जाने के पश्चात् निम्न शब्द कहती है—

हाँ, अनोखी साधना है,

अप्सरा के संग रमना ईश की आराधना है !

...

...

...

तब भी मरुत अनुकूल हों,

मुझको मिलें जो शूल हों,

प्रियतम जहाँ भी हों, बिछे सर्वत्र पथ मे फूल हों। (पृ० ४०)

अलंकार

‘उर्वशी’ में प्रयुक्त भाषा स्वरूप एवं उसके सौष्ठव का विवेचन करते समय आवश्यक है कि उसकी कलात्मकता की भी समीक्षा की जाय तथा उसकी कलात्मक विशिष्टताओं का विश्लेषण किया जाय। भाषा की कलात्मकता से हमारा तात्पर्य है कवि द्वारा आलंकारिक, लाक्षणिक तथा व्यञ्जक शब्दों का प्रयोग। यह निस्सन्देह सत्य है कि ‘काव्य मे अलंकार’ विषय विवादास्पद होते हुए भी वह अभी तक अभिव्यक्ति की अनुपमता के लिए अपरिहार्य है तथा काव्य के कला पक्ष का अभिन्न अंग है। काव्य-शास्त्र आचार्यों के एक वर्ग के लिए काव्य मे अलंकार उसी प्रकार अपेक्षित है, जिस प्रकार शरीर के लिए आत्मा अथवा प्राण परमावश्यक है। अलंकार कविता के लिए उसी प्रकार आवश्यक है जैसे शरीर के सौन्दर्य की वृद्धि के लिए आभूषण। साहित्य-दर्पण कार कविराज विश्वनाथ लिखते हैं—

शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः ।

रसादीनुपकुर्वन्तोऽलङ्कारास्तेऽङ्गदादिवत् ॥

(दशम : परिच्छेद, कारिका :)

इसी प्रकार केशवदास जी लिखते हैं—

भूषण बिन न विराजही कविता-बनिता-मिन्न ।

दिनकर जी ने भी अपनी भाषा-भामिनी को कमनीय-कामिनी बनाने के मन्तव्य से अलंकृत किया है। किन्तु एक तथ्य देखने योग्य है कि समस्त ग्रन्थ में अलंकारों का प्रयोग प्रत्येक प्रसंग में सहज-स्वाभाविक रूप से अनायास ही हुआ है। कहीं भी ऐसा अनुभव नहीं होता कि अलंकारों का बलात् तथा अनावश्यक रूप में प्रयोग किया गया है। यही कारण है कि अलंकार ‘उर्वशी’ मे भाषा के सहजोद्भूत अवयव बन गये हैं। वे कविता की प्रत्येक पंक्ति में पूर्णरूपेण ऐसे घुल मिल गये हैं कि ऐसा आभास होता है मानो वे उसके अभिन्न अंग हों। नीचे कुछ उदाहरण दिए जाते हैं जिनसे यह स्पष्ट होता है कि अलंकारों का प्रयोग अभिव्यक्ति को अनुपम तथा आकर्षक बनाता है तथा काव्य-सौन्दर्य का सम्बर्द्धन करता है। ये भावों को अधिक मर्मस्पर्शी बनाते हैं,

अर्थान्तरन्यास—

यही समुद्वेलन नर का, शोभा है रूपमती की ।
सुन्दर थी उर्वशी, आज वह और अधिक सुन्दर है ।
राका की जय तभी, लहर उठता जब रत्नाकर है । (पृ० २५)

अतिशयोक्ति—

दर्पण, जिसमें प्रकृति रूप अपना देखा करती है ।
वह सौन्दर्य कला जिसका सपना देखा करती है ।
नहीं, उर्वशी नारी नहीं, आभा है निखिल भुवन की;
रूप नहीं, निष्कलुष कल्पना है स्रष्टा के मन की । (पृ० २४)

विरोधाभास—

कौन है यह जग, समेटे अंक में ज्वालामुखी को
चांदनी चुमकार कर बहला रही है ? (पृ० ५२)

लोकोक्ति—

यहाँ जहाँ भी पूर्ण स्वरस है, वहीं निकट खाई में
दाँत पजाती हुई घात में छिपी मृत्यु बैठी है । (पृ० १२८)

रूपक—

तुम पर्वत, मैं लता, तुम्हारी बलवत्तर बाँहों में
विह्वल, रस-आकुलित, क्षाम मैं मूर्च्छित हो जाऊँगी । (पृ० ६५)

अनुप्रास—

देवालय में देवता नहीं केवल मैं हूँ
मेरी प्रतिमा को घेर उठ रहा अगर गंध ।

यहाँ 'द' वर्ण का अनुप्रास है ।

खड़ी-खड़ी अनमनी तोड़ती हुई कुसुम-पंखड़ियाँ
किसी ध्यान में पड़ी गँवा देती घड़ियों पर घड़ियाँ । (पृ० १४)

यहाँ 'ड़' वर्ण की आवृत्ति में अनुप्रास है ।

अप्रतिहत यह अनल ! दग्ध हो जिसकी दाहकता से
कुंज-कुंज में जगे हुए कोकिल क्रंदन करते हैं । (पृ० १५)

यहाँ 'क' वर्ण की आवृत्ति है ।

रति की मूर्ति, रमा की प्रतिमा, तृषा विश्वमय नर की,
विधु की प्राणेश्वरी, आरती-शिखा काम के कर की । (पृ० १३)

उक्त पंक्तियों में 'त', 'क', 'म', वर्णों की आवृत्ति में अनुप्रास अलंकार है ।

अपह्नुति—

नहीं उर्वशी नारी नहीं, आभा है निखिल भुवन की;

रूप नहीं, निष्कलुष कल्पना है त्रिष्टा के मन की। (पृ० २४)

प्रस्तुत पंक्तियों में उर्वशी का निषेध कर, उसको समस्त संसार की कान्ति एवं त्रिष्टा के मन की कल्पना के रूप में दिखाया गया है। अतः यहाँ अपह्नुति अलंकार है।

अप्रस्तुत प्रशंसा—

पर, देखो तो, दिखा-दिखा दर्पण शशांक यह कैसे

सबके मन का भेद गुप्तचर-सा पढ़ता जाता है,

(भेद शैल-द्रुम का, निकुंज में छिपी निर्भरी का भी।)

और सभी कैसे प्रसन्न अभ्यन्तर खोल रहे हैं,

मानो, चन्द्र-रूप धर प्राणों का पाहुन आया हो।

ऐसी क्या मोहिनी चन्द्रमा के कर में होती है ? (पृ० ६७)

इन पंक्तियों में अप्रस्तुत शैल-द्रुम तथा निर्भरी के द्वारा प्रस्तुत पुरूरवा तथा उर्वशी की व्यंजना कराई गयी है। अतः अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार है।

अनुमान—

स्यात्, भेद जो खुला नहीं अब तक रहस्य-ज्ञानी पर

अनायास ही उसे देखते हैं ये सहज नयन से,

क्योंकि दृष्टि पर अभी ज्ञान का कंचुल नहीं चढ़ा है।

(पृ० ११५)

अन्योक्ति—

अप्रतिहत यह अनल ! दग्ध हो इसकी दाहकता से

कुंज-कुंज में जगे हुए कोकिल क्रन्दन करते हैं। (पृ० ५६)

इन पंक्तियों में कोकिल-क्रन्दन के माध्यम से मानव-क्रन्दन की ओर इंगित किया जा रहा है, अतः यहाँ अन्योक्ति अलंकार है।

पर, शोणित दौड़ता जिधर को, उस अभिप्रेत विशा में,

निश्चय ही, कोई प्रसून यौवनोत्फुल्ल सौरभ से

विकल-व्यग्र मधुकर को रस-आमन्त्रण भेज रहा है। (पृ० ६०)

प्रस्तुत पंक्तियों में मधुकर (भ्रमर) का वर्णन किया गया है। मधुकर-वर्णन अभीष्ट है। अतः यहाँ अन्योक्ति अलंकार है।

अधिक—

जग भर की माधुरी अरुण अधरों में भरी हुई-सी। (पृ० २४)

इस पंक्ति में आधार है—लघु मधुर और सुविस्तृत, आधेय है जग भर की सुषमा, माधुरी । अतः लघुता में प्रभुता का समावेश स्पष्ट है । परिणामस्वरूप यहाँ अधिक अलंकार है ।

उल्लेख—

निम्न अवतरण में उर्वशी का विविध प्रकार से उल्लेख प्रस्तुत किया गया है ।
अतः इन पंक्तियों में उल्लेख अलंकार है—

इसीलिये तो सखी उर्वशी, ऊषा नन्दन वन की,
सुरपुर की कौमुदी, कलित कामना इन्द्र के मन की,
सिद्ध विरागी की समाधि में राग जगाने वाली,
देवों के शोणित में मधुमय आग लगाने वाली,
रति की मूर्ति, रमा की प्रतिमा, तृषा विश्वमय नर की,
विधु की प्राणेश्वरी, आरती-शिखा काम के कर की, (पृ० ६३)

इसी प्रकार निम्न पंक्तियों में नर के विभिन्न रूपों का उल्लेख होने के कारण यहाँ भी उल्लेख अलंकार है—

यह तो नर ही है, एक साथ जो शीतल और ज्वलित भी है ।
मन्दिर में साधक-भ्रती, पुष्प-वन में कंदर्प ललित भी है ।
योगी अनन्त, चिन्मय, अरूप को रूपायित करने वाला,
भोगी ज्वलन्त, रमणी-मुख पर चुम्बन अधीर धरने वाला । (पृ० ५७)

उत्प्रेक्षा—

निम्न कवितांश में मन्द-मन्द वायु में प्रेम की अलसाई-सी कामना की अनुभूति की गई है । परिणामस्वरूप यहाँ उत्प्रेक्षालंकार है—

इन द्वीपों के बीच चन्द्रमा मंद-मंद चलता है,
मंद-मंद चलती है नीचे वायु श्रान्त मधुवन की,
मद-विह्वल कामना प्रेम की, मानो अलसायी-सी
कुसुम-कुसुम पर विरम मंद मधु-गति में घूम रही है । (पृ० ५)

उदाहरण—

नीचे दी गई पंक्तियों में 'ज्यों' शब्द के प्रयोग से बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव प्रदर्शित किया गया है । यहाँ उदाहरण अलंकार का प्रयोग है—

जल उठती है प्रणय-वह्नि, वैसे ही, शांत हृदय में,
ज्यों, निद्रित पाषाण जाग कर हीरा बन जाता है । (पृ० १२७)

उपमा—

निम्न पंक्तियों में उर्वशी का लता से समानता का उल्लेख होने के कारण उपमालंकार है—

समा गयी उर-बीच अप्सरा सुख-संभार-नता-सी,
पवंत के पंखों में सिमटी गिरिमल्लिका-लता-सी। (पृ० ३१)

काव्यालिंग—

प्रस्तुत प्रसंग में 'जीने की अपेक्षा मरना वरेण्य है औशीनरी की इस इच्छा के साथ राजा पुरुरवा तथा उर्वशी का आजीवन साथ रहना उल्लिखित है। यह काव्य-लिंग अलंकार का उदाहरण है—

आजीवन वे साथ रहेंगे ? तो अब क्या करना है ?
जीते जी यह मरण भेलने से अच्छा मरना है। (पृ० ३२)

तुल्ययोगिता—

निम्नलिखित पंक्तियों में 'भोगते बैठे रहे' क्रिया से प्रताप, यश, जय, कलि, फूल आदि अनेक भावों के सुख के सम्बन्ध का उल्लेख होने के कारण तुल्ययोगिता अलंकार है।

निष्ठुर बन निश्चित भोगते बैठे रहे महल में
सुख प्रताप का, यश का, जय का, कलियों का, फूलों का। (पृ० ४४)

इसी प्रकार नीचे दी हुई पंक्तियों में भी 'टँगें' तथा 'लगते हैं', क्रियाओं से निमिष, पल, दिवस, मास, संवत्सर का सम्बन्ध प्रदर्शित होने के कारण तुल्ययोगिता अलंकार है।

अतल, अनादि, अनंत, पूर्ण, बृंहित, अपार अम्बर में,
सीमा खींचें कहाँ ? निमिष, पल, दिवस, मास, संवत्सर
महाकाश में टँगें काल के लवतक-से लगते हैं। (पृ० ६६)

तद्गुण—

प्रस्तुत पंक्तियों में मिट्टी के सपने 'सुरपुर की शोभा' के 'डूबने' और परिणाम-स्वरूप तद्गुण हो जाने का वर्णन है। अतः यहाँ तद्गुण अलंकार है—

पुरुषरत्न को देख न वह रह सकी आप अपने में,
डूब गयी सुरपुर की शोभा मिट्टी के सपने में। (पृ० १३)

दीपक—

निम्न पंक्तियों में 'प्रकटे', 'दुरे', 'छिपे' आदि अनेक क्रियाओं से एक प्रमदा का सम्बन्ध स्थापित किया गया है। परिणामस्वरूप यहाँ दीपक अलंकार है—

क्षण-क्षण प्रकटे, दुरे, छिपे फिर-फिर जो चुम्बन लेकर,
ले समेट जो निज को प्रिय के क्षुधित अंक में देकर;
जो सपने के सदृश बाहु में उड़ी-उड़ी आती हो,
और लहर-सी लौट तिमिर में डूब-डूब जाती हो,

प्रियतम को रख सके निमज्जित जो अतृप्ति के रस में,
पुरुष बड़े सुख से रहता है उस प्रमदा के बस में । (पृ० ३५-३६)

परिकर—

निम्न पंक्तियों में 'तृप्ति', 'श्रान्त' विशेषणों का प्रयोग साभिप्राय है । अतः यह परिकर अलंकार का उदाहरण हुआ—

आ मेरे प्यारे तृप्ति ! श्रान्त ! अन्तःसर में मज्जित करके,
हर लूंगी मन की तपन चाँदनी, फूलों से सज्जित करके ।

(पृ० ५७)

प्रतिवस्तूपमा—

निम्नलिखित पंक्तियों में 'अपने आप में न रह सकी' तथा 'डूब गयी' अभिव्यक्तियाँ 'खो जाने' का अर्थ व्यक्त करती हैं । हमारे शब्दों में हम कह सकते हैं कि कवि का अभीष्ट है खो जाना, विस्मृत हो जाना, किन्तु उसे दो विभिन्न कथनों में प्रस्तुत किया गया है । अतः यहाँ प्रतिवस्तूपमा अलंकार है—

पुरुष रत्न को देख न वह रह सकी आप अपने में,
डूब गयी सुरपुर की शोभा मिट्टी के सपने में

(पृ० १३)

भ्रान्तिमान --

भ्रमोत्पादन के कारण भ्रान्तिमान अलंकार का उदाहरण निम्न पंक्तियों में उपलब्ध है—

यह अधित्यका दिन में तो कुछ इतनी बड़ी नहीं थी ?
अब क्या हुआ कि यह अनंत सागर-समान लगती है ?
कम कर दी दूरता कौमुदी ने भू और गगन की ?
उठी हुई-सी मही, व्योम कुछ झुका हुआ लगता है । (पृ० ६६)

मालोपमा—

प्रस्तुत प्रसंग में चित्रण ऋषि अपने लिए उपमाओं की माला (प्रौढ मेघ, पादप नवीन, मदकल, किशोर कुंजर ।) प्रस्तुत करते हैं, अतः यहाँ मालोपमा अलंकार है—

वरण करोगी मुझे ? तुम्हारे लिए जरा को तजकर
शुभे ! तपस्या के बल से यौवन मैं ग्रहण करूँगा
प्रौढ मेघ, पादप नवीन, मदकल, किशोर कुंजर-सा । (पृ० ११२)

यमक—

निम्न पंक्तियों में उर्वशी शब्द में यमक है—

किन्ही मर्त्य नयनों की रस-प्रतिमा, उर्वशी किसी की ?
सखी उर्वशी-सी तुम भी लगती कुछ मदमाती हो (पृ० ११)

वक्रोक्ति (काकु) —

साधु ! साधु ! मेनके ! तुम्हारा भी मन कहीं फँसा है ?
मिट्टी का मोहन कोई अंतर में आन बसा है ? (पृ० ११)

विनोक्ति —

निम्न पंक्ति में शब्द के प्रयोग न होने के कारण विनोक्ति अलंकार है—
मुख-सरोज मुसकान बिना आभा-विहीन लगता है । (पृ० १४)

विशेषोक्ति —

प्रस्तुत पंक्तियों का भाव है कि सरोवर के तट पर भी तृषा शान्त न होकर यथावत् है । अतः कारण के उपस्थित रहते हुए भी कार्य सम्पादित न होने के कारण विशेषोक्ति अलंकार है ।

कौन है अंकुश, इसे मैं भी नहीं पहचानता हूँ ।
पर, सरोवर के किनारे कंठ में जो जल रही है,
उस तृषा, उस वेदना को जानता हूँ ।
आग है कोई, नहीं जो शांत होती;
और खुलकर खेलने से भी निरंतर भागती है । (पृ० ४८)

विचित्र —

प्रिय-प्रीति के लिए चन्द्र-आधारना न तो साहित्य-परम्परा है, न सामाजिक-परम्परा है, और न लोक-रीति है । अतः इस प्रकार चन्द्र-आराधना, व्रत-साधना आदि विचित्र बातें हैं । इस कारण निम्न पंक्तियों में विचित्र अलंकार है—

प्रिय की प्रीति हेतु रानी कोई व्रत साध रही हैं,
सुना, आजकल चंद्र-देवता को आराध रही हैं । (पृ० २५)

विषम —

दो विरूप उपादानों में संगति स्थापित करने पर विषम अलंकार होता है । निम्न पंक्तियों में 'उच्च शिखर' तथा 'तृषा ग्राम्य' इन दो विपरीत उपादानों में संगति बिठाने का प्रयत्न किया गया है । अतः यहाँ विषमालंकार है—

कहाँ उच्च वह शिखर, काल का जिस पर अभी विलय था ?
और कहाँ यह तृषा ग्राम्य नीचे आकर बहने की
पर्वत की आसुरी शक्ति के आकुल आलोड़न में ? (पृ० ७७)

विभावना —

जब कारण के अभाव में भी कार्य हो तो विभावना अलंकार होता है । उदा-

हरण के लिए 'पर के स्वाधीन मुकुट पर हाथ बढाना' और पर की वसुधा हरने के लिए संघर्ष करना' जैसे कारणों के अभाव में भी 'राज्य सीमा बढ़ने' तथा 'सुयश-सुखादि का प्राप्त होना जैसे कार्य पूर्ण हो रहे हैं। जैसे—

नहीं बढ़ाया कभी हाथ पर के स्वाधीन मुकुट पर,
न तो किया संघर्ष कभी पर की वसुधा हरने को ।
तब भी प्रतिष्ठान पुर वन्दित है सहस्र मुकुटों 'से,
और राज्य-सीमा दिन-दिन विस्तृत होती जाती है ।
इसी भाँति, प्रत्येक सुयश, सुख विजय, सिद्धि जीवन की
अनायास, स्वयमेव प्राप्त मुभको होती आयी है । (पृ० ४६)

वीप्सा—

किसी शब्द की सादृश्य द्विरुक्ति के कारण वीप्सा अलंकार होता है । उदाहरण के लिए नीचे की पंक्ति में 'तेज' शब्द का प्रयोग इसी प्रकार हुआ । उससे आगे की पंक्ति में 'थकी' शब्द का द्विरुक्ति है ।

तेज-तेज साँसें चलती हैं, धड़क रही छाती है,
चित्रे ! तू इस तरह कहाँ से थकी-थकी आती है । (पृ० २०)

व्यतिरेक—

निम्न पंक्तियों में कामिनी की कुसुम से सकारण श्रेष्ठता स्थापित की गई है अतः यहाँ व्यतिरेकालंकार है—

कुसुम और कामिनी, बहुत सुन्दर दोनों होते हैं,
पर तब भी नारियाँ श्रेष्ठ हैं कहीं कांत कुसुमों से,
क्योंकि पुष्प हैं मूक और रूपसी बोल सकती है ।
सुमन मूक सौंदर्य और नारियाँ सवाक् सुमन हैं । (पृ० ८७)

व्याज-स्तुति—

निम्न पंक्तियों में मानव-चपलता की मधुकर-चपलता से समता दिखाकर मानव में निहित कामातिशय भाव की निन्दा व्यजित की गई है, अतः यहाँ अन्योक्ति-पूर्ण व्याजस्तुति अलंकार है—

पर, नर के मन को सदैव वश में रखना दुष्कर है,
फूलों से यह मही पूर्ण है और चपल मधुकर है । (पृ० ३७)

समासोक्ति—

निम्न उद्धरण की पहिली पंक्ति में 'भग्नावशेष यौवन का न रुचना' प्रस्तुत कथन है, दूसरी तथा तीसरी पंक्ति में 'देव मन्दिर का तभी तक रुचना जब तक तोरण

२०४ उर्वशी : संवेदना और शिल्प

के पल्लव-प्रसून हरे-भरे हैं' अप्रस्तुत कथन है। इन दोनों में से प्रथम कथन द्वितीय कथन के व्यापार का आरोप किया गया है, अतः यहाँ समासोक्ति अलंकार है—

यौवन का भग्नावशेष वह तब फिर किसे रुचेगा ?
यहाँ देव-मन्दिर में भी तब तक ही जन जाते हैं,
जब तक हरे-भरे, मृदु हैं पल्लव-प्रसून तोरण के (पृ० १०६)

सन्देह—

नीचे दी हुई पंक्तियों में निश्चयज्ञान के अभाव के कारण सन्देह हो रहा है, अतः यहाँ सन्देहालंकार है।

कलकल करती हुई सलिल-सी गाती, धूम मचाती
अम्बर से ये कौन कनक प्रतिमाएँ उतर रही हैं ?
उड़ी आ रही छूट कुसुम-वल्लियाँ कल्प-कानन से ?
या देवों की वीणा की रागिनियाँ भटक गयी हैं ?
उतर रही हैं ये नूतन पंक्तियाँ किसी कविता की
नयी अर्चियों-सी समाधि के झिलमिल अँधियाले में !
या वसन्त के सपनों की तस्वीरें घूम रही हैं
तारों भरे गगन में फूलों-भरी धरा के भ्रम से ! (पृ० ६)

स्मरण—

निम्न पंक्तियों में सुकन्या पूर्व-घटनाओं का स्मरण करती है। इसीलिए यहाँ स्मरण अलंकार है—

हाय, चित्रलेखे ! प्रशस्तियाँ क्या-क्या नहीं सुनी थीं ?
किसे नहीं मुख में दीखा था पूर्ण चन्द्र अम्बर का
नयनों में बाहणी और सीपी की चमक त्वचा में ? (पृ० ११३)

स्वभावोक्ति—

प्रस्तुत पंक्तियों में प्रेम की प्रसिद्ध प्रक्रिया का उल्लेख किए जाने के कारण स्वभावोक्ति अलंकार है।

जगता प्रेम प्रथम लोचन में, तब तरंग-निभ मन में, (पृ० ६२)

श्लेष—

निम्न पंक्ति में उर्वशी शब्द के दो अर्थ हैं, अतः यहाँ श्लेषालंकार है।

सखी उर्वशी-सी तुम भी लगती कुछ मदमाती हो, । (पृ० ११)

एक उर्वशी का अर्थ स्वर्ग की अप्सरा उर्वशी से है तथा दूसरा अर्थ उर में बसी हुई से है।

बिम्ब-योजना—

अलंकारों के अतिरिक्त बिम्ब-योजना भी काव्य-सौष्ठव की वृद्धि में असाधारण रूप से सहायक होती है। भाषा की शक्ति काव्य-बिम्ब उभारने में परखी जाती है। काव्य-बिम्बों की स्पष्टता भाषा की सक्षमता पर निर्भर करती है। बीसवीं शताब्दी के अंग्रेजी कवियों में डी० एच० लारेन्स और टी०एस० इलियट में यह बात स्पष्ट देखने में आती है। इलियट का काव्य तो बिम्बों की रचना के लिए अति-वेख्यात है। दिनकर जी बिम्ब-योजना का महत्व जानते हैं और उन्होंने अपने काव्य में इसकी शक्ति का आदर कर उसको स्थापत्य तथा घटना-शृंखला प्रदान की है। जिस प्रकार इलियट की प्रसिद्ध रचना 'वैस्टलैण्ड' अलग-अलग कविताओं का संग्रह होते हुए भी एक कड़ी का निर्वाह करती है, उसी भाँति 'उर्वशी' को यदि प्रखण्डों में विभक्त कर दिया जाये तो वह एक शृंखला ही प्रतीत होगी।

दिनकर जी के बिम्बों का आधार प्रमुखतः प्रकृति है। प्रकृति के माध्यम से ही रस-परिपाक का समुच्चय मिलता है, क्योंकि कविता हमारा रागात्मक सम्बन्ध प्रकृति से स्थापित कर सकी है। 'उर्वशी' के बिम्ब उस रोमाण्टिक भाव-बोध के लिए अनिवार्य हैं जो कवि ने तृतीय अंक के माध्यम से देने का प्रयास किया है। ये बिम्ब केवल वातावरण का निर्माण ही नहीं करते अपितु नाटकीयता की सृष्टि भी करते हैं। उदाहरण के लिए तीसरे अंक से उर्वशी का निम्न कथन उद्धृत किया जा सकता है—

पवनान्दोलित वारिद-तरंग पर समासीन
नीहार-आवरण में अम्बर के आर-पार,
उड़ते मेघों को दौड़ बाहुओं में भरती,
स्वप्नों की प्रतिमाओं का आलिगन करती।
विस्तीर्ण सिन्धु के बीच शून्य, एकांत द्वीप,
यह मेरा उर

(पृ० ६६)

इन पक्तियों में एक ओर 'उर्वशी' के उन्मुक्त हृदय का चित्र है—पवन की तरंगों पर आन्दोलित वारिद के समान, जहाँ स्वप्न-लोक का अयथार्थ है—दूसरी ओर विस्तृत जल-राशि के बीच कही स्थित एकांत द्वीप का शून्य भी, स्थिरता भी और विवशता भी।

चित्रात्मकता

'उर्वशी' केवल मात्र काव्य-कृति नहीं है, वह गीति-नाट्य की कोटि में भी आती है। नाटक का मूल उद्देश्य होता है, अभिनय, प्रदर्शन, सादृश्यता तथा चित्रात्मकता। अतः 'उर्वशी' की भाषा में चित्रात्मकता अपरिहार्य है। उसमें हमें शब्द-चित्र, रेखा-चित्र, रंग-चित्र, तैल-चित्र, भित्ति-चित्र आदि प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं। कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं।

निम्न पंक्तियों में कतिपय उत्प्रेक्षाएँ हैं। ये उत्प्रेक्षाएँ एक लघु रेखा-चित्र में समर्थ हैं। ये सभी लघु रेखा-चित्र एक वृहद् रेखाचित्र की सृष्टि करते हैं, जो एक पुष्पोद्यान या वाटिका-सी प्रतीत होती है—

शान्ति-शान्ति सब ओर, किंतु यह ऋवणन-ऋवणन-स्वन कैसा ?

अतल व्योम उर-में ये कैसे नूपुर भनक रहे हैं ?

उगी कौन-सी विभा ? इन्दु की किरणे लगों लजाने,

ज्योत्स्ना पर यह कौन अपर ज्योत्स्ना छापी जाती है ?

कल-कल करती हुई सलिल-सी गाती, धूम मचाती

अम्बर से ये कौन कनक-प्रतिमा में उतर रही है ?

उड़ी आ रही छूट-कुसुम-वल्लियाँ कल्प कानन से ?

या देवों की वीणा की रागनियाँ भटक गई हैं ?

उतर रही है ये नूतन पंक्तियाँ किसी कविता की

नयी अर्चियों-सी समाधि के झिलमिल अधियाले में ?

या वसन्त के सपनों की तस्वीरें घूम रही हैं

तारों-भरे गगन में फूलों-भरी धरा के भ्रम से ?

(पृ० ६)

तैल-चित्र से तात्पर्य ऐसे चित्रात्मक वर्णन से होता है जो अपने-आप स्निग्ध होते हैं। उर्वशी से सम्बन्धित सभी वर्णन तैल-चित्र के अन्तर्गत आते हैं। उर्वशी के मादक सौन्दर्य का निम्न चित्र द्रष्टव्य है है—

प्रकटी जब उर्वशी चांदनी में द्रुम की छाया से,

लगा सर्प के मुख से जैसे मणि बाहर निकली हो,

याकि स्त्रयं चांदनी स्वर्ण-प्रतिमा में आन ढली हो,

उतरी हो धर देह स्वप्न की विभा प्रभद-उपवन की,

उदित हुई हो या कि समन्वित नारी श्री त्रिभुवन की।

कुसुम कलेवर में प्रदीप्त आभा ज्वलामय मन की,

चमक रही थी नग्न कान्ति वसनों से छनकर तन की।

हिमकर-सिक्त-कुसुम-सम उज्ज्वल अंग अंग झलमल थे।

मानो अभी-अभी जल से निकला उत्फुल्ल कमल था।

किसी सान्द्र वन के समान नयनों की ज्योति हरी थी,

बड़ी-बड़ी पलकों के नीचे निद्रा भरी-भरी थी।

अंग-अंग में लहर लास्य की राग जगाने वाली,

नर के सुप्त, शान्त शोणित में आग लगाने वाली।

(पृ० ३०)

भित्ति-चित्र का तात्पर्य ऐसे चित्रों से है जो अपने आप में स्थूल हों, व्यापक हों, सावयव हों। उदाहरण के लिए कंचुकी द्वारा वर्णित गन्धमादन-पर्वत का दृश्य उद्धृत किया जा सकता है—

पवन स्वास्थ्य दायी, शीतल सुस्वादु यहाँ का जल है,
 झीलों में, बस, जिधर देखिए, उत्पल ही उत्पल है ।
 लम्बे-लम्बे चीड़ ग्रीव अम्बर की ओर उठाये,
 एक चरण पर खड़े तपस्वी-से हैं ध्यान लगाए ।
 दूर-दूर तक बिछे हुए फूलों के नन्दन-वन है,
 जहाँ देखिए, वहीं लता-तरुओं के कुंज-भवन हैं ।
 शिखरों पर हिम-राशि और नीचे झरनों का पानी,
 बीचों-बीच प्रकृति सोयी है ओढ़ निचोली धानी । (पृ० ३६)

इन बिम्बों—स्थिति-बिम्ब और भाव-बिम्ब—को उभारने में कवि ने संयुक्ता-
 क्षरों का प्रयोग किया है ।

‘उर्वशी’ की भाषा की एक अन्य विशेषता उसकी सूत्रात्मकता है । दर्शन के निकट पहुँचकर कवि सूत्रों में अपनी बात कहने लगता है । अग्नेज कवियों में शेक्स-
 पीयर और पोप दो ऐसे कवि हैं जिनकी रचनाओं में सूक्तियों की सबसे अधिक भरमार
 है । सूक्तियों में मानव-जीवन-अनुभवों का सारतत्त्व चेतनावनी रूप में सन्निहित रहता
 है । वस्तुतः इनका उद्देश्य मनोरंजन की अपेक्षा लौकिक-पारलौकिक जीवन का परि-
 मार्जन और परिशोधन ही अधिक होता है । किन्तु जब ये सूक्तियाँ प्रासंगिक रूप से
 काव्य में अभिव्यक्ति पाती हैं तो काव्य की अमूल्य निधि बन जाती है । इन सूक्तियों के
 प्रयोग से ‘उर्वशी’ में प्रगीतात्मकता को स्थान मिला है, साथ ही भाव-औदात्य को भी
 ऊर्ध्वता प्राप्त हुई है । इन सूक्तियों में कुछ कवि के स्वयं के चिन्तन का परिणाम है,
 कुछ अनुभूति-मूलक है और कुछ अन्य भाषाओं से अनूदित होकर आयी है । इनके
 कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं —

रम्भा का कथन—

सो सुख तो होगा, परन्तु यह मही बड़ी कुत्सित है,
 जहाँ प्रेम की मादकता में भी यातना निहित है ।
 नहीं पुष्प ही अलम, वहाँ फल भी जनना होता है,
 जो भी करती प्रेम, उसे माता बनना होता है । (पृ० १६)

मेनका का कथन—

गलती है हिमशिला, सत्य है, गठन बेह की खोकर,
 पर हो जाती वह असीम कितनी पयस्विनी होकर ? (पृ० १६)

पुरूरवा का कथन—

दृष्टि का जो पेय है, वह रक्त का भोजन नहीं है ।
 रूप की आराधना का मार्ग आलिंगन नहीं है । (पृ० ४६)

इस प्रकार की सूक्तियाँ, मुहावरे, तथा लोकोक्तियाँ 'उर्वशी' में इतनी प्रयुक्त हुई हैं कि यदि उन पर पृथक् रूप से विचार किया जाय तो एक आलोचना-ग्रन्थ का निर्माण हो सकता है।

'उर्वशी' की भाषा की एक और विशेषता यह है कि दिनकर जी ने काव्य-पंक्तियों में शब्द इस प्रकार चुन-चुन कर रखे हैं कि उन्हें उनके स्थान से विस्थापित नहीं किया जा सकता है। शब्दों के भावों के अनुकूल, छन्द विधान के अनुसार कविता के चरणों में इस प्रकार प्रयोग किया है कि उनके इधर-उधर होते ही भाव आहत हो जाता है। 'उर्वशी' काव्य में, इस प्रकार, दिनकर जी के शब्दन्यास नैपुण्य का, शब्द-स्थापना सुविज्ञता का, तथा शब्दमैत्री मर्मज्ञता का पद-पद पर परिचय मिलता है तथा सर्वोत्तम शब्दों को उनके सर्वोत्तम स्थान पर प्रयोग करके अपने अभिव्यक्ति-विषयक अपूर्व कौशल का परिचय दिया है। यही नहीं वर्णसाम्य, ध्वनिसाम्य तथा रूपसाम्य ने पद-मैत्री की प्रतिष्ठा का परिवर्द्धन कर इस रचना को प्रवाहयुक्त, द्रुतगामिनी तथा चित्ताकर्षक बनाने में पूर्ण सहयोग दिया है। उनकी भाषा में एक गति है, लय है, ताल है और सबके सहयोग से उत्पन्न हुई संगीतात्मता है। उनकी भाषा में एक ओर व्यंजनों की मैत्री होती है, दूसरी ओर अनुकरणात्मक शब्द-गुम्फन। 'उर्वशी' में नाद-सौन्दर्य और ध्वन्यात्मकता का समावेश स्पष्ट रूप में दृष्टिगोचर है। उदाहरण के लिए प्रथम अंक में अप्सराओं के गीत से इसकी स्पष्ट व्यंजना होती है—

हम गीतों के प्राण सघन,
छूम छनन छन्, छूम छनन ।
बजा व्योम वीणा के तार
भरतीं हम नीली झकार,
सिहर-सिहर उठता त्रिभुवन ।
छूम छनन छन्, छूम छनन ।

(पृ० ६)

'उर्वशी' के शब्दों की संयोजना केवल ध्वन्यात्मक सौन्दर्य ही प्रदान नहीं करती अपितु, विशिष्ट अर्थ की भी संगीतमय रचना करती है—

मंद-मंद तिर रहे आज प्राणों के मादक सर में ?

इस पंक्ति में जहाँ 'मन्द-मन्द' शब्द द्वारा 'मादक-सर' की मादकता और भी मुखर हो उठती है, वहाँ 'तिर' शब्द का प्रयोग अत्यधिक अर्थ-व्यंजक भी है।

'शब्द' का महत्व केवल काव्य में ही नहीं अपितु मानव-जीवन में भी असाधारण है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने शब्द की महत्ता इस प्रकार प्रकट की है—

'एकः शब्दः सम्पदं ज्ञात सुप्रयुक्तः स्वर्गं लोके च कामधुग् भवति'। भली-भांति से ज्ञात और समुचित प्रकार से प्रयुक्त एक ही शब्द स्वर्ग लोक में इच्छित फल प्रदान करता है)। कविवर दण्डी शब्द के महत्व के इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

इदमन्धन्तमः कृत्सनं जायेत भुवन-त्रयम् ।

यदि शब्दाह्वयं ज्योतिः संसारे न दीप्यते ॥

(यदि संसार में शब्द-प्रकाश न रहे तो तीनों भुवनों में घोर अन्धकार छा जाय)

कबीरदास जी शब्द-सामर्थ्य के विषय में इस प्रकार कहते हैं—

शब्द-शब्द सब कोई कहे, शब्द के हाथ न पाव ।

एक शब्द औषधि करै, एक शब्द कर घाव ।

शब्द बराबर धन नहीं, जो कोऊ जाने बोल ।

हीरा तो दामों मिले, शब्द ही मोल न तोल ॥

इसी प्रकार का भाव अंग्रेज-कवि शेक्सपीयर व्यक्त करते हैं—

Words do well

When he that speaks them please those that hear.

महाकवि तुलसीदास ने अर्थ और अक्षर को कवि की सच्ची शक्ति मानते हुए कहा है—

‘कविहि अरथ-आखर बल साँचा ।’

इसी भाँति विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर प्रार्थना करते हैं—

प्रतिदिन तब, गाथा गावो आमि सुमधुर,

तुम मेरे दाओ कथा तुमि मोरे दाओ सूर ।

(मैं प्रतिदिन तुम्हारी कमनीय कीर्ति का गुण गाऊँगा, तुम मुझे शब्द प्रदान करो, तुम मुझे स्वर का दान दो)

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि दिनकर जी ‘उर्वशी’ का प्रणयन करते समय शब्द-महता के प्रति पूर्णरूपेण जागरूक रहे हैं। उनकी रचना में आचार्य मम्मट तथा पण्डित विश्वनाथ द्वारा किए गए शब्द के तीन भेदों के प्रत्येक स्वरूप उल्लेख होते हैं। हैं। मम्मट लिखते हैं—

स्यादाच को लाक्षणिकः शब्दोऽत्र व्यञ्जकस्त्रिधा । (काव्य प्रकाश)

और विश्वनाथ लिखते हैं—

अर्थो वाच्यश्च, लक्ष्यश्च व्यङ्ग्यश्चेति त्रिधा मतः (साहित्य दर्पण)

दोनों आचार्यों के अनुसार शब्द के तीन भेद हैं—वाचक, लाक्षणिक व्यञ्जक। इनमें वाचक या वाच्यार्थ को अभिप्राय, मुख्यार्थ अथवा संकेतितार्थ की भी सज्ञा प्रदान की गई है। आचार्य मम्मट के अनुसार मुख्यार्थ अथवा संकेतितार्थ का द्योतक व्यापार ही अभिधा है—‘सः मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते ।’ विश्वनाथ अभिधार्थ को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—‘तत्र संकेतितार्थस्य बोधनादभिधा ।’ उनका संकेत

शब्द से अर्थ है—चिह्न, क्योंकि चिह्न रूप संकेतों से पदार्थ का ज्ञान होता है, अतः उस पद से ध्वनित अर्थ को संकेतितार्थ कहते हैं तथा पदजनित अर्थ-ज्ञान में प्रमुख होने के कारण उसे मुख्यार्थ कहते हैं ।

दिनकर जी ने 'उर्वशी' में अनेक स्थलों पर ऐसे उपमानों की संयोजना की है जिससे मुख्यार्थ मर्मस्पर्शी बन गया है तथा अभिधार्थ आकर्षक हो गया है । उदाहरण के लिए निम्न पंक्तियों में सरोज उपमान के संकेत ग्रह ने मुख्य उपमान के अभिधार्थ को असाधारण एवं अत्यधिक मनोहारी रूप में प्रस्तुत किया है—

मुख-सरोज मुस्कान बिना आभा-बिहीन लगता है,

भुवन-मोहिनी श्री का चन्द्रानन मन लगता है । (पृ० १४)

इसी प्रकार निम्न पंक्तियों में ध्यान से देखने पर ज्ञात होता है कि 'लाल-लाल-चरण' के माध्यम से संकेतित अभिधार्थ को 'कमल-कुकुम-जावक' उपमान अत्यन्त ही कौशलपूर्वक अर्थ की मार्मिकता तथा असाधारण अरुणिमा प्रदान कर रहे हैं—

लाल-लाल वे चरण-कमल-से कुंकुम-से, जावक-से,

तन की रक्तिम कान्ति शुद्ध, ज्यों, धुली हुई पावक से ।

(पृ० २४)

पुनश्च द्वितीय अंक में निपुणिका ने महाराज पुरुरवा की गोद में लिपटी हुई उर्वशी के लिए 'पर्वत पंखों में सिमटी गिरिमल्लिका-लता' उपमान प्रस्तुत कर उपमेय के अभिधार्थ में जिस भाव भव्यता का सन्निवेश किया है वह अपने में अनुपम है—

महाराज ने देख उर्वशी को अधीर अकुला कर,

बाँहों में भर लिया दीड़ गोदी में उसे उठाकर ।

समा गयी उर-बीच अप्सरा मुख-संभार-नता-सी,

पर्वत के पंखों में सिमटी गिरिमल्लिका-लता-सी । (पृ० ३१)

'उर्वशी' में ऐसे प्रसंगों की भी कमी नहीं है जिनमें अनेकार्थक शब्दों का प्रयोग हुआ है । किन्तु दिनकर जी ने इन शब्दों की अनेकार्थता, वाक्य-शेष संकेतग्रह की सहायता से, बाधित कर दी है तथा उनके अभिधार्थ को एकार्थ द्योतक बना दिया है । उदाहरण के लिए निम्न पंक्तियों में प्रयुक्त 'सुधा' शब्द स्वभाव से अनेकार्थवाची है—अमृत-जल, दूध, मधु, रस आदि । किन्तु 'अपने अधरों की' वाक्य शेष के कारण अनेकार्थक 'सुधा' शब्द केवल एक 'अधररस' अभिधेयार्थी को प्रकट करता है—

रसमयी मेघमाला बनकर मैं तुझे घेर छा जाऊँगी,

फूलों की छाँह तले अपने अधरों की सुधा पिलाऊँगी । (पृ० ५७)

इसी भाँति नीचे दी हुई पंक्तियों में 'शृंग' शब्द अनेकार्थ द्योतक होते हुए भी 'नगपति के उत्तुंग, समुज्ज्वल, हिमभूषित' वाक्य शेष संकेतग्रह से बाधित होने के कारण केवल 'शिखर' अभिधेयार्थ को प्रकट करा रहा है, 'सींग' आदि को नहीं—

नगपति के उत्तुंग, समुज्ज्वल, हिम-भूषित शृंगों पर,

कौन नयी उज्ज्वलता की तूली-सी फेर रहा है ? (पृ० ६५)

‘उर्वशी’ में कुछ ऐसे शब्दों का भी प्रयोग है जिनके मुख्यार्थमर्म तथा वाच्यार्थ-वैशिष्ट्य के आत्मसात् हेतु उनकी विवृति अर्थात् व्याख्या आवश्यक हो जाती है। इस व्याख्या के बिना अभिधार्थ अस्पष्ट रहता है। निम्न उदाहरणों में क्रमशः ‘अभिसार’ ‘पयस्विनी’ तथा ‘वासक-सज्जा’ शब्द विशद-विवृति की अपेक्षा रखते हैं—

जब से हम-तुम मिले, न जाने कितने अभिसारों में

रजनी कर शृंगार सितासित नभ में घूम चुकी है, (पृ० ४३)

...

...

...

गलती है हिमशिला, सत्य है, गठन देह की खोकर,

पर हो जाती वह असीम कितनी पयस्विनी होकर ? (पृ० १९)

...

...

...

या वासकसज्जा कोई फूलों के कूज-भवन में

पथ जोहती हुई, संकेत स्थल सूचित करने को

खड़ी समुत्सुक पदमराग मणि-नूपुर बजा रही है। (पृ० ६०)

दिनकर जी द्वारा ‘उर्वशी’ में प्रयुक्त ‘आलिंगन’, ‘ज्योत्सना’, ‘छम-छनन’, ‘सरोज’, ‘हिमकण’, ‘क्वणन-क्वणन’ आदि अनेक शब्दों का अभिधार्थ प्रयोगगत व्यवहार संकेतग्रह से ही स्पष्ट हो जाता है इसका अर्थ हुआ कि पाठक पढ़ते-पढ़ते ही शब्दगत मुख्यार्थ को अनायास ग्रहण करता जाता है।

दिनकर जी ‘उर्वशी’ में केवल शब्द-शिल्पी ही नहीं हैं अपितु, वह व्याकरण-विशेषज्ञ और अर्थ-आचार्य के रूप में भी उभर कर आये हैं। इस तथ्य की पुष्टि के लिए कुछ उदाहरण प्रस्तुत है—

बजा व्योम-वीणा के तार,

भरती हम नीली भंकार,

सिहर-सिहर उठता त्रिभुवन।

(पृ० ९)

तीसरी पंक्ति में क्रिया ‘उठता’ का रूप एकवचन है, किन्तु कर्त्ता ‘त्रिभुवन’, बहुवचन का द्योतक है। ऐसी दशा में ऊपर से व्याकरण की दृष्टि में अभिव्यक्ति सदोष प्रतीत होती है क्योंकि कर्त्ता तथा क्रिया के वचन में असंगति है। किन्तु गहराई से व्याकरणिक विवेचन करने के उपरान्त स्पष्ट होता है कि ‘त्रिभुवन’ शब्द सामासिक है जिसमें

कारण दिनकर जी ने उक्त पंक्ति में एकवचन क्रिया रूप ‘उठता’ का प्रयोग किया

है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि उक्त कथन व्याकरण की दृष्टि से पूर्णतः सही है। इसी प्रकार निम्न पंक्तियों में 'मुकुलित' शब्द का प्रयोग द्रष्टव्य है—

तन-प्रकान्ति मुकुलित अनन्त ऊषाओं की लाली-सी,
नूतनता सम्पूर्ण जगत् की संचित हरियाली-सी। (पृ० २४)

यहाँ 'मुकुलित' शब्द 'मुकुल' में 'इत' प्रत्यय का प्रयोग करने से बना है। इसका अर्थ है—कुछ-कुछ पुष्पित अर्थात् कली की अवस्था से कुछ आगे। इस अर्थ का सौन्दर्य तभी प्रकट होता है जब 'मुकुलित' शब्द की व्याकरणिक रचना पर दृष्ट-पात करते हैं और जब यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्यय के प्रयोग से शब्द के अर्थ में विशिष्टता आ जाती है। अतः यह विदित हुआ कि प्रत्ययान्त शब्दों के अभिधार्थ को आत्मसात करने के लिए व्याकरण सकेतग्रह की आवश्यकता होती है और इस प्रकार के प्रयोग उर्वशी में प्रचुर सख्या में हैं।

इसके कहने की आवश्यकता नहीं कि अभिधार्थ से लक्ष्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ से व्यंग्यार्थ अधिक मर्मस्पर्शी तथा चामत्कारिक होता है। आचार्य विश्वनाथ लक्ष्यार्थ को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

मुख्यार्थ बाधे तद्युक्तो यथाऽन्योऽर्थः प्रतीयते ।
रूढिः प्रयोजना द्वारा लक्षणा शक्तिरपिता ॥ (साहित्य दर्पण)

(मुख्यार्थ (वाच्यार्थ अथवा अभिधार्थ) के बाधित होने पर रूढ़ि अथवा प्रयोजन के आधार पर मुख्यार्थ से सम्बन्धित कोई अर्थ होना ही लक्षणार्थ है।)

काव्य प्रकाश के रचयिता आचार्य मम्मट भी इसी मत के प्रतिपादक हैं। वे लिखते हैं—

मुख्यार्थ बाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात् ।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिता क्रिया ॥ (काव्य प्रकाश)

'उर्वशी' में अनेक स्थानों पर लाक्षणिक शब्दों का प्रयोग किया गया है। नीचे दिये गये उद्धरण में प्रयोजन द्वारा लक्षणार्थ ग्रहण करने का उदाहरण द्रष्टव्य है—

तुम पर्वत, मैं लता, तुम्हारी बलवत्तर बाँहों में
बिह्वल, रस, आकुलित, क्षाम मैं मूर्च्छित हो जाऊँगी। (पृ० ६५)

इन पंक्तियों में पर्वत तथा उर्वशी में लता का आरोपण कर पुरुषवा में पर्वत तथा उर्वशी (लता) की कोमलता को प्रकट किया गया है। कवि का स्पष्ट प्रयोजन है कि राजा पर्वत के सदृश कठोर है तथा उर्वशी लता के सदृश सुकोमल। अतः यहाँ प्रयोजनवती लक्षणा है।

नीचे की पंक्ति में रूढ़िलक्षणा है क्योंकि रूढ़ि द्वारा लक्षणार्थ ग्रहण किया गया है—

भू को जो आनन्द सुलभ है, नहीं प्राप्त अम्बर को । (पृ० १०)
यहाँ 'भू' और 'अम्बर' दो शब्द प्रयुक्त हुए हैं, तथा क्रमशः उनके आनन्द उपलब्धि एवम् अनुपलब्धि का उल्लेख किया गया है और यह सुख-प्राप्ति अथवा अप्राप्ति केवल प्राणि-जगत् में ही सम्भव है । अतः रूढ़ि में 'भू' एवं 'अम्बर' का अर्थ होगा वहाँ के निवासी । इसलिए यहाँ रूढ़ि लक्षणा का उदाहरण है ।

इसके पश्चात् हम 'उर्वशी' में व्यंजना विकास का विवेचन करेंगे । शब्दगत अभिधार्थ तथा लक्षणार्थ के वर्धित होने पर, जो अन्य अर्थ ध्वनित होता है, वह व्यंग्यार्थ है । जो शक्ति इस प्रकार के अर्थ ग्रहण करने में सहायक होती है, वह व्यंजना है । आचार्य विश्वनाथ लिखते हैं—

विरतास्व भिधाद्यासु यथाऽर्थो बोध्यते परः ।

सा वृत्तिव्यंजना नाम शब्दस्यार्था दिकस्य च ॥ (साहित्य दर्पण)

व्यंजन-व्यापार को व्यंजन, ध्वनन, द्योतन, अंजन, प्रकाशन, प्रत्यायन, अनुगमन, बोधन, सूचना आदि अनेक नामों से भी पुकारा जाता है । जैसे आचार्य मम्मट लिखते हैं—

तच्च व्यंव ध्वनन द्योतनादि शब्द वाच्यमवश्वयितव्यम् ।

(काव्य प्रकाश)

व्यंजनार्थ (व्यंग्यार्थ) ध्वनित होने के कारण ध्वनि (ध्वन्यार्थ) भी कहलाता है । नीचे 'उर्वशी' से एक उद्धरण व्यंजनामयी मार्मिक उक्ति के उदाहरणस्वरूप दिया जाता है—

हाँ, अनोखी साधना है,

अप्सरा के संग रमना ईश की आराधना है ।

पुत्र पाने के लिए विहरा करे वे कुज-वन में,

और मैं आराधना करती रहूँ सूने भवन में ।

(पृ० ४०)

इसके अतिरिक्त दिनकर जी ने 'उर्वशी' में अनुकरणात्मक शब्दों का बहुत ही मनोहारी प्रयोग किया है । अनुकरण मनुष्य की मूल प्रवृत्ति है । मनुष्य का बौद्धिक तथा सांस्कृतिक विकास उसकी अनुकरण प्रवृत्ति का ही परिणाम है । भाषा अपने में अनन्त अनुकरणात्मक शब्दों को समाहित किए हुए है, जो प्रकृति के अनेकानेक उपादानों के अनुकरण पर निर्मित है । 'उर्वशी' से कुछ उदाहरण दिए जाते हैं । सर्वप्रथम सजीव जगत् के ध्वन्यात्मक अनुकरण मूलक शब्दों का प्रयोग दिखाया जाएगा—

चहक-चहक उठना वह विहगों का निकुज पुजों में । (पृ० १२५)

निर्जीव जगत् के अनुरणनात्मक अनुकरण मूलक शब्द—

शान्ति, शान्ति सब ओर, किन्तु यह क्वणन-क्वणन-स्वन कैसा ?

अतल व्योम उर में ये कैसे नूपुर भनक रहे हैं ।

दृश्यात्मक अनुकरण-मूलक शब्द—

भुक आती थीं किस प्रकार डालियाँ हमें छूने को,

शैलराज, मानो सपने में बाँहें बढ़ा रहा हो ।

किस प्रकार विचलित हो उठते थे प्रसून कुजों के,

मानो गन्धपूर्ण साँसों से हमको पी जायेंगे । (पृ० १२६)

दिनकर जी ने अपनी भाषा को समृद्ध और प्रभावशाली बनाने के लिए विभिन्न भाषाओं से शब्द लिये हैं । संस्कृत शब्दों का तो उन्होंने काफी प्रचुरता से प्रयोग किया है । कुछ उदाहरण दिये जाते हैं—

क्योंकि मर्त्य तो अमर-लोक को पूर्ण मान बैठा है । (पृ० ७)

दूटा लुब्ध श्येन-सा हमको त्रास अपरिमित देकर (पृ० १२)

जो अयोनिजा स्वयं, वही योनिज सन्तान जानेगी । (पृ० १७)

इसके अतिरिक्त दिनकर जी ने यदा-कदा उर्दू-फारसी आदि भाषाओं के शब्दों का भी प्रयोग किया है । कुछ विद्वान् इसको उनकी कविता का दोष मानते हैं । यथार्थ में दूसरी भाषाओं के शब्दों का प्रयोग करके दिनकर जी अपनी काव्यगत-अभिव्यक्ति को अधिक प्रभावशाली बनाने में समर्थ हुए हैं । कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

दूर-दूर तक फैल रही दूबों की हरियाली है,

बिछी हुई इस हरियाली पर शबनम की जाली है ।

जी करता है, इन शीतल बूंदों में खूब नहायें । (पृ० ६)

भाषा के इस सौन्दर्य के साथ यह भी निस्संकोच भाव से कहा जा सकता है कि अनेक स्थलों पर दिनकर जी की भाषा में स्पष्ट दोष दृष्टिगोचर होते हैं । 'उर्वशी' में दिनकर जी ने संस्कृतगर्भित परिनिष्ठत खड़ी बोली हिन्दी भाषा का प्रयोग किया है, किन्तु यत्र-तत्र ब्रजभाषा के शब्दों का प्रवेश भाषा की एकरूपता को हानि पहुँचाते हैं ।

उदाहरण के लिए निम्न पंक्तियों में जो ब्रजभाषा का शब्द है, का प्रयोग उचित नहीं लगता—

फिर बोले, 'जाने' कब तक परितोष प्राण पायेंगे ? (पृ० २४)

जानें, क्यों तैराक चतुर तब भी प्रशान्त धारा में । (पृ० ८२)

कहीं-कहीं दिनकर जी व्याकरण के नियम-विरुद्ध विराम-चिन्हों का प्रयोग कर देते हैं । जैसे—

महाराज ! आश्चर्य ! उर्वशी बेबी यहाँ नहीं है ?

कहाँ गयी ? थोड़ा अभी तो यहीं निकट स्वामी के ?

(पृ० १४३)

प्रथम पंक्ति के अन्त में प्रश्नवाचक चिन्ह के स्थान पर विस्मयादि बोधक चिन्ह होना चाहिए था, क्योंकि वक्ता साश्चर्य अपने भावोद्गार व्यक्त कर रहा है न कि प्रश्न पूछ रहा है। इसी प्रकार दूसरी पंक्ति में भी अन्तिम प्रश्नवाचक चिन्ह अनावश्यक है तथा व्याकरण के नियमों के प्रतिकूल है। व्याकरण के नियम के अनुसार या तो अन्त में पूर्णविराम प्रयुक्त होना चाहिए, अथवा प्रथम प्रश्नवाचक के स्थान पर अर्धविराम सूचक चिन्ह तथा अन्त में प्रश्नवाचक चिन्ह होना चाहिए था।

कहीं-कहीं दिनकर जी ने लिंग-व्यवस्था की भी गलती की है। उदाहरण के लिए 'कोकिल' शब्द साहित्य-परम्परानुसार तथा हिन्दी व्याकरण-नियमानुसार स्त्री-लिंग है, किन्तु 'उर्वशी' में यह पुलिग में प्रयुक्त हुआ है—

कुज-कुज में जगे हुए कोकिल क्रन्दन करते हैं। (पृ० ५६)

कभी-कभी कवि में भावावेग में आत्म-विस्तृत होकर कुछ अप्रचलित (obsolete) शब्दों का भी प्रयोग किया है, जो यद्यपि रमणीयता की अभिवृद्धि तो करते हैं किन्तु अर्थ-सम्बन्धी दुरुहता भी पैदा करते हैं। उदाहरणार्थ—

निष्पेषित मत करो, यद्यपि, इस मधु निष्पेषण में भी

...

...

...

विह्वल, रस-आकुलित, क्षात्र में सूँछित हो जाऊँगी। (पृ० ६५)

इसके अतिरिक्त 'उर्वशी' में कुछ अव्याकरणिक प्रयोग भी दृष्टिगोचर होते हैं। ये त्रुटियाँ या तो भावातिशय के कारण अनायास हो गई हैं या पद-पूर्ति हेतु सायास की गयीं हैं। जैसे—

कम कर दी दूरता कौमुदी ने भू और गगन की ? (पृ० ६६)

कुछ अनुपयुक्त प्रयोग भी दिखाई देते हैं—

खूबी! तुम्हारा लाल अभी से बहुत-बहुत नटखट है,।

(पृ० ११६)

इन कतिपय दोषों के होते हुए भी यह निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि 'उर्वशी' की भाषा अपने भाव-गुम्फन, अर्थवत्ता, सघनता, गम्भीर्य आदि की दृष्टि से ही नहीं अपितु शब्द-संगीत और नाद-सौन्दर्य की दृष्टि से भी अत्यन्त समृद्ध तथा सशक्त भाषा है। उसमें एक ओर उपयुक्त शब्द प्रसंग-वश भिन्न-भिन्न स्थलों पर भिन्न-भिन्न अर्थ प्रकट करते हैं। दूसरी ओर शब्दाश्रित अलंकारों की सहज-योजना उनके वैचित्र्य तथा सौन्दर्य में और अधिक वृद्धि कर देती है। इस सबसे ऊपर शब्द-शक्तियों, चित्रात्मक व्यंजनाओं एवं अनेकानेक प्रयोगों के सहयोग से 'उर्वशी' की भाषा के अर्थ-गौरव में चार चाँद लग गये हैं। कु० सरोज लिखती है—

"उर्वशी" की भाषा के अर्थ-गौरव की भव्यता प्रमुखतः उसके लाक्षणिक प्रयोगों पर ही निर्भर है। तत्सम-बहुला होते हुए भी उसकी भाषा मुहावरे एवं लोकोक्तियों

के समुचित प्रयोगों से जीवन्त, शक्ति-सम्पन्न तथा प्रभाविष्णु बन गई है। लाक्षणिकता तो 'उर्वशी' की भाषा का मूलभूत गुण है जो इस काव्य में प्रयुक्त अभिव्यजना के समस्त प्रसाधनों के अन्तरंग में व्याप्त है। इस दृष्टि से 'उर्वशी' की भाषा को 'लाक्षणिक-भाषा' का अभिदान देना असंगत न होगा।'

(‘उर्वशी की भाषा का काव्य शास्त्रीय अध्ययन’ अप्रकाशित लघु-शोध प्रबन्ध)

यदि हम यह कहें कि 'उर्वशी' में प्रयुक्त दिनकर जी की भाषा निश्चयात्मक रूप से Miltonic Phraseology के अन्तर्गत रखी जा सकती है तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। 'उर्वशी' की भाषा में मिल्टन की भाषा जैसी मृदुलता, तरलता तथा वाष्पीयता है।

परिशिष्ट

‘उर्वशी’ के विषय में विभिन्न विद्वानों द्वारा तथा पत्रों में व्यक्त किए गए विचारों में से कुछ अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं स्तुति-समन्वित पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत की जाती हैं—

डाक्टर नगेन्द्र—

“‘उर्वशी’ के अधिकांश प्रसंगों को पढ़ने में मुझे निश्चय ही रस मिला। भाव, कल्पना और परिपुष्ट ‘उर्वशी’ की कविता में भावों को आंदोलित करने, प्रबुद्ध कल्पना के सामने मूर्त-अमूर्त के रमणीय चित्र अंकित करने और विचार को उद्बुद्ध करने की अपूर्व क्षमता है। नर-नारी का प्रेम, दर्शन की शब्दावली में काम तथा काव्यशास्त्र की शब्दावली में रति-मानव-जीवन की सबसे प्रबल वृत्ति है और उर्वशी के काव्य का वही आधार विषय है।”

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी—

“‘उर्वशी’ बिम्ब-बिम्ब अद्भुत-अद्भुत मानस की नित्य नवीन सौन्दर्य-कल्पना के रूप में ऐसी बिखरी है कि आश्चर्य होता है। निश्चय ही, यह समाधिस्थ चित्त की रचना है....?”

डा० विद्वनाथ प्रसाद—

“कविवर दिनकर की कृति ‘उर्वशी’ में उनकी कला की किरणों ने भारतीय कल्पना की एक चिरन्तन रमणीय मूर्ति को ऐसी नवता प्रदान की है, जिसे देखकर कालिदास के इन शब्दों को प्रतिध्वनित करने के लोभ का संवरण नहीं किया जा सकता, ‘दृष्टा सर्वांगसुन्दरी’।”

डा० हरिवंश राय ‘बच्चन’—

“‘उर्वशी’ बोली हिन्दी कविता की श्रवण जिस चरम बिन्दु को छू सकती थी, उसे ‘उर्वशी’ ने छू लिया और ‘न भूतो’ मैं निःसकोच कहना चाहूँगा।”

श्री भगवती चरण वर्मा—

“आज के युग में इतना सुन्दर, उदात्त हृदयग्राही काव्य लिखा जा सकता है, इसे देखकर मैं चकित-सा हूँ। हिन्दी के ही नहीं, वरन् विश्व के महाकाव्यों में ‘उर्वशी’ का एक विशिष्ट और अद्वितीय स्थान है।”

श्री नरेन्द्र शर्मा—

✓ “उर्वशी आधुनिक काव्य के परिवार में एक उज्ज्वल कुलदीपक के रूप के अभिनन्दनीय है।”

श्री सुमित्रानन्दन पन्त—

✓ “मेरी तो निश्चित धारणा है कि खड़ी बोली में इतनी सर्वांगपूर्ण काव्य-सृष्टि पहले नहीं हुई थी।”

श्री शिवपूजन सहाय—

✓ “वास्तव में यह काव्य (उर्वशी) राष्ट्रभाषा हिन्दी का ‘अभिज्ञान शाकुन्तल’ है।”

आजकल (दिल्ली)—

‘उर्वशी’ दिनकर की रचनाओं में सर्वश्रेष्ठ समझी जायेगी। यह कवि के अन्तर्जगत के निगूढ़ चिन्तन के मन्थन से निकला हुआ नवनीत है। न जाने, कितना अध्ययन-मनन उसमें मुखर हुआ है। ‘उर्वशी’ प्रौढ़, किन्तु सुकुमार रचना है।”

नवभारत टाइम्स (दिल्ली)—

“स्वाधीनता के बाद की केवल हिन्दी कविता में ही नहीं, बल्कि, भारतीय काव्य-साहित्य में दिनकर का यह ‘उर्वशी’ काव्य एक सीमा-चिह्न है, एक असाधारण रचना है।”

साप्ताहिक हिन्दुस्तान (नई दिल्ली)—

✓ “उर्वशी का प्रकाशन हिन्दी-साहित्य के इतिहास में असाधारण घटना मानी जायेगी। खड़ी बोली काव्य के इतिहास में ऐसी घटना कामायनी के प्रकाशन पर घटी थी, सन् १९३७ ई० में। उसके ३४ वर्ष बाद यह घटना फिर घटी है।”

सरस्वती, इलाहाबाद—

“जो लोग चिन्तनशील काव्य के प्रेमी एवं सूक्ष्म अनुभूति के रसज्ञ हैं, वे इस काव्य पर भ्रूम उठेंगे।

हिन्दी का सौभाग्य है कि उसके एक प्रौढ़ कवि ने इतने सुन्दर और सुचिन्तित काव्य की रचना की है।”

आज, वाराणसी—

“कवि दिनकर द्वारा विरचित यह शृंगार-काव्य एक महान् कला-कृति है। हिन्दी में ऐसा महाकाव्य बहुत दिनों के बाद देखने को मिला है।”

नई धारा, पटना—

“इसमें कोई सन्देह नहीं कि ‘उर्वशी’ की रचना का बौद्धिक और हादिक धरा-तल अत्यन्त ही निम्नावस्था की स्थिति पर अवस्थित है। उसकी ऊँचाई आकाश का और गहराई पाताल का स्पर्श करती है। ‘उर्वशी’ का तीसरा अंक विश्व के किसी भी सौन्दर्य-साहित्य की चित्रांकन चुनौती को स्वीकार कर सकता है।”

योगी, पटना—

“राष्ट्रीय जागरण के युग का कारण कवि ‘उर्वशी’ में रस-सिद्ध कवित्व के चूड़ान्त शिखर पर पहुँच गया है, इसमें सन्देह नहीं है।

विगत तीन सौ वर्षों में रचित हिन्दी-काव्यों में ‘उर्वशी’ काव्य श्रेष्ठ पद का अधिकारी है।”

आर्षवित्त, पटना—

“दिनकर जी ने अनुभूति की भाषा में काम के आध्यात्मिक रूप को चित्रित करके, सचमुच ही, भारतीय काव्य-शृङ्खला में सुवर्ण की एक नई कड़ी जोड़ दी। इस नये आयाम के प्रकट होने से ‘उर्वशी’ का स्थान, सहज ही, विश्व-काव्य के उच्चतम शिखर पर पहुँच जाता है।”

उत्तर बिहार, पटना—

“दिनकर जी के ‘उर्वशी’ काव्य का प्रकाशन आधुनिक हिन्दी-साहित्य की एक अद्भुत घटना है। प्रसाद जी की ‘कामायनी’ के पश्चात्, पिछले अनेक वर्षों में, इतनी चमत्कारी तथा संश्लिष्ट कोई भी रचना हिन्दी में प्रकाशित नहीं हुई, जिसकी तुलना ‘उर्वशी’ से की जा सके।”

विश्वमित्र, कलकत्ता—

“...‘उर्वशी’ का प्रकाशन रसिकों में उत्साह और आशा जाग्रत करता है।”

ज्ञानोदय, कलकत्ता—

“उर्वशी वर्तमान युग की अद्भुत उपलब्धि है काव्य-जगत् में। यह कवि की सिद्धि-साधना का पुण्य-फल है, काव्य-संसार का शिरोमूषण है। रस और साधना के समन्वय से समुद्भूत इस काव्य को एक शब्द में ‘लोकोत्तर’ ही कहा जा सकता है।”

पूर्व ज्योति, गोहाटी—

“उर्वशी का यह रूप हिन्दी की अक्षुण्ण निधि तो है ही, कालान्तर में, यह विश्व का भी कंठहार बनेगा।”

जागृति, चण्डीगढ़—

“‘उर्वशी’ महाकाव्य की रचना करके दिनकर जी ने हिन्दी-साहित्य की हो नही विश्व-साहित्य की समृद्धि में महत्वपूर्ण योग दिया है। सम्पूर्ण पुस्तक में काव्य-वैभव तथा भावों के उत्कर्ष अपने सर्वांगीण सौन्दर्य के साथ चरम-बिन्दु पर पहुँच गए हैं। भावों के अनुरूप छन्द और विचारों के अनुरूप शब्दों का चयन दिनकर जी के समाधिस्थ चित्त को ध्वनित करता है।”

राष्ट्रदूत, जयपुर—

“‘उर्वशी’ की अप्रतिम विशेषता यह है कि यह दिनकरजी की श्रेष्ठतम कृतियों में भी श्रेष्ठ है। ‘उर्वशी’ हिन्दी में एक ऐसे प्रणय-काव्य के रूप में प्रकट हुई है जिसका जोड़ हिन्दी में तो क्या, संसार की अन्य भाषाओं में भी, शायद ही मिले। ‘उर्वशी’ भारत के समग्र काव्य-साहित्य के भीतर अमर कृतियों में स्थान ग्रहण करेगी।”

नई दुनिया, जबलपुर—

“हिन्दी काव्य-जगत् में जयशंकर प्रसाद की कामायनी के पश्चात् दिनकर की ‘उर्वशी’ का अवतरण हिन्दी के चिन्मय विकास में एक युगान्तकारिणी घटना है।”

नवनीत, बम्बई—

“यदि कभी विश्व के सर्वश्रेष्ठ काव्य-ग्रन्थों की सूची में हिन्दी को अपने सर्व-श्रेष्ठ ग्रन्थों की सूची भेजने का अवसर प्राप्त हुआ तो उस सूची में ‘उर्वशी’ काव्य का नाम अत्यन्त उज्ज्वल अक्षरों में लिखा जायेगा।”

नवभारत, टाइम्स, बम्बई—

“इसमें विराट् की कल्पना है, आधुनिक भाव-बोध का गरिमायुग्म रूप है एवं कथ्य और शिल्प का कलात्मक उदाहरण है। आधुनिक हिन्दी कविता में यह नया ‘क्लासिक’ काव्य है।”

युग प्रभात, कालीकट—

“शिल्प की चहल में सनी हुई हिन्दी-काव्य-धारा के अतिरिक्त से बचने में दिनकर की सजगता का नवीनतम प्रमाण है प्रस्तुत नाटक।

मादा और नर के ऐन्द्रिय बन्धन के पार, नर-नारी को मिलन के सूक्ष्म वाय-वोय लोक का वैज्ञानिक भित्ति पर उद्घाटन उर्वशी का भाव-पक्ष है। ‘उर्वशी’ का

तीसरा सर्ग नर के भीतर नर और नारी के भीतर नारी का प्रणय-तीर्थ कहा जा सकता है।”

दि हिन्दुस्तान टाइम्स, नई दिल्ली—

“What Dinkar says about good poetry in his prose introduction to ‘Urvashi’, applies to his own work—after a certain stage, the physical in poetry crosses over into the metaphysical domain”.

दि टाइम्स आफ इण्डिया, दिल्ली—

“Dinkar’s work is an example of Kamadhyatma showing, how intense erotic fervour can lead to emancipation and sense-knowledge, when exalted, can transcend everything sensual. His Urvashi is a notable contribution to the realm of both, poetry and philosophy. It deserves to be translated in other Indian languages”.

दि सोशलिस्ट काँग्रेसमेन, नई दिल्ली—

“There have been great poems which enlogised the spiritual aspects of love. There have been great poets in India who sang blissfully of the material aspects of love. Dinkar’s is, perhaps, the first attempt to throw a bridge between matter and spirit and connect the material aspect of love with the regions which pertain to the soul’.

“Urvashi is a nature work. It is, perhaps, the biggest success of a poet, who had already many successes in life. The book does credit to the poet and the language in which it is composed”.

दि सर्चलाइट ; पटना—

“It is both a summons and a challenge to those over-intellectualised poets of to-day who are constantly in the grip of a debased sexuality.

The Publication of Urvashi has given a “gem of pure water to Reshtrabhaseha Hindi”.

दि एम० पी० क्रॉनीकल, भोपाल—

“Not since the days of Tulsidas had mind and heart, united to bring such a gift to Hindi poetry. The publication of Urvashi marks an important point in the rise of modern Hindi literature”.

दि सन्डे स्टैण्डर्ड, बम्बई—

“Urvashi is, undoubtedly, a major poetic achievement. Dinkar took eight years to recreate this theme of timeless appeal. In doing so he has, at many a place, been able to create an impression of ‘timelessness’ itself”.

हमारे गौरवमय प्रकाशन

पौराणिक आख्यानों का विकासात्मक अध्ययन

डा० उमापति राय चन्देल

हिन्दी काव्य में पौराणिक आख्यानों की परम्परा बहुत प्राचीन काल से चली आती हुई शृंखला की एक कड़ी है। अधिकांश हिन्दी प्रबन्ध-काव्य के आधार पौराणिक आख्यान हैं। मध्यकालीन हिन्दी साहित्य तो एक प्रकार से पुराणों का उपजीव्य ही है। आधुनिक हिन्दी साहित्य में भी पौराणिक आख्यानों तथा पात्रों को नयी अर्थ-वत्ता और भंगिमा प्रदान कर उनका प्रतीकात्मक या व्यंग्यात्मक प्रयोग किया जा रहा है। पौराणिक आख्यानों का, चाहे अंतर्कथाओं के रूप में उपयोग हुआ हो, या प्रतीकात्मक, दार्ष्टान्तिक, आलंकारिक या उल्लेखात्मक रूप में, उनसे परिचित होना किसी भी साहित्य-अध्येता के लिए आवश्यक है।

पौराणिक आख्यानों के विशाल भण्डार में से, प्रस्तुत ग्रंथ में केवल ५५ आख्यानों का विकास-क्रम सन्धान करने का प्रयास किया गया है जिनका उपयोग किसी न किसी रूप में मध्ययुगीन हिन्दी सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों में हो चुका है।

आगरा विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए डॉ० उमापति राय चन्देल द्वारा प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध 'मध्ययुगीन हिन्दी सूफी प्रेमाख्यानक काव्य में पौराणिक आख्यान' का उत्तराद्ध है यह ग्रन्थ। अपने-आप में पूर्ण और स्वतन्त्र। हिन्दी साहित्य के अध्यापकों एवं विद्यार्थियों के लिए अपरिहार्य।

मूल्य ३०.००

भारतीय देवभावना और मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य

डा० श्रुतिकांत

भारतीय देव भावना अति प्राचीन काल से अद्यावधि जीवन का प्ररणा-स्रोत रही है। वह पतित-पावनी भागीरथी के समान अनेक विचारधाराओं को अपने में समेटती हुई, उदरस्थ करती हुई निरन्तर प्रवाहमान रही है। उसमें भारत की सांस्कृतिक रेतना मुखरित हुई है। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में इसी भारतीय देव-भावना का मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक विश्लेषण किया गया है। साथ ही हिन्दी में पहली बार प्रागैतिहासिक काल से अब तक उनका क्रमबद्ध विकास और दूसरे देशों की देव-भावना का तुलनात्मक एवं निष्पक्ष अध्ययन भी इस शोध-प्रबन्ध में हुआ है।

मूल्य ४५.००

द्विवेदी-युगीन काव्य पर आर्य समाज का प्रभाव

भक्तसत्वाजी

प्रस्तुत लघु शोध-ग्रन्थ में आर्यसमाज के स्वरूप, विचार, कार्य एवं उद्देश्य का विवेचन तथा उसकी विचारधारा का द्विवेदी-युगीन काव्य पर और निरपेक्ष होकर सप्रमाण प्रकाश-निक्षेप है। द्विवेदी-युगीन काव्य के सूक्ष्म अध्ययन करने वाले पाठकों तथा भावी अनुसंधाताओं के साथ ही आर्यसमाजियों के लिए भी पठनीय एवं संग्रहणीय ग्रन्थ।

मूल्य : २५.००

आधुनिक हिन्दी कविता में दुरूहता

डा० एस० वसन्ता

आधुनिक हिन्दी कविता परिवर्तित परिवेश एवं भावबोध के नवीन स्तर के कारण साधारणीकरण एवं सम्प्रेषणीयता के प्राचीन सिद्धान्तों का निषेध करती हुई एक विशिष्ट सर्जनात्मक उपलब्धि के रूप में सामने आयी है। काव्य के प्राचीन मूल्यों एवं प्रतिमानों के निकष पर नए भाव-बोध की परीक्षा करने पर साधारणीकरण अथवा सम्प्रेषणीयता के प्रकृतिगत बदलाव को न देख पाने के कारण आलोचक प्रायः उसे दुरूह अथवा दुर्बोध मानते रहे हैं। सजग अध्येता एवं जागरूक सुधी समीक्षक सुश्री डॉ० एस० वसन्ता का 'आधुनिक हिन्दी कविता में दुरूहता' नामक यह शोध-प्रबन्ध न केवल सम्प्रेषणीयता की मूल प्रकृति का उद्घाटन करता है अपितु, दुरूहता के विविध पहलुओं तथा सामाजिक सांस्कृतिक एवं साहित्यिक परिवर्तन के परिप्रेक्ष्य में भावबोध के नवीन स्तरों का भी वस्तुनिष्ठ विवेचन प्रस्तुत करता है। इस कृति में दुरूहता के सामाजिक, मनोवैज्ञानिक तथा आध्यात्मिक कारण, दुरूहता के विविध रूप दुरूहता की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, दुरूहता के भाषिक एवं संवेदनागत प्रकार इत्यादि का वैदुष्यपूर्ण अध्ययन प्रस्तुत किया है। आधुनिक हिन्दी कविता की भाव और भाषा के स्तर पर मनोवैज्ञानिक, भाषा-वैज्ञानिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक व्याख्या का एक नवीन आयाम इस कृति से उद्घाटित होता है। आधुनिक हिन्दी कविता की मूल-प्रकृति को समझने के लिए इस ग्रन्थ का अध्ययन आवश्यक है।

मूल्य ४०.००

मुद्रक : रमेश कम्पोजिंग एजेंसी द्वारा

नोपाल प्रिंटिंग प्रेस, में मुद्रित दिल्ली-११००३२

